ज्ञानीगुरु
निगमानन्द

सारस्वत ग्रन्थावली—संख्या ३

परिव्राजकाचार्य परमहंस
श्रीमत्स्वामी निगमानन्द सरस्वती
प्रणीत

ज्ञानी गुरु

अथवा

ज्ञान और साधना-पद्धति

अनाद्यन्तावभासात्मा परमात्मेह विद्यते।
इत्येको निश्चयः स्फारः सम्यग्ज्ञानं विदुर्बुधाः।।
—योगवाशिष्ठ, उपशम प्र०, ७९।२

अनुवादक
स्वामी ब्रह्मेशानन्द सरस्वती, वेदान्ताचार्य
श्री विजय कुमार सिन्हा, एम. ए. बी. एड्.,
शिक्षक, हेयर स्कूल, कोलकाता

[दक्षिणा—120.00

प्रकाशक
श्रीमत् स्वामी ज्योतिर्मयानन्द सरस्वती
आसाम-बङ्गीय सारस्वत मठ
पो:-कोकिलामुख
जिला-जोरहाट, आसाम
पिन-७८५१०८

मुद्राकर
श्रीमत् ओङ्कारचैतन्य ब्रह्मचारी
योगमाया यन्त्र
आसाम-बङ्गीय सारस्वत मठ
प्रचार विभाग, राजा रामचान्द घाट रोड
पो:-पानिहाटी, कोलकाता-७००११४

प्रथम बंगला प्रकाशन-1965 वि०सं०, 1315 बङ्गाब्द, 1908 ई०, 1830 शकाब्द
प्रथम हिन्दी संस्करण-2019 वि०सं०, 1369 बङ्गाब्द, 1962 ई०, 1884 शकाब्द
द्वितीय हिन्दी संस्करण-2064 वि०सं०, 1414 बङ्गाब्द, 2007 ई०, 1929 शकाब्द
तृतीय हिन्दी संस्करण-2070 वि०सं०, 1420 बङ्गाब्द, 2013 ई०, 1935 शकाब्द

: प्राप्तिस्थान :

१। आसाम-बङ्गीय सारस्वत मठ, पो:-कोकिलामुख, जोरहाट, आसाम, पिन-७८५१०८, फोन-(०३७६) २९३२२१९।
२। आसाम-बङ्गीय सारस्वत मठ, प्रचार विभाग, राजा रामचान्द घाट रोड, पो:-पानिहाटी, कोलकाता-७००११४, Fax-(०३३) २५६३५४८६, फोन-(०३३) २५२३१५८१, E-Mail-saraswatmath@gmail.com Web Site : www.absmath.org
३। सारस्वत आश्रम, गौतम नगर, भुवनेश्वर, ओड़िशा, पिन-७५१०१४।
४। श्रीश्रीनिगमानन्द सारस्वत सेवाश्रम, २ नं गौशाला नगर (राधानिवास), पो:-वृन्दावन, जिला-मथुरा, उ: प्र:, पिन-२८११२१, मो:-८७५५१२५५७०।
५। श्रीश्रीनिगमानन्द साधनपीठ, कालापहाड़, गोपीनाथ नगर, गौहाटी, आसाम, पिन-७८१०१६, फोन-(०३६१) २४७८२८२।
६। सर्वोदय बुक स्टाल, हावड़ा स्टेशन (ओल्ड कम्प्लेक्स), हावड़ा।
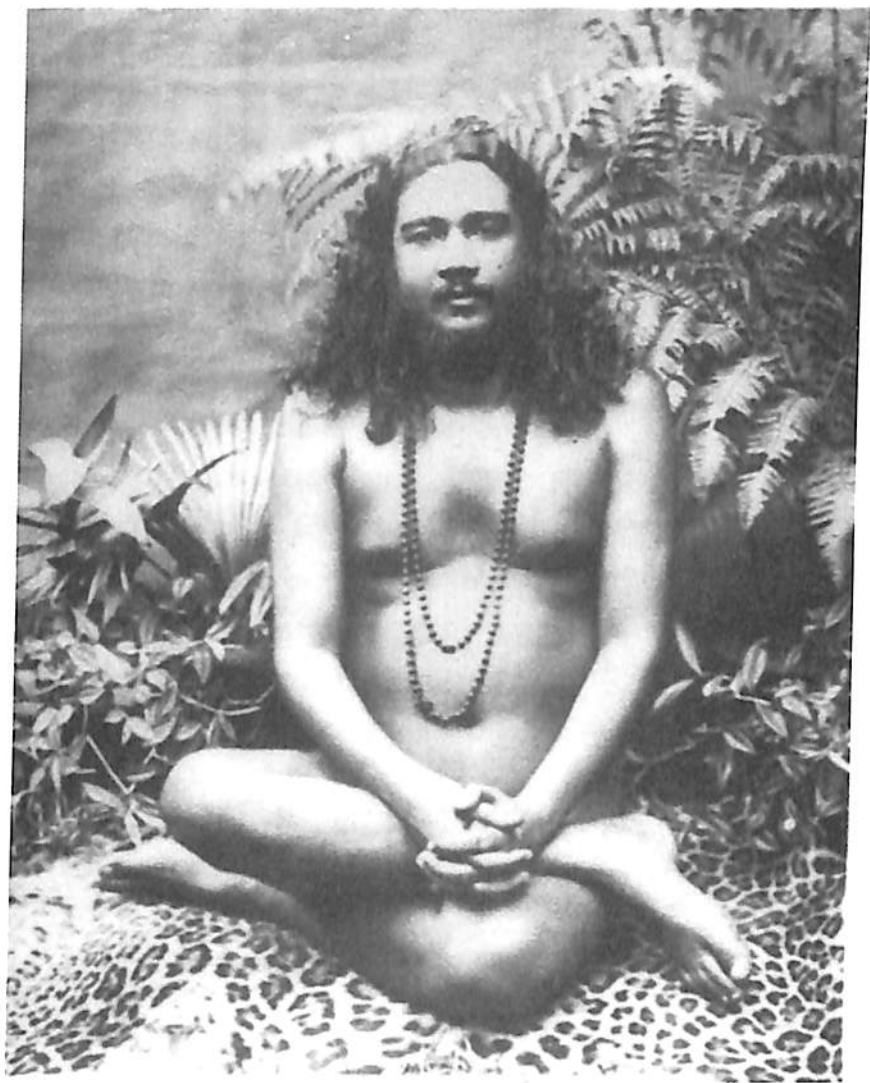
श्रीमत् स्वामी निगमानन्द परमहंसदेव

ॐ तत् सत्

उत्सर्गपत्र

पूज्यपाद पितृदेव को

देव !

नितान्त अकृतज्ञ के समान आपलोगों का परित्याग कर जिस कठोर पथ का मैंने अवलम्बन किया है, उसमें साफल्यलाभ आपलोगों के आशीर्वाद पर सम्पूर्णरूप से निर्भर करता है। क्योंकि शास्त्रों में है—

पिता स्वर्गः पिता धर्मः पिता हि परमं तपः।
पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः॥*

पुत्र सर्वदोषों के दोषी होने पर भी पिता के निकट क्षमार्ह होता है। तभी आपके आशीर्वाद से जगत्पिता मुझे मङ्गलपथ पर किस प्रकार ले जा रहे हैं, उसी के निदर्शनस्वरूप इस पुस्तक को आपके चरणों में निवेदन किया।

शास्त्रों में पढ़ा है कि पुत्र के पैदा होनेपर ही मनुष्य पितृऋण से मुक्त होता है। किन्तु मैं तो अभी अध्यात्म-

---

* यह श्लोक महाभारत, शान्तिपर्व में निम्न प्रकार है।—अनुवादक

पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः।
पितरि प्रीतिमापन्ने सर्वाः प्रीयन्ति देवताः॥ २६०।२१

जगत् का संसारी हूँ—"साधना" मेरी पत्नी हैं। उनके गर्भ में "ज्ञान" नामक पुत्र और "भक्ति" नाम्नी कन्या है, जो मैंने लाभ किये हैं। कन्या को तो आजीवन हृदय से लगाकर रखूँगा। पुत्र को आपके चरणों में समर्पित कर आज पितृऋण से मुक्त हुआ। जब हतभाग्य सन्तान की स्मृति जाग्रत होगी अथवा सांसारिक अशान्ति हृदय पर अधिकार करेगी तब इस पौत्र को निकट बुलाएँ, तो इहकाल में पराशान्ति एवं परकाल में परमागति लाभ कर सकेंगे। मेरी प्रार्थना है कि बाल्यकाल के समान चिरकाल ही मेरे प्रति मङ्गलदृष्टि रखें।

आपका ज्येष्ठ पुत्र

श्रीनलिनीकान्त

ग्रन्थकार का वक्तव्य

नमः परमहंसाय सच्चिदानन्दमूर्तये।
भक्ताभीष्टप्रदायाशु साक्षाच्चैतन्यरूपिणे॥

शिरस्थित शुक्लाब्ज में हंसासन पर उपविष्ट नित्याराध्य श्रीश्रीसच्चिदानन्द गुरुदेव के पदपङ्कजों में प्रणतिपुरःसर तदीय कृपालब्ध, ज्ञानगम्य "ज्ञानी गुरु" या "ज्ञान और साधना-पद्धति" को आज साधारण पाठकवर्ग के अमल करकमलों में विमलानन्द से अर्पित किया।

अपनी पठद्दशा में जब मैं छात्रवृत्ति (scholarship) पाठ का अध्ययन करता था, तो उस समय प्राकृतिक भूगोल या भूविद्यापाठ से ग्रहण-भूमिकम्प प्रभृति के कारण अवगत होकर प्राणों मानों एक दारुण दुःख के बोझ से दब गयें। वह दुःख मैंने किसी को नहीं बताया—कोई जान भी न सका। समय-समयपर लगता था कि मानों ग्रहण-भूमिकम्प के समान हिन्दुओं की सारी बातें ही "दादीमाँ की कहानी" हैं। इसके पहले पाड़ा-प्रतिवासियों के निकट धर्मश्रवण और विधवा बुआ माताओं के वटवृक्ष के नीचे पढ़े जानेवाले फटे रामायण-महाभारत से अलग कोई और धर्मशास्त्र के अस्तित्व से मैं परिचित ही न था। किन्तु तभी से मन में धर्म और साधनारहस्य की एक अनुसन्धित्सा-वृत्ति जग पड़ी। मैंने अति गोपन में—उदासी की तरह नीरव में धर्म-उपदेश श्रवण और शास्त्रपाठ में मनोनिवेश किया। तब स्वधर्म में (प्रवृत्तिमार्ग में) विशेष आस्था नहीं रहने पर भी हिन्दुओं का "शास्त्र" आषाढ़ का गल्प एवं "धर्म" बालकों का कठपुतली-खेल है, यह बात मन में लाने से कष्ट होता था। कुसंस्कारापन्न असभ्य हिन्दुवंश में जन्मा हूँ, यह बात भी मन में स्थान न पा सकी। यह शायद जातीय अभिमान हो सकता है, किन्तु परमाराध्य गुरुदेव ने कहा है, "यही मेरे पूर्व जन्म का संस्कार है।"

उसके बाद कितना दीर्घ समय बीत चुका है, इस हृदय में कितनी आशाएँ कितना उद्यम लेकर कितनी ही उछल-कूद की, दासत्वशृङ्खल गले पहन कूद-फाँद में कितना ही रङ्ग-भङ्ग कर डाला। महामाया के सम्मोहन मन्त्र से मुग्ध होकर सांसारिक शत-सहस्र घात-प्रतिघात सहन करके भी मैं निद्रित था। सहसा काल के कराल दंष्ट्राघात से सुख का स्वप्न टूट गया—चारों ओर अन्धेरा देखा। दूसरा कोई होता तो पागल हो जाता, मैंने प्रकृति-देवी के युद्ध में पराजित होकर संसार छोड़ भागा। निभृत वन-जङ्गलों में, पहाड़-पर्वतों में, साधु-संन्यासियों के अड्डों पर घूमते-घूमते एक दिन किसी शुभलग्न में परिव्राजकाचार्य परमहंस श्रीमत् स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती ने गुरुरूप में दिखाई देकर हृदय में अमृत ढाल दिया। मैं कृतार्थ हुआ। उनकी कृपा से आर्य-शास्त्रों के जटिल रहस्यों का उद्‌भेद करने की शिक्षा पायी। बाल्यकाल की वही अनुसन्धित्सावृत्ति जग उठी। उसके परिणामस्वरूप जान सका, पृथ्वी त्रिकोण, चतुष्कोण या समतल है प्रभृति अशिक्षित व्यक्तियों के मुख से जो सुना जाता है, वे हिन्दुशास्त्रों की बातें नहीं हैं; कारण हिन्दुशास्त्रों में है—

कपित्थफलवद्विश्वं दक्षिणोत्तरयोः समम्।

—गोलाध्याय

जो हिन्दू सूर्यदेव को रथ पर आरोहण करवाकर उदयाचल से अस्ताचल ले जाते हैं, वे भी हिन्दुशास्त्र के प्रकृत तथ्य को नहीं जानते। शास्त्र में स्पष्टाक्षरों में लिखित है—

चला पृथ्वी स्थिरा भाति भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति।

—गोलाध्याय

भास्कराचार्य के गोलाध्याय ग्रन्थ में एक और श्लोक पाठ कर विस्मय और आनन्द से हृदय पूर्ण हुआ। जिस माध्याकर्षण का तत्त्व आविष्कार कर न्यूटन ने पाश्चात्य जगत् में युगान्तर उपस्थित कर दिया था एवं अंग्रेजशिष्य भारतवासियों में अनेकों ने ही उस गौरव में गौरव का अनुभव कर ऊर्ध्वपुच्छ

से पूर्वपुरुषों को अस्वाभाविक दोषों के दोषी स्थिर किया था, उस तत्त्व से हिन्दुऋषिगण बहुत पहले अवगत हो चुके थे। यथा—

आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत् खस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत् पततीति भाति समे समन्तात् क पतत्वियं खे॥

तभी से मैंने हिन्दुऋषिगणों की गुरु के समान हृदय से पूजा करनी शुरू की। उनके प्रचारित शास्त्रों को भक्ति-विश्वास का कारण समझ मैंने उनमें विशेषरूप से मनोनिवेश किया। तभी आज हिन्दुशास्त्रों के अध्ययन से, गुरु के उपदेश और कार्यकारण की प्रत्यक्षता फल से हिन्दुशास्त्र और धर्म के सम्बन्ध में जो सारे सत्य मेरे हृदय में प्रतिभात हुए हैं, उन्हीं में से कुछ मैंने इस ग्रन्थ में व्यक्त करने की चेष्टा की है। भरोसा है कि ये सारे सत्य अन्यान्य साधुजनों का हृदय भी स्पर्श करेंगे।

मैंने जब "योगीगुरु" ग्रन्थ का प्रकाशन किया था, तब अनेकों ने उपहास कर कहा था, "इस नाटक-नावेल से प्लावित देश में, बाई-खेमटा थियेटरों के युग में उदासियों का गान कौन सुनेगा ?" किन्तु ग्रन्थ के प्रकाशित होने के थोड़े दिनों के बीच ही मेरा यह विश्वास दूरीभूत हुआ। मैं विशेषरूप से समझ सका हूँ कि इस हिन्दुओं के देश में अभी भी असंख्य हिन्दुओं की हिन्दुशास्त्रों के प्रति आस्था है, हिन्दुधर्म में विश्वास और भजन-साधन में प्रवृत्ति है। भारत में सर्वत्र—यहाँ तक कि सुदूर सिंहल, ब्रह्मदेश प्रभृति से भी असंख्य हिन्दू "योगीगुरु" का पाठ कर पत्रद्वारा अपने जिज्ञास्य विषय को जान ले रहे हैं। अनेकों ने मेरे साथ मुलाकात कर मुझे उत्साहित किया है। और भी खुशी की बात यह है कि उनमें से अधिकांश व्यक्ति भद्रवंशसम्भूत एवं विश्वविद्यालय के उच्चशिक्षाप्राप्त हैं। उन्हीं के उत्साह से प्रोत्साहित होकर इस ग्रन्थ के प्रकाशन में साहसी हुआ हूँ। फिर भी अनेक हिंसापरायण बैल-बुद्धिविशिष्ट व्यक्ति उद्देश्य नहीं समझ पाकर तरह-तरह की बातें कह सकते हैं, किन्तु इस प्रकार के व्यक्तियों की प्रलापोक्ति विचारणीय नहीं है। कारण—

हस्ती चलै बाजार में कुत्ता भूँके हजार।
साधुओं का दुर्भाव नहीं ज्यों निन्दे संसार।।

इस ग्रन्थ में उच्चाङ्ग की कुछ साधना-पद्धतियाँ प्रदर्शित हुई हैं। मैं विशेषरूप से जानता हूँ कि मौखिक उपदेश और हाथों-हाथ साधना-कौशल दिखलाये बिना कोई साधक साधना में सक्षम नहीं हो सकता। अतएव अनावश्यक साधनारहस्य साधारणों में प्रकट न कर कुछ साधना-तत्त्वों को साधारणरूप में लिपिबद्ध कर दिया है। सुकृतिमान् साधकगणों की आकाङ्क्षा उद्रेक करना ही मेरा प्रधान उद्देश्य है। जन्म-जन्मान्तरों के कर्म-गुण से यदि किसी की भी ग्रन्थोक्त किसी भी साधना में प्रवृत्ति होती है, तो मेरे पास आने पर मैं उसे सविशेषरूप से बताने को बाध्य हूँ।*

इस ग्रन्थ में सामान्य लोगों के आचरित धर्म का गूढ़तत्त्व एवं उच्च अधिकारी के लिए ब्रह्म-विचार, ब्रह्मज्ञानलाभ और उसकी साधना प्रभृतियाँ आर्यशास्त्रों के जटिल तत्त्व और महान् भाव यथासाध्य सरलरूप से और सरल भाषा में व्यक्त करने की मैंने चेष्टा की है। किन्तु यह बात स्वीकार्य है कि आर्यशास्त्रोक्त महान् धर्मतत्त्वों का विश्लेषण करना मेरे जैसे क्षुद्रतम व्यक्ति के लिए साध्यातीत है। कहाँ तक कृतकार्य हुआ हूँ, वह गुणग्राही साधकों का विवेच्य है। और भी एक बात, इस पथ के पथिक के अतिरिक्त दूसरे के लिए इन तत्त्वों को हृदयङ्गम करना कठिन है। भगवान् की कृपा ही इन्हें समझने का प्रकृष्ट उपाय है।

इस ग्रन्थ में मैंने देवलोक या देवता की आध्यात्मिक व्याख्या की है, इससे कोई ऐसा न समझें, कि मैंने प्रकारान्तर से निराकारवादियों का पक्ष

---

* पूज्यपाद ग्रन्थकार ने स्थूल का कार्य समाप्त कर विगत १३४२ बङ्गाब्द (29th November, 1935) के १३वें अग्रहायण शुक्रवार में ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त किया है।
—प्रकाशक

समर्थनपूर्वक साकारवाद को उड़ा दिया है। मैं स्थूल-सूक्ष्म, सान्त-अनन्त और साकार-निराकार प्रभृति भगवान् के सभी भावों में ही विश्वास करता हूँ। मगर यह ग्रन्थ ज्ञानशास्त्र है। ज्ञानी के मतानुसार प्रत्यक्षदृष्ट जीवजगत् जब मिथ्या ही है, तो जड़जगत् की सृष्टि-स्थिति-लयकारी सूक्ष्म अदृष्ट शक्तिरूपी देव-देवियाँ जो कल्पित रूपक हैं, इसमें और क्या सन्देह है ?

अन्त में कृतज्ञचित्त से यह बतला रहा हूँ कि शास्त्रज्ञानी पण्डितगणों के विश्वास के लिए इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने में मैंने वेद, उपनिषद्, दर्शन, संहिता, गीता, तन्त्र, पुराण प्रभृति आर्यशास्त्रों से प्रमाण संग्रह किये हैं। जिन सारे पाश्चात्य पण्डितगणों के मत मैंने उद्धृत किये हैं, उनका अनुवाद नहीं दिया गया है। क्योंकि, अंग्रेजी-अनभिज्ञ पाठक अगर उन अंशों को छोड़कर भी पढ़ें, तो वे कोई अभाव बोध नहीं करेंगे। अब मरालधर्मानुसरणकारी पाठकगण अगर दोषांश का परित्याग कर स्वकार्य में व्रती हों, तो श्रम सफल समझूँगा। किमधिकविस्तरेण—

दुर्गापुर, शान्ति-आश्रम
२रा भाद्र, जन्माष्टमी
१३१५ बङ्गाब्द (१९०८ ई०)

भक्तपदारविन्दभिक्षु
दीन—**निगमानन्द**

द्वितीय हिन्दी संस्करण में
प्रकाशक का वक्तव्य

सर्वश्रुतिशिरोरत्नविराजितपदाम्बुजम्।
वेदान्ताम्बुजसूर्याय तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

परम-मङ्गलमय श्रीगुरुदेव की असीम कृपा से, उन्हीं के स्वहस्तलिखित "ज्ञानी गुरु" या "ज्ञान और साधना-पद्धति" ग्रन्थ की राष्ट्रभाषा में द्वितीय संस्करण का प्रकाशन कार्य आज सुसम्पन्न हुआ। श्रीमत् स्वामी निगमानन्द परमहंस देव विरचित इस "ज्ञानी गुरु" ग्रन्थ के विषय में हम पाठकों की अवगति के लिए दो-एक शब्दों में अपना वक्तव्य रखते हैं।

आपके चार गुरु थे, उन चारों से आपने क्रमशः तन्त्र, ज्ञान, योग और प्रेम की साधना में सिद्धिलाभ कर, अपरोक्ष ब्रह्मसाक्षात्कार कर स्वीय साधन-लब्ध विषय-वस्तुओं को चार ग्रन्थों में लिपिबद्ध किया, जिनकी आज इस भारतवर्ष में तथा बांग्लादेश में भी तान्त्रिक गुरु, ज्ञानी गुरु, योगी गुरु और प्रेमिक गुरु ग्रन्थ के नाम से बड़ी ही प्रसिद्धि है। इन कई ग्रन्थों के प्रकाशन से साधक और भक्तों का बड़ा ही उपकार साधित हुआ है और हो भी रहा है। इतना ही नहीं, इनके अतिरिक्त आपने और भी दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है, वे हैं—ब्रह्मचर्य-साधन और निगम-सूत्र। सिद्ध-महापुरुषों की जीव-जगत् के प्रति जो अहैतुकी कृपा या दान है, उसकी तो कोई तुलना नहीं हो सकती, परन्तु फिर भी इन कई कृतियों में से अतिशय विलक्षण कृति है—यह "ज्ञानी गुरु" ग्रन्थ, क्योंकि इसमें वैदिक सनातन धर्मावलम्बी साधारण लोगों के आचरित धर्म के मूल में जो निगूढ-तत्त्व छिपा हुआ है, यहाँ तक कि निस्त्रैगुण्य साधक के निराकार ब्रह्म-उपासना पर्यन्त, आर्यशास्त्रों का जटिल तत्त्व तथा बहु उच्चाङ्ग की साधनाओं का अति सरल ढंग से प्रतिपादन किया गया है। चतुर्विध साधना में सिद्धिलाभ

कर, जब तात्कालिक भारतीय जन-समाज की ओर आप की नजर पड़ी तो ब्रह्मवित् होकर भी आप बहुत ही व्यथित हो पड़े। आर्य-सन्तान ने पाश्चात्य शिक्षा के वशवर्ती होकर अपनी धरोहर कितने युग-युग से आर्य ऋषि-मुनियों के प्रणीत शास्त्रों की उपेक्षा कर दी है, परिणामतः अपने सही रास्ते से भटक जा चुकी है। कुछ हिन्दू धर्मान्तर ग्रहण कर रहे हैं और दूसरों को भी प्ररोचित कर रहे हैं। कई लोग नित्य-प्रति स्वकपोलकल्पित नये नये मतवाद खड़ा कर रहे हैं। परिणामतः शान्ति के बदले अशान्ति और संघटन के बदले विघटन का कार्य दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। इसलिए इन सब से दुःखी होकर आपने मुख्य लक्ष्य बनाया कि किसी भी प्रकार से इस भूला हुआ, भटका हुआ अधःपतित मानव-समाज को आर्य ऋषि-मुनियों द्वारा प्रदर्शित मार्गपर पुनः प्रतिष्ठित करना होगा, उनके रचित शास्त्रों के प्रति दृढ़ विश्वास और आस्था स्थापित करना होगा। क्योंकि उन्हीं दुर्लभ रत्नाकर स्वरूप शास्त्र-महोदधि के स्वीय गुरूपदिष्ट साधन-मार्ग के अवलम्बन द्वारा मंथन कर आपने स्वयं अनुपम अपरिच्छिन्न अखण्ड-आनन्दरूप नवनीत का आस्वादन किया है। इसलिए जगद्वासियों को भी उसके पूर्ण आस्वादन का अनुसन्धान दिलाने के लिए आपने प्रमाण के रूप में सैकड़ों आर्य-शास्त्रों से सैद्धान्तिक श्लोकों को उक्त ग्रन्थ में उद्धृत किया है, साथ ही पाश्चात्य मनीषियों की सम्मति को भी प्रमाण के रूप में उपस्थापित किया है। ग्रन्थ में युक्तियाँ बड़ी मार्मिक, मधुर, और गम्भीर रूप में सन्निवेशित की गई हैं, इसलिए सचमुच देखा जाय तो इससे जगत् में अशेष कल्याण साधित हुआ है। कितने ही भूले-भटकों की घर वापसी सम्भव हो चुकी है, और आगे भी होती रहेगी। यह ग्रन्थ का पाठ कर बहुत से हिन्दू अपने धर्म के प्रति दृढ़ आस्था स्थापन किये हैं और कर भी रहे हैं ; क्योंकि, अब तक इसका सोलहवाँ बंगला संस्करण निकल चुका है। इसी तरह उत्कल-प्रदेश में कई स्थानों से इसका उड़िया संस्करण अव्याहत रहा है, परन्तु

राष्ट्रभाषा में इसका यह द्वितीय संस्करण तथा उसीका यह परिमार्जित रूप है। इसका हिन्दी अनुवाद स्वामी ब्रह्मेशानन्द सरस्वती, वेदान्ताचार्य तथा कोलकाता हेयर स्कूल के शिक्षक श्री विजय कुमार सिन्हा, एम. ए. बी. एड्. महाशय ने किया है। यह बात सही है कि अर्थ की भाषा सरल होनी चाहिए, परन्तु श्रीमत्परमहंस देव की लेखनी-निःसृत शब्दों को हटाकर उनके स्थान पर तत्सम, तद्भव शब्दों का प्रयोग करना सम्भव नहीं है। क्योंकि उससे भाव, गाम्भीर्य, माधुर्य आदि में विकृतियाँ होनी अवश्यम्भावी है। इन दोनों अनुवादकों ने उसके प्रति यथा सम्भव सावधानी बर्तते हुए अथक परिश्रम किया है। हाँ, स्थलविशेषों पर इसका जो अपवाद नहीं हुआ है, ऐसी बात नहीं, परन्तु कुछ शब्दों के बदलने से भी अर्थ और भावों में परिवर्तन नहीं हुआ है। तदुपरान्त आसाम-बङ्गीय सारस्वत मठ के अन्तेवासी ब्रह्मचारी योगेश चैतन्य ने नाना कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी इस ग्रन्थ के प्रूफ संशोधन आदि कार्य में भरसक प्रयत्न किया है और इनके साथ आदरणीय ब्रह्मचारी देदीप्य चैतन्य (प्रकाश आश्रम, जोधपुर, राजस्थान) ने भी प्रूफ संशोधन कार्य में सहायता प्रदान की है, इसलिए इस महत्कार्य का श्रेयः उन्हें अवश्य ही प्राप्त होगा। इसलिए हम उन परमकारुणिक श्रीगुरुदेव के श्रीचरणकमलों में इन सभी की अध्यात्म उन्नति की प्रार्थना करते हैं। अन्त में पाठक-महानुभावों से निवेदन है कि यथामति प्रयास के बावजूद यह दावा नहीं किया जा सकता कि हम पूर्णतया सफल हो पाये हैं। अतः कोई त्रुटियाँ परिलक्षित होने पर परवर्ती संस्करण में उनका संशोधन कर दिया जायेगा। इति।

आसाम-बङ्गीय सारस्वत मठ
कोकिलामुख, जोरहाट, आसाम
भक्तसम्मेलन १४१४ (ई० २००७)

श्रीगुरुचरणाश्रित
स्वामी ज्योतिर्मयानन्द सरस्वती

सूचीपत्र

प्रथम खण्ड—नानाकाण्ड

विषय	पृष्ठा	विषय	पृष्ठा
धर्म क्या है ?	१	हिन्दुधर्म का विशेषत्व	७९
धर्म की प्रयोजनीयता	४	गीता का प्राधान्य	८२
धर्म की सार्वभौमिकता	७	देहात्मवाद का खण्डन और आत्मा में प्रमाण	८५
हिन्दुधर्म	१०	द्वैताद्वैत-विचार	९२
अधिकारभेद	१७	कर्मफल और जन्मान्तरवाद	१०२
जातिभेद	२४	ईश्वर दयामय, तो पाप-प्रणोदक कौन ?	१०७
हिन्दुधर्म में विधि-निषेध	२८	ईश्वर-उपासना का प्रयोजन	११०
गुरु की प्रयोजनीयता	३६	कर्मयोग	११६
शास्त्रविचार	३९	ज्ञानयोग	११९
तन्त्र-पुराण	४१	भक्तियोग	१२१
सृष्टितत्त्व और देवता-रहस्य	४६	धर्म के सम्बन्ध में शिक्षितों का अभिमत	१२४
पूजापद्धति और इष्टनिष्ठा	५८	प्रतिपाद्य विषय	१३७
एकेश्वरवाद और कुसंस्कार खण्डन	६८		
हिन्दुधर्म का गौरव	७२		
हिन्दुओं की अवनति का कारण	७६		

द्वितीय खण्ड—ज्ञानकाण्ड

विषय	पृष्ठा	विषय	पृष्ठा
ज्ञान क्या है ?	१४७	दुःख का कारण और मुक्ति का उपाय	१५७
ज्ञान के विषय	१५०	तत्त्वज्ञान-विभाग	१६३
साधन-चतुष्टय	१५३	आत्मतत्त्व	१६४
श्रवण, मनन और निदिध्यासन	१५६	प्रकृति या विद्यातत्त्व	१६५

विषय	पृष्ठा	विषय	पृष्ठा
पुरुष या शिवतत्त्व	१६९	ब्रह्म और जीव में विभिन्नता	२१९
ब्रह्मतत्त्व	१७०	अनन्तरूप में प्रमाण और प्रतीति	२२७
ब्रह्मविचार	१७१	समाधि अभ्यास	२३८
ब्रह्मवाद	१७७	ब्रह्मज्ञान	२४९
प्रकृति और पुरुष	१९०	ज्ञानयोग या ज्ञान की साधना	२५३
पञ्चीकरण	२०२	ब्रह्मानन्द	२५९
जीवात्मा और स्थूलदेह	२०७	ब्रह्म-निर्वाण	२७०
स्थूलदेह का विश्लेषण	२१२		

तृतीय खण्ड—साधनाकाण्ड

विषय	पृष्ठा	विषय	पृष्ठा
साधना का प्रयोजन	२८१	प्रकृति-पुरुष योग या कुण्डलिनी-उत्थापन	३४८
मायावाद	२९२	रसानन्द योग या योनिमुद्रा साधना	३५६
कुलकुण्डलिनी साधना	३०६	ब्रह्मयोग या भूतशुद्धि साधना	३६०
अष्टाङ्ग योग और उसकी साधना	३१६	राजयोग या ऊर्ध्वरेता की साधना	३६४
प्राणायाम साधना	३२२	नादबिन्दुयोग और ब्रह्मचर्य-साधना	३६९
सहित प्राणायाम	३२९	अजपा-गायत्री साधना	३८६
सूर्यभेद "	३३१	ब्रह्मानन्द-रस साधना	३९१
उज्जायी "	३३३	विभूति-साधना	३९५
शीतली "	३३४	जीवन्मुक्त अवस्था	४०४
भस्त्रिका "	३३५	योगबल से देहत्याग	४०९
भ्रामरी "	३३६	उपसंहार	४११
मूर्छा "	३३८		
केवली "	३३९		
समाधि साधना	३४१		

प्रथम खण्ड

नानाकाण्ड

एकमेवाद्वितीयम्

गीत

मूलतान—एकताला

मा आमार हयेछे काली-काला काले।
अबोध मानवे भिन्न बले,—जारा विषय-विषे भोला,
ताराइ केह काला, केह बा काली बले।

काली हते शूली किन्तु पत्नी घोषे,
लक्ष्मीरूपे से-इ सेवे श्रीनिवासे,
आबार शुनि (ओरा) छिल ऐ गर्भवासे,
भेदभावे रिशे, मिशे दले॥

आद्याशक्ति माता देव-दुःख तरे
लये असि-पाशाङ्कुश चतुष्करे,
लोलजिह्वा लम्बोदरी मूर्ति धरे,
दानबदले नाशिते ;—

आबार भूभार-हरण कारणे,
असि त्यजे बाँशी निल वृन्दावने,
गोपाल हइया गोपाल-भवने,
चराले गोपाल कदमतले॥

दीन **नलिनीकान्त** युग्मकरे कय,
सत्त्व रजस्तमे एक विश्वमय,
भेदाभेदज्ञाने नरक निश्चय,
द्विभावे अभाव पड़े;—

पड़ेछे आमार हृदयेते काली,
जेने ताइ आमि भालबासि काली,
हये कुतूहली बलि काली काली
कालेर मुखे काली दिब बले।

—नदीया—कुतबपुर। ३।२।१३०७ बङ्गाब्द (मई, १९०० ई०)

मेरी माता ने काले अर्थात् युगानुसार कभी काली बनी और कभी काला (कृष्ण) भी बना है। अज्ञानी मुनष्य उनमें भेद देखते हैं,—जो लोग विषयरूप विष से भोले (मोहित) हैं, उनमें से कोई काला (कृष्ण) कहता है, और कोई काली कहता है।

काली से ही शूली अर्थात् शङ्करजी उत्पन्न हुए, परन्तु लोग उसे शङ्करजी की पत्नी कहते हैं, और वही लक्ष्मीरूप में श्रीनिवास अर्थात् भगवान् विष्णु की सेवा करती है। फिर सुनता हूँ कि (वे दोनों) प्रकृति और पुरुष (शिव-शक्ति) माया के आवरणरूप गर्भ के भीतर द्वित्वभाव से रहित अर्थात् अभिन्नरूप में रहते थे। जैसे, एक चने की दो दलें (दाल) छिलकारूप आवरण के भीतर अभिन्नरूप में रहती हैं।

आद्याशक्ति माता ने देवताओं का दुःख हरण किया; —उसने दानवों के विनाश के लिए लपलपाती हुई जीभ और लम्बोदरी मूर्ति धारण कर अपने चारों भुजाओं में क्रमशः खड्ग, नागपाश, अङ्कुश और वराभय धारण कर लिया।

फिर उसने भू-भार (पृथ्वी वासियों के दुःख) हरण के लिए असि (खड्ग) छोड़ वृन्दावन में हाथ में बाँसुरी ले ली। ग्वाले के घर में ग्वाला बनकर कदम्ब के नीचे गौएँ चरायीं।

दीन नलिनी हाथ जोड़कर कहता है, कि उन एक ही परब्रह्मस्वरूपिणी ने सत्त्व, रजः और तमोगुण के द्वारा विश्वमय, अर्थात् समस्त जीव-जगदाकार

में विवर्तित हुआ है। अतः भेद दर्शन से अवश्य ही पतन होता है, क्योंकि द्वैतभाव से भाव का व्यत्यय होता है। अर्थात् ईश्वर अन्य और मैं अन्य हूँ, इसरूप भावना से उसकी यथार्थ प्राप्ति नहीं होती।

मेरे हृदय अर्थात् अन्तःकरण में अज्ञान की काली पड़ी है, यह जानकर, तभी मैं काली से प्रेम करता हूँ, मैं आनन्द से विभोर होकर हमेशा काली काली पुकारता हूँ, ताकि काल के मुख में काली दे दूँ अर्थात् मृत्यु के पंजे से खिसक जाऊँ।

—नदीया—कुतबपुर। ३।२।१३०७ बङ्गाब्द (मई, १९०० ई०)
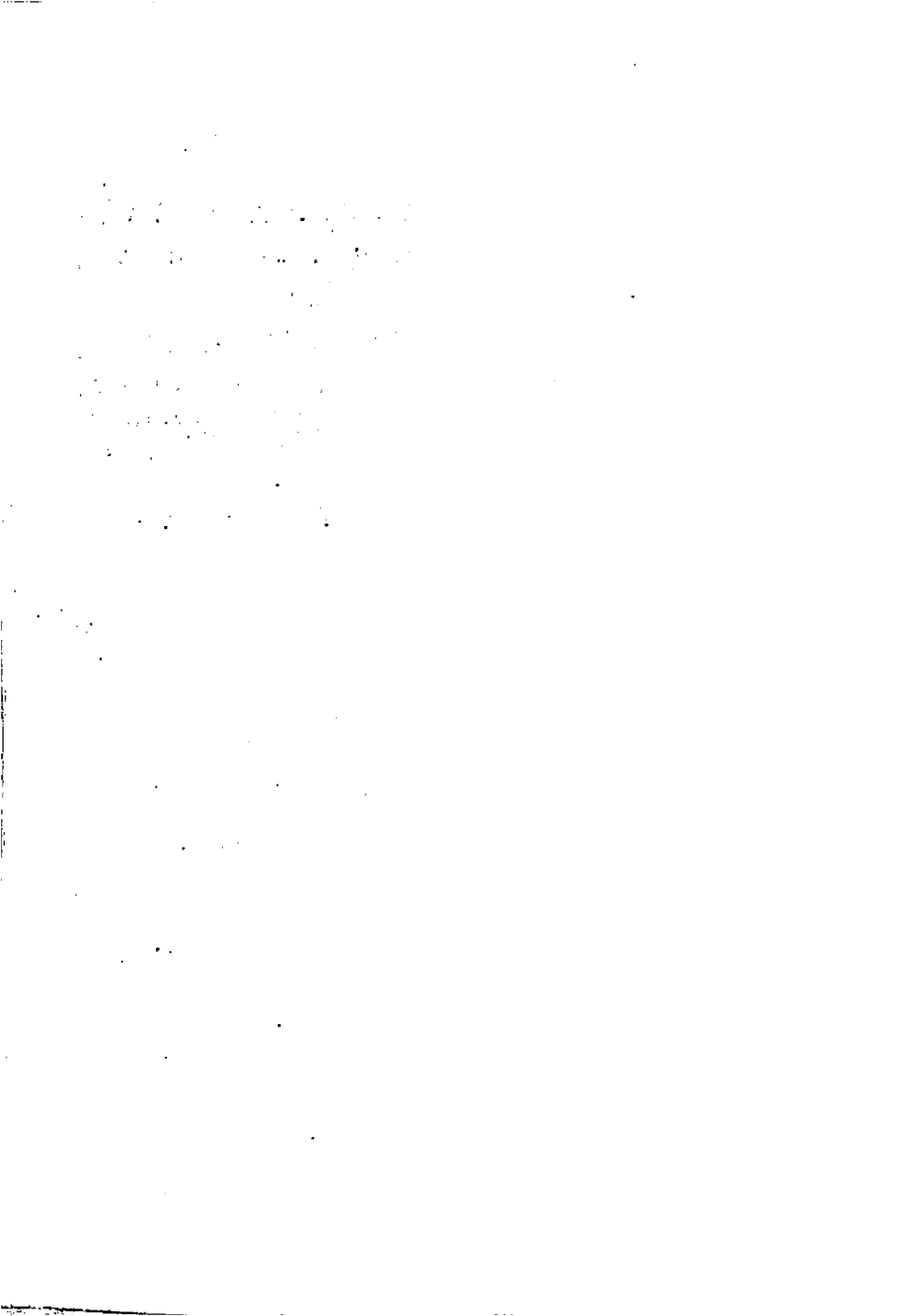
ज्ञानी गुरु

प्रथम खण्ड—नानाकाण्ड

धर्म क्या है ?

धर्मतत्त्व जानने के लिए सबसे पहले धर्म क्या है यह विशेषरूप से समझना होगा। धर्म किसको कहते हैं ?—

ध्रियते धर्म इत्याहुः स एव परमः प्रभुः।

धारण करता है इसलिए यह धर्म है। पुण्य क्या, पाप क्या, ज्ञान क्या, अज्ञान क्या, सुन्दर क्या, कुत्सित क्या—संक्षेप में अच्छा क्या, बुरा क्या प्राणिसमूह जिसे धारण करता है, वही धर्म है। लोकत्रय या जगत्त्रय जिसमें धृत या निहित है, उसे भी धर्म कहते हैं। अथवा सारे लोग जिसे धारण किये हुए हैं, वही धर्म है। केवल लोग समस्त क्यों—महदादि अणु पर्यन्त, भुवनत्रय में जो कुछ की भी सम्भावना है, तत्-समस्त ही धर्म के द्वारा धृत, रक्षित और परिचालित है। धर्म ही जगत्यन्त्र का यन्त्री है—धर्म ही सुख का स्वरूप है। धर्म के लिए ही जागतिक पदार्थों की आकुल आकाङ्क्षा से दौड़-धूप है।

देवता, मनुष्य, कीट, पतङ्ग, उद्भिद और जड़पिण्ड प्रभृतियाँ त्रिलोकस्थ यावतीय पदार्थों को ही धर्म और साधना की आवश्यकता है। मगर मनुष्य का धर्म है, धर्मज्ञान है,—और पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग या उद्भिदादि का भी धर्म है, किन्तु धर्मज्ञान नहीं है। धर्मज्ञान होने के कारण ही मनुष्य अन्यान्य प्राणियों से श्रेष्ठ है। एक बात और है—मनुष्य जीवसृष्टि की चरमोन्नति है, धर्मसाधना का उपयुक्त क्षेत्र है, जिससे वह जन्मजन्मान्तर के अनुशीलन के

बल पर धर्मज्ञान से समुन्नत होता है और साधनापथ पर अग्रसर हो उठता है। तभी तो मनुष्य अगर इच्छा करे, चेष्टा करे—सहज में ही धर्मसाधना में सफलता लाभ कर सकता है, अन्यान्य जीव ऐसा नहीं कर पाते। किन्तु वे भी धर्म के ही द्वारा सञ्चालित और रक्षित हैं। मनुष्य इस विषय में अनेक अंशों में स्वाधीन है, इतर जीव प्रकृति के अधीन हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर प्रभृति पाश्चात्य वैज्ञानिकगण कहते हैं—"क्रमविवर्तनवाद के अनुसार बालू का एक कण महामहीधर में परिणत हो जाता है, या मनुष्य होकर ज्ञान की ज्योतिः विकीर्ण कर देता है।" बात सत्य है, बालू के कण का जो धर्म है, वह धर्म ही उसे उन्नति के पथपर खींच लाकर क्रमविवर्तनवाद से कहिए, या फिर जन्मान्तरीय उन्नति के पथपर कहिए, उसे क्रमानुसार अनेक जन्मों के पथ से होकर मनुष्य में परिणत करेगा, इसमें और क्या आश्चर्य है ? किन्तु बालू के उस कण की क्रमोन्नति प्रकृति के धर्म से सम्पादित होती है, और मनुष्य के पास धर्मज्ञान होने से, वह चाहे तो उन्नति के चरम शिखर पर पहुँच सकता है।

और फिर मनुष्य होने के कारण ही उसे धर्मज्ञान है, यह मैं सर्वत्र स्वीकार नहीं कर पाता हूँ ; पार्वत्य वनजङ्गलों में, अनेक असभ्य देशों में आज भी ऐसे मनुष्य हैं, जो धर्म क्या है नहीं जानते या किसी भी प्रकार धर्म का अनुशीलन या साधना नहीं करते। यहाँ तक कि सभ्य समाज में जन्म लेकर भी अनेक लोग धर्म की ओर नहीं झुकते। शिथिलचर्म, पक्वकेशधारी वृद्ध भी बाह्य सुख में आसक्त होकर जीवन के कई दिन बिता देते हैं। किन्तु ऐसा होनेपर भी उनका धर्म है, मगर धर्मज्ञान नहीं। धर्मज्ञान हो या न हो, यह स्वीकार करना होगा कि बालू के तुच्छ कण से लेकर पशु, पक्षी, यहाँतक कि देवताओं का भी धर्म है एवं वही धर्म सबको धारण किया हुआ है एवं क्रमविवर्तनवाद से उन्नति के पथ पर खींच रहा है। अब देखना होगा कि मनुष्य पश्वादि इतर जीवों से किस कारण श्रेष्ठ है ? क्या पशुओं

के समान आहार, निद्रा और मैथुन प्रभृति बाह्य सुखों में लीन रहकर ही हम सृष्टि के श्रेष्ठ प्राणी के रूप में स्पर्धा करते हैं ? यदि ऐसा ही होता, तो मनुष्यत्व और पशुत्व में प्रभेद न होता। मनुष्य को धर्मज्ञान है और स्वतन्त्र रूप से उसकी परिचालना की शक्ति है तथा जगत्पिता ने एकमात्र मनुष्य को ही वैसा शक्तिशाली किया है इसीलिये हमने जीवसृष्टि में श्रेष्ठासन लाभ किया है। जो धर्म का अनुशीलन या साधना करते हैं, वे ही वास्तविक मनुष्य हैं, और जो आहार, निद्रा और मैथुन में रत रहकर जीवन व्यतीत करते हैं, वे मनुष्यदेहधारी पशुमात्र हैं। अतएव मनुष्यजीवन धारण कर, धर्मज्ञान लाभ करना ही मनुष्य का प्रधान कर्तव्य है। कोई-कोई सोच सकते हैं कि जब स्वाभाविक धर्म सभी को क्रमोन्नति के पथपर खींच ले रहा है, जब हम भी एक दिन अपनी अपनी उन्नति की चरम सीमा पर उन्नीत हो सकेंगे, तब स्वतन्त्र चेष्टा क्यों करें ? एक दिन हम उन्नति की चरम सीमा पर उठ सकेंगे अवश्य, मगर वह कितने दिन में ? कितने युग, कितने कल्प बीत जायेंगे, कितने सैकड़ों शरीर लय हो जायेंगे, त्रितापज्वाला से कितना दग्ध होना होगा, उसकी कोई सीमा नहीं है। किन्तु मनुष्य की वह क्षमता उसके अपने अधिकार में है ; मनुष्य चाहने पर इसी जीवन में उन्नति की चरम सीमा पर उपनीत हो सकता है। भगवान् ने मनुष्य पर दया करके वह शक्ति दान कर उसे अपनी पसन्द की सृष्टि का श्रेष्ठ जीव बना दिया है। वह शक्ति क्या है ?—धर्मज्ञान।

मनुष्यकुल में जन्म लेकर जितने दिन तक धर्मज्ञान समुद्भूत नहीं होता है, उतने दिन तक मनुष्य पशुसदृश होता है। यदि प्राप्तवयस्क व्यक्ति को भी धर्मज्ञान नहीं हो पाता है, तो उसे भी पशु कहा जा सकता है। अतएव मनुष्य होकर धर्मालोचना में पशुत्व का वर्जन और मनुष्यत्व का अर्जन करना सभी का कर्तव्य है। और फिर मनुष्यत्वलाभ ही चरम सीमा नहीं है। पशुत्व परिहारपूर्वक धर्म के अनुशीलन द्वारा मनुष्य होकर देवत्वलाभ करने की चेष्टा

करो। देवत्वलाभ होने से तब ब्रह्म-उपासना से ब्रह्म-सायुज्य प्राप्त होगा। मनुष्य में वह शक्ति है। वह शक्ति है, इसीलिये मनुष्य अन्यान्य जीवों से श्रेष्ठ है। जिसके अनुशीलन से मनुष्य पशुत्व परिहारपूर्वक क्रमशः ब्रह्म-सायुज्य प्राप्त कर सकता है, उसीका नाम धर्म और उसके अनुशीलन का नाम धर्मसाधना है।

धर्म की प्रयोजनीयता

धर्म क्या है, यह समझ लेनेपर धर्मसाधना की प्रयोजनीयता स्वतः ही मन में उदित होती है ; तथापि इस सम्बन्ध में थोड़ी सी आलोचना की जाय।

इस परिदृश्यमान जगत् के उच्चश्रेणी के जीव मनुष्य से लेकर अति निम्नश्रेणी के जीव कीट-पतङ्गादि तक, सभी सुख के लिए अहोरात्र लालायित हैं—सुख के लिए प्रतिक्षण व्यस्त हैं। उनका स्वभाव, गति और व्यवहार देखकर समझा जा सकता है कि सुख की आशा सभी करते हैं। किन्तु सुखी कौन है ? अनुसन्धान करने पर पायेंगे कि पृथ्वी के एकच्छत्राधिपति सम्राट से लेकर कुटीरवासी भिखारी तक, सभी आशा-आकाङ्क्षाओं के तीव्रदंशन से नियत अस्थिर हैं। धन-जन कहो, रूप-ऐश्वर्य कहो, ख्याति-प्रतिपत्ति कहो किसी से भी मनुष्य तृप्त नहीं हो सकता। आकाङ्क्षा-राक्षसी के हाथों किसी को भी निस्तार नहीं है। चन्द्रिकाशालिनी वसन्तयामिनी में यूथिका-शय्या पर शयन करके भी दिल्ली के प्रबलप्रतापी सम्राटगण सुखी नहीं हो सके। संसार में किसी की भी आशा पूरी नहीं होती—साध नहीं मिटती। कोई एक विषय में सुखी होकर भी अन्यान्य पाँच विषयों में निरन्तर मनःकष्ट के साथ काल यापन कर रहा है। फिर सुख कहाँ है ? सुखी कौन है ?

सुख का अर्थ है [सु=उत्तम+ख (ज्ञान की) इन्द्रिय] इन्द्रिय-शक्ति का स्वभाव-नियमित स्फूर्ति, तृप्ति और सामञ्जस्य। इन्द्रिय आत्मा की शक्तिविशेष

है। ऐसा होनेपर ही कहा जा सकता है कि आत्मशक्ति ज्ञान की स्फूर्ति, तृप्ति और सामञ्जस्य ही सुख है। धर्म उसी सुख का उपाय है, धर्म के द्वारा ही इन्द्रिय-शक्ति की सम्यक् स्फूर्ति, तृप्ति और सामञ्जस्य साधित होता है।

सुखं वाञ्छन्ति सर्वे हि तच्च धर्मसमुद्भवम्।
तस्माद्धर्मः सदा कार्यः सर्ववर्णैः प्रयत्नतः॥

—दक्षसंहिता, ३।२३

सभी लोग सुख की कामना किया करते हैं, किन्तु सुख धर्म से समुद्भूत हुआ करता है ; अतएव सभी लोग सर्वदा सयत्न से धर्माचरण करें। धर्माचरण से इन्द्रियशक्ति की सम्यक् स्फूर्ति, तृप्ति और सामञ्जस्य का साधन कर, तब सर्वविध जगत् (बाह्य, आन्तर, बौद्ध और अध्यात्म) के यथार्थ तत्त्व की आत्मा में उपलब्धि करने से सुख लाभ होता है। वह सुख स्थायी होता है, उसमें आनन्द-उच्छ्वास की मृदुमधुर लहरीलीलाएँ हैं, लालायित आकाङ्क्षा की लपलपाती हुई जिह्वा का प्रसार और अनलमयी आँधी नहीं है।

और भी एक बात है, संसार के सर्वसुखों से सुखी होनेपर भी, वह सुख चिरस्थायी नहीं होता। कारण, देहपात होनेपर परलोक के पथ में धन-जन कहो, स्त्री-पुत्र बन्धु-बान्धव कहो कोई भी साथ नहीं होगा, उस समय एकमात्र धर्म ही साथ जायेगा।

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।

—मनुसंहिता, ८।१७

एतावता स्पष्ट ही जाना गया कि जीव स्वाधीन हैं, धर्मप्रवृत्ति उनकी स्वाधीन वृत्ति है,—अविद्या अथवा माया उन्हें मोह के गर्त में निपातित कर रही है। अतएव मनुष्य का कर्तव्य है कि जिससे माया के हाथ से रक्षा

पाकर आत्मोन्नति हो सके—आत्मप्रसाद लाभ हो—कामनावासना की बुराई दूर हो सके वह वही करे। आत्मा सुख-दुःख नहीं चाहती, आत्मोन्नति ही दुर्लभ मनुष्यजन्म का लक्ष्य है—आत्मोन्नति का मूल कारण है धर्म, यह बात सभी देशों के ज्ञानिगणों द्वारा अनुमोदित है। वह देखो, पाश्चात्य धर्मगुरु कह रहे हैं—

Not enjoyment and not sorrow
Is our destined end or way,
But to act, that each tomorrow
May find further than today.

सिर्फ आत्मोन्नति क्यों कहूँ ? अर्थनीति, राजनीति, समाजनीति के मूल में भी धर्म निहित है। अतएव धर्म के समान बन्धु और कौन है ? इहलोक की बात छोड़ भी दें, तो भी उस परलोक में—उस अनजान-अपरिचित देश में, उस पाप-पुण्य-वासना-शान्ति के देश में, उस नरक-स्वर्ग की साधना के देश में जो अनुगामी होता है, उसके समान आदर-यत्न-स्नेह का बन्धु और कौन है ? धर्मसाधना की प्रयोजनीयता लगता है सभी ने समझ लिया है। धर्म की स्नेहभुजाओं के बीच—सुरभिसुवास के बीच आत्मा को सुख से रखने के उद्देश्य से ही धर्मसाधना का प्रयोजन है।

और एक महत्त्व की बात यह है कि आत्मा परमात्मा का अंश (द्वैतमत से पार्षद या दास) है इसलिए ब्रह्मानन्द या पूर्ण सुख उसने भोगा है,—वह आस्वाद जानती है। जगत् के जीव उस सुख की खोज में व्यस्त हैं। जीव अविद्या के बन्धन में आत्मविस्मृत है, कुछ भी नहीं जानता—कुछ भी नहीं समझता, फिर भी सुख के लिए लालायित है, जीवमात्र ही सुखस्पृहा के अधीन है। ब्रह्मानन्द की अनुभूति के लिए जीव दौड़ रहा है। सुख की आशा में ही दाता दान कर रहा है, ग्रहीता हाथ पसार रहा है, सुख की कामना में राजराजेश्वरी सिर पर मुकुट धारण करती है, कंगालिनी तृणगुच्छों से कुटी

सजाती है। सुख की प्यास की दुर्निवार ज्वाला को बुझाने के लिए शौकीन यार 'डाल डाल और भी डाल' कहते हुए बोतलस्थ द्रववह्नि की ओर टकटकी लगा कर देखता रहता है। सुख के लिए ही चोर चोरी करता है, कोई रूप-रस, रुपये-पैसे की कामना करता है, कोई व्यर्थ में इन्द्रिय-सञ्चालन करता है। सर्वजनहितैषी साधु सुखतृप्ति के ही अज्ञात अनुशासन में दीनदुखियों के दुःखमोचन की चिन्ता में डूबे रहते हैं। सुखतृप्ति की लालसा में ही राजाधिराज धनैश्वर्य का परित्याग कर भिखारी सज रहे हैं; और दरिद्र दस रुपये के लिए दूसरे के प्राण लेने को उतारू हो जाता है। तृष्णार्त मृग जिस प्रकार मरीचिका में जलभ्रम से धावित होता है, सुख का आभास पाते ही जीव उसी प्रकार धावित हो रहा है। किन्तु संसार में सभी अतृप्त हैं, किसी के भी सुख की आशा की निवृत्ति नहीं हो रही है। होगी भी क्यों ? संसार में तो सारे सुख ही आंशिक मात्र हैं, और जीव पूर्ण सुख का कंगाल है। ब्रह्मानन्द की तुलना में राजैश्वर्य तुच्छ है, तभी तो राजराजेश्वरों ने मणिमय मयूर सिंहासन पर बैठकर भी तृप्तिलाभ नहीं कर पाया है। केवल एकमात्र धर्माचरण से वह सुख भोग किया जा सकता, इसीलिए सभी ने धर्मसाधना की प्रयोजनीयता को स्वीकार किया है।

धर्म की सार्वभौमिकता

भगवान् एक हैं, मानवात्मा भी एक है, अतः धर्म भी एक भिन्न कभी भी दो प्रकार का नहीं हो सकता। महदादि अणु तक जिसके द्वारा क्रमविवर्तन-धारा में उन्नति की चरम सीमा की ओर चालित हैं, उसी का नाम धर्म है। अतः सारे मानव एक धर्म के ही अधीन हैं। तो फिर समस्त जगत् को मिलाकर साम्प्रदायिकता का यह विद्वेष कोलाहल उत्थित क्यों होता है ?

सभी देशों का, सभी मानवों का, सभी सम्प्रदायों का धर्म एक है, किन्तु साधनपथ विभिन्न हैं। जीवमात्र को ही शरीरपोषणार्थ क्षित्यादि पाञ्चभौतिक

पदार्थों का प्रयोजन है। सभी उन पदार्थों को शरीररक्षार्थ नित्य-प्रति ग्रहण किया करते हैं, मगर हिंस्र पशु रक्त-मांसमय जीवदेह भक्षण में, अन्यान्य पशुगण तृण-गुल्मादि भक्षण में, मनुष्यों के किसी समाज के लोग घृत-मैदा, किसी समाज के लोग मत्स्य-मांस, किसी समाज के लोग फल-मूल, किसी समाज के लोग मिश्रित पदार्थोत्पन्न खाद्य भक्षण में उन पाञ्चभौतिक पदार्थों से शरीर परिपूर्ण किया करते हैं। सभी का मुख्य उद्देश्य है क्षुधा-शान्ति और गौण उद्देश्य है शरीर का पोषण ; किन्तु उद्देश्य एक होनेपर भी जिस प्रकार उसकी पूर्ति के पथ भिन्न-भिन्न हैं, उसी प्रकार धर्म और उसकी साधना के उद्देश्य के एक होनेपर भी साधनाप्रणाली विभिन्न प्रकार की होने से, यावतीय मानवों द्वारा विविध सम्प्रदाय सृष्ट हुए हैं। मूल में धर्म का उद्देश्य एक ही है।

मनुष्य को छोड़कर पशुपक्षी से लेकर जड़पिण्डादि तक के क्रमोन्नति का धर्म प्रकृति के हाथ में है, अतः वह उनके सारे धर्मों को समभाव से समान गति से उन्नति के पथपर सञ्चालित कर रही है। किन्तु मनुष्य स्वाधीन प्राणी है, धर्म के द्वारा परिचालित होकर आत्मोन्नति ही उसकी स्वाधीन इच्छा है। इसीलिए विभिन्न देशों के भिन्न-भिन्न समाजों के मनीषिगण के द्वारा धर्मसाधना की प्रणालियाँ विभिन्न होने से सम्प्रदायों की सृष्टि हुई है। जिनका जैसा ज्ञान—जैसी प्रतिभा—जैसी साधना होती है, वे आत्मा की वैसी उन्नत अवस्था समझ कर उसी अवस्था प्राप्ति का उपाय उद्भावनपूर्वक अपने-अपने समाजों के आचार-व्यवहार के प्रति लक्ष्य रखते हुए धर्मशास्त्र का प्रणयन किये हैं। अतः समाज के अनुसार धर्मसाधना का उपाय निर्धारित होने से नाना सम्प्रदायों परिदृष्ट होते हैं। तभी आज जगत् के सभी सम्प्रदाय, समस्त मनीषी, धर्मयाजक समुदाय अपने-अपने मत, अपनी-अपनी धर्मकहानियों की शान्त-मधुर प्रोज्ज्वल व्याख्या कर मानव-हृदय को परितृप्त कर रहे हैं। लगता है कि संसार में मनुष्य के प्राण और मनुष्य की अनन्त तृष्णामयी

हृदयवृत्तियाँ धर्मव्याख्या के परमपवित्रभाव को लेकर ही दिन-रात व्यस्त और हर तरह से समझा देने के लिए सचेष्ट हैं।

फिर जो सम्प्रदाय जितनी सजीवता लाभ कर चुका है, उसमें उतने ही शाखा-सम्प्रदायों की सृष्टि हुई है। मुसलमानों के सिया, सुन्नि,—ईसाइयों के प्रोटेस्टेन्ट और रोमन कैथोलिक ;—और हिन्दुओं का तो कहना ही नहीं, चारों ओर अगणित सम्प्रदायों अपने-अपने धर्मभाव में विभोर हैं। वर्तमान काल के एक दृष्टान्त द्वारा इसे समझा रहा हूँ।

बङ्गप्रेदश में जब राजनीति की चर्चा नहीं थी—थी भी तो निर्जीव अवस्था में दो-चार स्वदेशहितैषी व्यक्तियों के हृदय में निहित थी—तब जो जो-कुछ भी कहता, सभी नीरव होकर सुना करते, कोई मतभेद नहीं था—बङ्गविभाजन होने के बाद से सर्वसाधारणों के मन में स्वदेशी आन्दोलन और राजा के निकट प्रजाओं के न्यायिक अधिकार पाने की आशा जग उठी है। जो राजनीतिक चर्चा इतने दिनों निर्जीव अवस्था में थी, वह अब सजीवता लाभ कर चुकी है। तभी आज विपिनबाबु और सुरेन्द्रबाबु के मतभेद से—राजनीतिक्षेत्र में उन दोनों के दो दलों की सृष्टि हुई है। किन्तु उभय के उद्देश्य भिन्न नहीं हैं, उभय दलों की इच्छा बङ्गविभाजनरहित एवं स्वराज्य लाभ है। मूल उद्देश्य एक है—मगर उद्देश्यसाधना की प्रणालियों में मतभेद होने से ये भिन्न-भिन्न दलों में परिणत हो गये हैं। भारत के स्वर्णयुग में देवकल्प मुनिऋषिगणों ने पर्वतकन्दराओं में, भीषण वनजङ्गलों में आजीवन धर्म का अनुशीलन कर धर्म के स्थूल से सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व का आविष्कार किया था। कितने अतीत काल से लेकर उन्हीं की आलोचना, आन्दोलन और साधनारहस्य उद्भेद हो रहे हैं; कितने वैज्ञानिकों, कितने दार्शनिकों ने इसके सम्बन्ध में वादानुवाद और तर्कवितर्क किये हैं—जिसके परिणामस्वरूप कितने स्थूल-सूक्ष्म, कितने द्वैताद्वैत, कितने साकार-निराकार, कितने सगुण-निर्गुण, कितने प्रकृति-पुरुष, कितने ज्ञान-भक्ति-कर्म, कितने योग-जप-तप-पूजाएँ आविष्कृत हुई हैं ; उन्हीं

के एक-एक मत लेकर हिन्दुधर्म में अनेक शाखा-सम्प्रदायों की सृष्टि हुई है। उक्त शाखा-सम्प्रदायों अब हिन्दुधर्म की सजीवता का प्रमाण दे रहे हैं। इन्हीं से ही हिन्दुधर्म किस प्रकार मार्जित और उज्जीवित हुआ था, यह समझा जा सकता है। किन्तु इन सारे सम्प्रदायों के साधनापथ की गति एकमुखी है ; इस गतिपथ में ऐसा एक स्थान है ; जहाँ पहुँचने पर शाक्त, वैष्णव, ईसाई, मुसलमान, बौद्ध, जैन, सिख, पारसी, ब्राह्म प्रभृति सभी एकत्र मिल जाते हैं। धर्म के इस प्रकार उच्च स्थान पर आने से अपना सम्प्रदाय तो दुर, मुसलमान, ईसाई आदि के आचरित धर्म की भी अनदेखी नहीं की जा सकती, सङ्कुचित भावना दूर हो जाती है—तब मुसलमान को "नमाज" पढ़ते या ईसाई को गिरजे में जाते देख मन में अपार आनन्द होगा और हृदय भक्तिरस से आप्लुत हो जाएगा। महात्मा रामकृष्ण परमहंस ने हिन्दुधर्म के अनेक सम्प्रदायोक्त साधनाओं में सिद्ध होकर बाद में मुहम्मदीय और ईसाई धर्म की साधना कर सिद्धिलाभ किया था।* अतएव धर्म की साधनाप्रणालियाँ भिन्न होनेपर भी धर्म सभी का एक ही है। आशा करता हूँ कि इसके बाद धर्म की सार्वभौमिकता के प्रति किसी को भी अविश्वास नहीं होगा। यह सार्वभौम धर्म और उसकी साधना का रहस्य ही मैं इस ग्रन्थ में लिखने की चेष्टा करूँगा।

हिन्दुधर्म

लोकसमाज में जितनी प्रकार की धर्मप्रणालियाँ अधुनातन प्रचलित हैं उनमें हिन्दुधर्म के समान अन्य किसी धर्म की ऐसी परिणति या परिपुष्टि साधित नहीं हुई है। जिस किसी धर्मावलम्बी से पूछेंगे कि "कौन धर्म अच्छा है ?" वह उसी समय कहेगा "मेरा धर्म अच्छा है।" रूढ़िवाद में नहीं

---

* सेवक रामचन्द्रकृत रामकृष्ण परमहंसदेव का जीवनचरित देखें।

पड़ना चाहिए, धर्म के नामपर रूढ़िवादिता से महापाप होता है। धर्म की निन्दा नरक का कारण होती है। इसीलिए कहता हूँ, सभी को विचार-शक्ति, ज्ञान-शक्ति और अनुभव-शक्ति सबकुछ है। अनुभव कीजिए, विचार कीजिए, साधना कीजिए, पथ परिष्कृत होगा। जिस धर्म के आचरण करने से मनुष्य अपनी अभिज्ञता से सबकुछ प्रत्यक्षानुभव या प्रत्यक्ष दर्शन कर सकता है, वही श्रेष्ठ धर्म है। इसीलिए मैं हिन्दुधर्म को श्रेष्ठ कह रहा हूँ।

हिन्दुओं ने धर्म को चतुष्पाद वृष नाम दिया है। यथा—

वृषोऽसि भगवान् धर्मश्चतुष्पादः प्रकीर्तितः।
वृणोमि त्वामहं भक्त्या स मां रक्षतु सर्वदा॥

—वृषोत्सर्गपद्धति*

और भी देखिए, मनु ने कहा है—

वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत्॥

—मनुसंहिता, ८।१६

धर्म को चतुष्पाद वृष कहने का उद्देश्य क्या है ? उद्देश्य यह है कि धर्म के चतुष्पाद साधक को समझाना। चतुष्पाद का अर्थ है चारों भागों से परिपूर्ण। एक-एक पाद के धर्माचरण से एक-एक जगत् का ज्ञान होता है और उसी विषय में इन्द्रियशक्ति की स्फूर्ति, परिणति और सामञ्जस्य प्राप्त हुआ करता है। जगत् चार हैं। चक्षु, कर्ण प्रभृति बहिरिन्द्रिय द्वारा जिस जगत् को जाना जा सकता है, उसी को बहिर्जगत् कहते हैं। धर्म के प्रथम पाद के आचरण और साधना द्वारा बहिर्जगत् वशीभूत होता है और उसपर क्षमता

---

* यह श्लोक विष्णुसंहिता में निम्न प्रकार पाठान्तर है।—अनुवादक

वृषो हि भगवान् धर्मश्चतुष्पादः प्रकीर्तितः।
वृणोमि तमहं भक्त्या स में रक्षतु सर्वतः॥ ८६।१५

का विस्तार किया जा सकता है। मन अन्तर इन्द्रिय है—मन का विषय जो जगत् है वही अन्तर्जगत् है। अन्तर्जगत् वृत्तिमय है, वृत्तियाँ मानस-विकार हैं। धर्म के द्वितीय पाद की साधना द्वारा यह जगत् आयत्तीभूत होता है। सत्येन्द्रियग्राह्य जगत् को बौद्ध जगत् कहते हैं। बुद्धि ही सत्येन्द्रिय की ग्राह्य है। धर्म के तृतीय पाद की साधना से एक अद्वितीय एवं सत्यस्वरूप भगवान् हमारी बुद्धि के गम्य होते हैं। इससे उन्हें जाना जाता है, उनमें निश्चयात्मिका बुद्धि आरोपित होने से उनके स्वरूप के दर्शन होते हैं। और विवेकग्राह्य जगत् को अध्यात्मजगत् कहते हैं। विवेक ही धर्मज्ञान का साधन है। जब विवेक एक ब्रह्म के अतिरिक्त सबको तुच्छ करेगा, तभी भगवान् में गाढ़ प्रेम का सञ्चार होगा। धर्म की चतुर्थपाद साधना से यह भगवत्प्रेम लाभ हुआ करता है। जिस सम्प्रदाय की धर्मपद्धति-साधना द्वारा यह होता है, वही श्रेष्ठ धर्म है। हिन्दुधर्म की विधानपद्धति में उन चारों प्रकार की इन्द्रिय-शक्ति की स्फूर्ति, सामञ्जस्य और परिणति होने के कारण ही उन चारों जगतों के तत्त्वनिर्णय में सामर्थ्य और सर्वविषयों में सिद्धिलाभ किया जा सकता है, इसीलिए मैंने हिन्दुधर्म को श्रेष्ठ कहा है।

वर्तमान में मर्त्यधाम पर जितने प्रकार के प्रसिद्ध धर्म प्रचलित हैं, उनमें हिन्दुधर्म के समान प्राचीन धर्मप्रणाली और नहीं है। सिर्फ प्राचीन नहीं, इस धर्म का आदि कहाँ है, यह निर्णय करना दुःसाध्य है। हिन्दुधर्म जो वेदमूलक है, उस वेद का आदि कहाँ है, यह निर्णीत नहीं हुआ है, यह श्रुतिपरम्परा से अतिप्राचीन काल से ही चला आ रहा है। इसी कारण से वेद का अन्य नाम श्रुति है। हिन्दुशास्त्र के मतानुसार यह श्रुतिपरम्परागत वेद हर सृष्टिकाल में आविर्भूत होता है एवं प्रलय में विलीन हो जाता है। अतः प्रति कल्पान्त में जब वेद का पुनराविर्भाव होता है, तब यह विश्वसंसार जिस प्रकार अनादि नित्यरूप में चिरकाल ही सृष्ट हो रहा है, वेद भी उसी प्रकार का है। वेद अगर सनातन और नित्य है तो वह वेदमूलक धर्म भी तद्रूप सनातन और

नित्य है। इसीलिए हिन्दुधर्म का अन्य नाम सनातनधर्म है। इस सनातनधर्म के प्राचीनत्व की विवेचना करने पर बौद्ध, जैन, ईसाई, सिख, पारसी, मुहम्मदीय प्रभृति धर्मप्रणालियों को आधुनिक कहना होगा। जो आधुनिक है, वह उत्पन्नधर्म है। इन समस्त उत्पन्न और आधुनिक धर्मप्रणालियों से हिन्दुधर्म इसी रूप में अलग है।

सिर्फ प्राचीनत्व के कारण हिन्दुधर्म प्रभिन्न नहीं है, उन समस्त उत्पन्न धर्मों से हिन्दुधर्म की प्रकृतिगत भिन्नता हैं। गङ्गा जिस प्रकार स्वर्ग से उतर कर शतमुख से पाताल में प्रवेश कर गई हैं, हिन्दुधर्म उसी प्रकार निवृत्तिप्रमुख स्वर्गदेश से उतर कर प्रवृत्तिप्रमुख सैकड़ों सम्प्रदायों में विभक्त होकर जनसमाज में प्रवेश कर गया है। किन्तु उन सब साम्प्रदायिक साधना-पथों की गति एकमुखी है। इस गतिपथ के एक या अन्य स्तरपर सर्व सम्प्रदायों और धर्मप्रणालियाँ है ; हिन्दू के सकाम और निष्काम पथ हैं, देवी-देवताओं की स्थूल साकार उपासना एवं सूक्ष्म साकार उपासना भी है—शाक्त हैं, वैष्णव हैं, ईसाई मुसलमान हैं, जैन हैं, सिख हैं, बौद्ध हैं, ब्राह्म हैं, सम्प्रदायभेद से सभी हैं। ऐसा सार्वभौमिक धर्म दूसरा नहीं है। यह धर्म सभी प्रकार के अधिकारियों के लिए प्रचारित हुआ है। तभी सर्वविध अधिकारी और सम्प्रदायभुक्त जनगण इस धर्म में परिदृष्ट होते हैं। घोर विषयी से लेकर ब्रह्मवित् तत्त्वज्ञानी तक इस धर्म के आश्रित हैं। हिन्दुधर्म की साधनाप्रणाली इसीलिए सम्पूर्णावयवी है। हिन्दुधर्मावलम्बी जनगण में जो जिस प्रकार की भी पूजापद्धति का अवलम्बन क्यों न करे, वे सारी पूजाएँ ही एक अद्वय ब्रह्म की उपासना हैं। स्थूल साकार हो या सूक्ष्म साकार, चाहे निस्त्रैगुण्य साधक की निराकार ब्रह्मोपासना क्यों न हो, सर्व उपासनाएँ ही एकमुखी हो गयी हैं। भगवान् ने कहा है,—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

—श्रीमद्भगवद्गीता, ४।११

ऐसी उदार और उच्च शिक्षा क्या किसी धर्म में है ? हिन्दुधर्म के उदार गर्भ में सर्वाधिकारी जनगण के ग्रहण करने के लिए सर्वविध भक्त को ही आश्रय दान करने के लिए हिन्दुधर्म की यह उदार शिक्षा है। उसमें स्थूल देवी-देवताओं के उपासक, स्वर्ग या वैकुण्ठ-सुखकामी, निष्काम धर्मज्ञानी, सूक्ष्म ईश्वरोपासक सभी हैं। क्योंकि, सभी धर्म के तपस्या पथ के पथिक हैं, सभी एक ही तरफ जा रहे हैं, सभी क्रमशः ईश्वर के निकटवर्ती हो रहे हैं। हिन्दू का धर्मपथ इतना ही प्रशस्त और सुदीर्घ है कि हिन्दुधर्म के इस प्रशस्त पन्था से सर्वविध हिन्दुसम्प्रदाय, भक्त और तत्त्वज्ञानी एवं ईसाई, मुसलमान, जैन, सिख, बौद्ध, ब्राह्म सभी रहकर अनन्त ब्रह्मपद की ओर अग्रसर हो रहे हैं। इस धर्मप्रणाली में अद्वैतज्ञान के साथ ऐशी (ईश्वरीय) भक्ति मिलित होकर हिन्दुधर्म को पूर्णावयव और सर्वविध जनगण की आश्रयभूमि बना चुकी है। यह विश्वव्यापी धर्मप्रणाली है। हिन्दुधर्म साधक के अधिकारानुसार विभक्त होने से उसका कलेवर अतिबृहत् हो गया है। संसारत्यागी साधु-संन्यासियों के धर्म से लेकर सामान्य जनगण की धर्माचारपद्धति तक समस्त ही हिन्दुधर्म की देह हैं। अतएव जो लोग हिन्दुसमाजस्थ सामान्य जनगण की धर्मप्रणालियाँ देखकर विवेचना करते हैं कि "यही शायद हिन्दुधर्म है", वे लोग एकदेशदर्शी हैं। उसी सामान्यजनगण की आचरित धर्मप्रणाली से लेकर यह धर्म जो क्रमशः कितने उच्चस्तर पर उठ गया है, सो विचार करने पर इस धर्म का सर्वनिम्नस्तर अत्यन्त सामान्य जैसा ही बोध होगा। यद्यपि उस स्तर की जनसंख्या सर्वापेक्षा अधिक है, तथापि वह मूलदेश मात्र है। जिस प्रकार पर्वत का मूलदेश सुविशाल और प्रकाण्ड होता है, उसी प्रकार वह भी है। उच्च उच्च देश की जनसंख्या क्रमशः ही कम हो गयी है। कम होकर भी वे सभी हिन्दुधर्म के अन्तर्भुक्त हैं। वरं उच्चदेश के धर्मावलम्बिगण धर्म की पवित्रता और वास्तविक मूर्ति को और भी विशद करके दिखला रहे हैं। पर्वत के ऊँचे-ऊँचे देशों में उठने पर जिस

प्रकार नये-नये देश दृष्टिगोचर होते हैं, इस धर्म में भी उसी प्रकार ऊँचे-ऊँचे देशों में नयी-नयी अध्यात्म तत्त्वावलियों के सुन्दर देश प्रत्यक्षीभूत होते हैं, अन्त में शिखर-प्रदेश के अनन्त आकाश में केवल—**एकमेवाद्वितीयम्**।

हिन्दुधर्म के इन सब महान् तत्त्वों को न समझकर वर्तमान युग में अन्य धर्मावलम्बिगण, सभ्य-शिक्षित पाश्चात्यदेशीयगण, तथा पाश्चात्यशिक्षा-विकृतमस्तिष्क भटके हुए भारतवासियों में अनेक ही हिन्दुओं को पौत्तलिक, जड़ोपासक और कुसंस्काराच्छन्न कहकर उपहास किया करते हैं। हिन्दुगण बहुत दिनों से अधीनता का शृङ्खल पहनकर जड़ हो चुके हैं, जिससे हिन्दुओं को "जड़ोपासक" प्रभृति जो इच्छा कहा जा सकता है—नहीं तो जिन जड़वादिगणों के अनुष्ठित धर्म की अस्थिमज्जा पौत्तलिकता—काम-वासना से कलुषित हैं, वे ही हिन्दुओं को पौत्तलिक कहते ! जिनका धर्म अभी भी खञ्ज बालकों के समान उठकर खड़ा होने में सक्षम नहीं हैं, वे ही हिन्दुधर्म की निन्दा करते हैं, यह विस्मय का विषय है इसमें सन्देह नहीं। यदि समझने की कोशिश करो तो देखोगे कि हिन्दू जो करते हैं उसकी एक बूँद भी कुसंस्कार या मिथ्या नहीं है। हिन्दू जो समझते हैं, अभी भी उसकी त्रिसीमा में पहुँचने में अन्य धर्मावलम्बियों को बहुत समय लगेगा। हिन्दुधर्म गम्भीर सूक्ष्म आध्यात्मिक विज्ञान से पूर्ण है। यह समझने की चेष्टा करो, जान सकोगे कि जड़ वैज्ञानिक या अन्यान्य देशों के अथवा हमारे देश के शिक्षित और सज्जन आख्याधारी हिन्दुधर्मनिन्दकगण जड़ातिरिक्त और कुछ नहीं समझते हैं, जिसके कारण हिन्दुओं को जड़ोपासक कहा करते हैं। जड़विज्ञान से यह तत्त्व नहीं समझा जा सकता है। किन्तु इसे जो समझ पाता है, कि जितने दूर यह आलोचित हुआ, उसके बाद और भी कुछ रहा—आलोचना समाप्त हुई, किन्तु आलोच्य विषय की समाप्ति नहीं हुई। जिसे ढूँढ़ा, उसे नहीं पाया, किन्तु ढूँढ़ना समाप्त हो गया—अन्त नहीं मिला। पाश्चात्य

जड़विज्ञान के विख्यात पण्डित हर्बर्ट स्पेन्सर ने आक्षेप करते हुए और भी स्पष्टरूप में कहा है—

The ultimate mystery continues as great as ever. The problem of existence is not solved; it is simply removed further back. The nebular hypothesis throws no light on the origin of diffused matter and diffused matter as much needs accounting for as the concrete matter. The genesis of atom is not easier to conceive than the genesis of a planet. Nay, indeed so far from making the universe a less mystery than before, it makes it a great mystery.

यही तो है जड़वादियों के अनुसन्धान का चरम फल ; इसका कारण यह है कि जिस वस्तु को खोजना होगा, उसके समान दर्शनशक्ति की आवश्यकता होगी। ब्रह्मवस्तुतत्त्व से अवगत होने के लिए ब्रह्मतत्त्व की सत्ता से परिचित होना होगा। वह योगी की समाधि के अतिरिक्त सम्भव नहीं है। उस योग का हिन्दुओं ने आविष्कार किया है—वह तत्त्व हिन्दुधर्मप्रणाली में विधिबद्ध किया गया है। मैंने उसी तत्त्व को इस ग्रन्थ में प्रकाशित करने की इच्छा की है।

हिन्दू के दर्शन-शास्त्रों की पर्यालोचना से प्रतीत होता है कि हमारे शास्त्रीय मतामत नाना वादानुवादों द्वारा स्थापित हुए हैं। जब जो मत उठा है, तभी पण्डितगण कह उठे हैं—'उस बात का प्रमाण ?' अतएव हिन्दुदार्शनिक प्रमाण के बिना एवं पूर्वपक्ष के खण्डन किये बिना किसी भी बात की मीमांसा नहीं करते हैं। धर्म का ऐसा सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार और किसी जनसमाज के धर्मशास्त्र में नहीं देखा जाता है। हिन्दू जानते हैं—

केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः।
युक्तिहीनविचारेण धर्महानिः प्रजायते॥

—योगवाशिष्ठ

—केवल शास्त्रवाक्य को आश्रय कर धर्मनिरूपण करना कर्तव्य नहीं है, कारण युक्तिहीन विचार द्वारा धर्महानि हुआ करती है।

तभी हिन्दुशास्त्रों में क्या लौकिक, क्या अलौकिक, सर्वविध तत्त्वों का ही विशेष प्रकार से उपयुक्त प्रमाण प्रदत्त हुए हैं। हिन्दुधर्म को निन्दा करने के पूर्व एक बार तत्त्वों का विचार और अपनी धर्मप्रणाली के प्रति दृष्टिपात करने का अनुरोध करता हूँ।

अदूरदर्शी व्यक्तिगण हिन्दुसमाजस्थ सामान्य जनगण की धर्मप्रणाली देखकर एवं उसके प्रकृत तथ्य और महान् भाव को न समझकर जो समस्त निन्दावाद कर अपनी रसना कलुषित करते हैं, उन्हीं सामान्य जनगण के धर्म से लेकर निस्त्रैगुण्यसाधक की निराकार ब्रह्म-उपासना तक की मैं इस ग्रन्थ में आलोचना करूँगा। आशा करता हूँ कि पाठकगण उसीसे ही हिन्दुधर्म की विश्वव्यापकता और गम्भीरता के परिमाण उपलब्धि कर सकेंगे। प्रथमतः अधिकारभेद आदि समाजधर्म की आलोचना की जाय।

अधिकारभेद

किसी आधुनिक या उत्पन्न धर्म में अधिकारभेद स्वीकृत नहीं हुआ है, क्योंकि वे समस्त धर्म मानवात्मा के निमित्त एक निर्दिष्ट आदर्श और लक्ष्य दिये हुए हैं, उसी लक्ष्य के प्रति समग्र मनुष्यसमाज को नियोजित करना चाहते हैं। हिन्दुधर्म जब मानवात्मा को उसके अनन्तस्वरूप में लाना चाहता है, तब अवश्य कहना होगा, कि उसकी गति अनन्त के पथ पर है। यही अनन्तपथ नाना खण्डों में विभक्त होकर क्रमशः ऊर्ध्व में उठ गया है। इसी अनन्तगतिपथ पर लोक-समाज के सभी हैं, किन्तु सभी समान अधिकारी नहीं हैं। पूर्ण युवक जिस उपाय से आहार्य ग्रहण कर सकता है, शिशु नहीं कर सकता। युवक कठिनतर पदार्थ चर्वणकर उसे भक्षण कर सकता है, शिशु

को तरल दुग्ध रुई के द्वारा धीरे-धीरे पिलाना पड़ता है। फिर एक ज्ञानी और अज्ञानी के बीच आकाश-पाताल का अन्तर होता है, उसी प्रकार एक बुद्धिमान् और एक निर्बोध के बीच विस्तृत अन्तर होता है। जो धर्मविषय में सम्पूर्ण अज्ञ होता है, उसे ऐसा कार्य करना चाहिए ताकि धर्म नाम की कोई वस्तु है ऐसा संस्कार लाभ कर सके। तभी बंगाल की हिन्दु-बालिकाएँ अपने कोमल हृदय में धर्म के बीज बोने के लिए—धर्म है, केवल यही समझने के लिए यमपुष्कर, पुण्यिपुष्कर, गोलक, धनगछान- प्रभृतियाँ व्रत करती हैं। युवतियाँ कर्मफल से जीवन में धर्मवृद्धि करने के लिए दुर्वाष्टमी, अन्नदान, अनन्त-चतुर्दशी प्रभृतियाँ व्रतों में नियुक्त होती हैं। साधारण लोग होली-दुर्गोत्सव, पूजा-अर्चना, याग-यज्ञ करते हैं—देवशक्ति लाभ कर जड़त्व के हाथ से किञ्चित् रक्षा पाकर धर्मशक्ति-बर्धन के उद्देश्य से। योगी कर्म के संस्कारबीज को दग्ध कर योग की आग में जड़त्व को गलाकर पूर्ण चैतन्य की ओर अग्रसर होने के लिए योग किया करते हैं। इस प्रकार जगत् में जितने प्रकार के धर्मसाधना के पथ देखेंगे, समस्त ही अधिकारभेद से—अवस्थाभेद से किञ्चित् अग्रसर होने के लिए ही हैं। कोई भी धर्मपथ निरर्थक नहीं हो सकता, सभी पूर्ण धर्मलाभ के लिए ही अग्रसर हो रहे हैं। फिर भी बात यह है कि धर्मपद्धति के अनुसार—धर्म के साधनानुसार कोई बहुत दूर अग्रगामी होता है, तो कोई अल्प दूरी पर रहता है।

धर्म सभी को उठाकर अनन्तपथ के एक एक स्थान पर लाना चाहता है। हिन्दुधर्म ने इन विभिन्न अधिकारी व्यक्तिगणों के निमित्त धर्मसाधना के प्रकरण को भिन्न भिन्न कर अपने को सर्वलोकोपयोगी बना लिया है। इस अधिकारानुसार हिन्दुधर्म में शाक्त, शैव, वैष्णव, गाणपत्य, सौर प्रभृतियाँ नाना साम्प्रदायिक साधनाप्रणालियाँ प्रतिष्ठित हुई हैं। इन समस्त साधनाप्रणालियों के धर्माचार और प्रकरण अलग-अलग होते हुए भी सारी धर्मप्रणालियाँ हिन्दुधर्मीय मुक्तिसाधक के गतिपथ पर अवस्थित हैं। ईसाई

धर्मादि जिस प्रकार निज निज सम्प्रदायस्थ जनगण को स्वर्गादि प्रभृति एक एक लक्ष्यस्थान पर लाना चाहते हैं, हिन्दुधर्म की शाक्त-वैष्णवादि साम्प्रदायिक साधनाप्रणालियाँ भी उसी प्रकार सभी को हिन्दुधर्मीय मुक्तिपथ के एक एक देश पर उपनीत करना चाहती हैं। किन्तु वह भी चरमगति नहीं है।

मनुष्यसमाज में नाना प्रकृति के मनुष्य हैं, सबकी विद्या बुद्धि प्रतिभा समान नहीं है। सबकी मानसिक उन्नति की इच्छा, सुख-दुःख, प्रवृत्ति-निवृत्ति समान नहीं हैं। इन सबकी विवेचना कर हिन्दुशास्त्र ने कहा है—

सकामाश्चैव निष्कामा द्विविधा भुवि मानवाः।
अकामानां पदं मोक्षः कामिनां फलमुच्यते॥

—महानिर्वाणतन्त्र, १३।२०

इस संसार में सकाम और निष्काम इन दो श्रेणियों के मनुष्य हैं। इनमें जो निष्काम हैं, वे मोक्षपथ के अधिकारी हैं ; और जो सकाम हैं, वे कर्मानुसार स्वर्गलोकादि गमनपूर्वक नाना प्रकार की भोग्य वस्तुओं का भोग कर कृतकर्मों के क्षय से पुनः भूलोक में जन्मग्रहण करते हैं। इससे प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग, ये दो पथ निकले। इनकी फिर एक-एक की साधना-प्रणालियाँ अनन्त हैं।

अधिकारभेद से साधना चार प्रकार की है। यथा—

उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः।
स्तुतिर्जपोऽधमो भावो बहिःपूजाऽधमाधमाः॥

—महानिर्वाणतन्त्र, १४।१२१

—ब्रह्मसद्भाव उत्तम होता है, इसीलिए उच्चाधिकारिगण ब्रह्मविचार और ब्रह्मोपासना करें। मध्यम अधिकारिगण स्थूल, सूक्ष्म भूतादि या ज्योति का ध्यान करें, अधम अधिकारिगण स्तव, जप, पूजादि करें। और अधम से अधम अधिकारिगण अर्थात् जो धर्मविषय में सम्पूर्ण अज्ञ हैं, वे ही बाह्यपूजा का अनुष्ठान करें।

फिर प्रवृत्ति-निवृत्ति धर्म के अनुसार साधक की क्षमता का विचार करते हुए ब्रह्मोपासना, ध्यान, तप, जप और बाह्यपूजादि की नानारूप पद्धतियाँ प्रकाशित हुई हैं। तब मगर धर्म के जितने उच्चदेश पर उठेंगे, जनसंख्या की अल्पता के साथ साधनापद्धति की भी ह्रस्वता दिखाई देगी। अभी पाठकगण अगर निरपेक्ष भाव से विचार करें, तो पृथ्वी के सारे धर्मसम्प्रदाय और उनके द्वारा अनुष्ठित धर्मप्रणालियों को महानिर्वाणतन्त्र के उन दो श्लोकों में देख सकेंगे। जो जिस प्रकार की भी धर्मप्रणाली का अवलम्बन क्यों न करे, सभी उन्हीं चार श्रेणीयों में अवस्थित हैं।

सभी व्यक्ति दर्शनविज्ञान के जटिल तत्त्वों को हृदयङ्गम नहीं कर सकते। जिसकी उस प्रकार की शिक्षा है, वह अवश्य समझ सकेगा। अर्धशिक्षित या अल्पशिक्षित लोगों को पहले दर्शन-विज्ञान समझने योग्य उपयोगी शिक्षा प्राप्त कर बाद में दार्शनिक तत्त्व की आलोचना करनी होती है। और अशिक्षित व्यक्ति वर्णपरिचय कर, "कर खल" (क, ख) से लेकर सुबोध नीति-पाठ, साहित्य, व्याकरण, काव्यादि का क्रम से पाठ करते हुए तब दर्शन-विज्ञान पाठ में सक्षम हो सकेंगे। हिन्दुधर्म के शिक्षकगण, जिनका जैसा ज्ञान है, उसे समझकर उसको उसी स्थान से आरम्भ कराकर क्रमशः उच्चस्तर पर लाते हैं। परन्तु जिसे बिल्कुल धर्मज्ञान नहीं है, उसे बाह्यपूजा से आरम्भ कराकर क्रम से ब्रह्मसद्भाव में आनयन करते हैं। तभी हिन्दुधर्म के स्तर और अधिकार भेदानुसार असंख्य धर्मप्रणालियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। साधारण लोगों को पहले से किस प्रकार धर्मसाधना में नियुक्त कर क्रमशः उच्चस्तर पर उठाना होता है एवं एक-एक स्तर में साधना की क्या शिक्षा होती है, यह **चैतन्यचरितामृत** ग्रन्थ में दिखा रहा हूँ।

धर्मजगत् के श्रेष्ठ महाजन कविराज गोस्वामी ने अपने चैतन्यचरितामृत ग्रन्थ में, महाप्रभु चैतन्यदेव और महात्मा रामानन्द राय के कथोपकथन में इस तत्त्व को परिस्फुटरूप से प्रकाशित किया है।

प्रभु कहे कह किछु साध्येर निर्णय।
राय कहे स्वधर्माचरणे कृष्णभक्ति हय।।

जिसके लिए साधना है, वही साध्य है ; चैतन्यदेव ने साध्य के विषय में पुछा, परन्तु किस साधक का कैसा साध्य होता है वह निश्चय करके कहने के लिए नहीं कहा ; तब रामानन्द राय ने इसीलिये भक्तिहीन संसार-जाल-जड़ित मानवों का प्रथम से ही साध्य निर्णय किया। अतएव उन्हें कहना पड़ा—"**स्वधर्माचरण से कृष्णभक्ति होती है।**"

अपना-अपना वर्णाश्रमोचित कुल-धर्म ही स्वधर्म है। भगवद्भक्तिहीन पाषाणों के प्राणों में धर्मबीज वपन के उपायस्वरूप स्वधर्माचरण का निर्देश किया। किन्तु केवलमात्र भगवद्भक्ति ही जीवन का लक्ष्य है, या और भी कुछ है ?

प्रभु कहे एहो बाह्य आगे कह आर।
राय कहे कृष्णे कर्मार्पण साध्यसार।।

है, तभी तो चैतन्यदेव ने कहा, "यह बाहर की बात (बाह्यधर्म) है, और भी आगे बढ़के बोलो अर्थात् स्वधर्मापेक्षा और भी उच्च अधिकारी की बात कहो।" उसके उत्तर में उन्होंने कहा, "समस्त कर्मों को भगवच्चरण में अर्पित करना ही साध्य का सार है।" आत्माभिमान परित्याग कर निष्काम कर्म करने का उपदेश दिया।

प्रभु कहे एहो बाह्य आगे कह आर।
राय कहे स्वधर्मत्याग सर्वसाध्यसार।।

निष्काम कर्म की बात सुनकर चैतन्यदेव ने कहा, "यह भी बाहरी धर्म है, और भी अग्रसर होकर कहो।" जब निष्काम धर्मसाधना कर साधक में आत्मनिर्भरता जन्मेगी, तब स्वतन्त्रता ही उसकी उन्नति होगी, तब उसे और विधिनिषेध की सीमा के भीतर रखना उचित नहीं होगा। तभी राय

रामानन्द ने कहा, "स्वधर्मत्याग ही साध्य का सार है।" चैतन्यदेव ने इससे भी सन्तुष्ट न होकर कहा,—

प्रभु कहे एहो बाह्य आगे कह आर।
राय कहे ज्ञानमिश्रा भक्ति साध्यसार।।

ज्ञानमिश्रा भक्ति की बात सुनकर,—

प्रभु कहे एहो बाह्य आगे कह आर।
राय कहे ज्ञानशून्या भक्ति साध्यसार।।

रामानन्द की यह बात सुनकर चैतन्यदेव ने समझा, यह उत्तम साध्य है। इसीलिए कहा,—

प्रभु कहे एहो हय आगे कह आर।
राय कहे प्रेमभक्ति सर्वसाध्यसार।।

चैतन्यदेव अबतक "एहो बाह्य" कह रहे थे, किन्तु इसबार कहा "एहो हय" (यह ठीक है), फिर भी यह अन्त नहीं है ; और भी आगे बढ़कर कहो। चैतन्यदेव के इस प्रकार से जिज्ञासा करने पर राय रामानन्द ने ऐशीभक्ति के कितने उच्च उच्च स्तर की माधुरीलीलाएँ प्रकाशित कीं। कोई इन सब बातों को "वैष्णवी हैंयालि (पहेली)" समझकर अपनी स्वच्छ सरल नासिका को कुञ्चित न करें। उसकी प्रत्येक बात "दर्शन-विज्ञान की सुदृढ़ भित्तिभूमि पर संस्थापित है। पहले हिन्दू के तन्त्र, पुराण, श्रुति, स्मृति, दर्शन, उपनिषद् का पाठ करें, तत्पश्चात् उन डोर-कौपीनधारी वैष्णव-वैष्णवियों की पहेली का पाठ करने का प्रयास करें। इस भाव के भावुक लोगों के अतिरिक्त दूसरे किसी को भी वह तत्त्व बोधगम्य नहीं हो सकता।

राय रामानन्दकथित स्वधर्म, निष्कामधर्म, स्वधर्मत्याग, ज्ञानमिश्राभक्ति, ज्ञानशून्याभक्ति और प्रेमभक्ति प्रभृति एक-एक धर्मप्रणाली साधना के लिए अधिकारभेद से स्वीकृत हुई हैं। जिनका जिसमें अधिकार है, वे तदनुरूप साधना का अनुष्ठान करें। अशिक्षित व्यक्ति अगर दर्शन-विज्ञान के पाठ करने

में प्रवृत्त हो तो जिस प्रकार पाठ में थोड़ा भी उसका मनःसंयोग नहीं होता है, वरन् परेशान होकर वह उस तत्त्व की चर्चा करनी छोड़ देता है, उसी प्रकार स्थूलबुद्धि व्यक्तिगण भी अतिसूक्ष्म इस ब्रह्मतत्त्व की किसी भी रूप में धारणा करने में सक्षम नहीं होते हैं, अधिकन्तु और परेशान हो उठते हैं। इसी कारण हिन्दुधर्म कह रहा है—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।

—श्रीमद्भगवद्गीता, ३।२६

कर्मियों में जो लोग नितान्त अज्ञानी हैं, उनमें बुद्धिभेद मत जन्माओ। इन्हीं सब बातों की विवेचना करके ही अधिकारभेद से धर्मप्रणाली का उपदेश देने की व्यवस्था हिन्दुशास्त्र में देखी जाती है। हिन्दुधर्म में लोगों के ज्ञान और रुचि के अनुसार साधनप्रणाली का संगठन हुआ है। उसीसे ही विविध साम्प्रदायिक उपासनाप्रणालियों की सृष्टि हुई है। वैदिक हिन्दुधर्म ने देश, काल और पात्रानुसार अधिकारभेद को स्वीकार किया है। समाज के एकांश के लिए धर्म नहीं होता। तभी हिन्दुधर्म ने उच्च, नीच और मध्यम अधिकारी के भेद से नानाविध साधनाप्रणालियों की सृष्टि की है। किन्तु उन सबका उद्देश्य एक ही है, केवल प्रकरण भिन्न भिन्न मात्र हैं। इसीलिए उसी धर्म में प्रवृत्ति-निवृत्तिभेद से पहले से ही द्विविध साधनापथ देखने में आते हैं। उच्चाधिकारियों के लिए निवृत्तिपथ और निष्कामधर्म, निम्नाधिकारियों के लिए प्रवृत्तिपथ का विस्तृत महाकाम्यक्षेत्र हैं।

असंख्य मनुष्यों की काम-वासनाएँ असंख्य प्रकार की होती हैं, इसी कारण हिन्दुओं के प्रवृत्तिपथ की साधनाप्रणाली भी असंख्य प्रकार की है। इस अधिकारभेद से सर्वप्रकार जनगण के लिए धर्मप्रणाली प्रकाशित होने से हिन्दुधर्म का मूलदेश अतिप्रकाण्ड हो गया है। ईसाई, मुहम्मदीय प्रभृति काम्यधर्म और उनकी साधनाप्रणाली हिन्दुधर्म के इस विशालस्तर के एकदेश में पड़े हुए हैं।

हिन्दुधर्मप्रणाली में पहले पशुत्व से मुक्तिलाभ कर मनुष्यत्व में जाना, फिर मनुष्यत्व से मुक्त होकर देवत्व लाभ करना एवं अन्त में देवत्व से ब्रह्मत्व लाभ करना ही परम मोक्षपथ है। हमारी साम्प्रदायिक धर्मप्रणाली केवल देवत्व तक उठी है। विचार करने पर पायेंगे कि विजातीय अन्यान्य धर्मप्रणाली की सीमा भी यहीँ तक है। अतएव् हिन्दुधर्म के इस विशालस्तर पर अवस्थिति कर धर्म की सुशीतल छाया में सभी तृप्त हो रहे हैं।

जातिभेद

अन्यान्य धर्मसम्प्रदाय हिन्दुधर्म में जातिभेदप्रथा प्रचलित देखकर हिन्दुओं को अज्ञानी कुसंस्काराच्छन्न समझते हैं। और हमारे देश में एक श्रेणी के लोग आहार-विहार में सुश्रृङ्खला के लिए जातिभेदप्रथा के उच्छेदसाधन में प्रयासरत हैं। जातिभेदप्रथा के भीतर हिन्दुधर्म का क्या महान् उद्देश्य निहित है, अदूरदर्शी व्यक्ति यह नहीं जानते। वे समझते हैं, मिथ्या जातिभेदप्रथा के प्रवर्तन के द्वारा हिन्दुओं ने विविध सामाजिक असुविधाओं की सृष्टि की है। किन्तु हिन्दुधर्म क्या कहता है सुनिये—

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्रह्ममयं* जगत्।

—महाभारत, शान्तिपर्व, १८८।१०

पहले वर्णविभाग नहीं थे, सबकुछ ब्रह्ममय था। किन्तु बाद में—

ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्।।

—महाभारत, शान्तिपर्व, १८८।१०

कर्मद्वारा वर्णविभाग हुए हैं। गीता में भगवान् ने कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

—श्रीमद्भगवद्गीता, ४।१३

---

* क्वचित् 'ब्राह्ममिदम्' इति पाठान्तरम्।—अनुवादक

मैंने गुण और कर्म के विभागानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों की सृष्टि की है।* ऐसा होने पर जाति के द्वारा गुण और कर्म का परिचय मिलता है। ऋग्वेदसंहिता के दशम मण्डल के नवतितम सुक्त में उक्त है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥ १०।९०।१२

—विराट्पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, ऊरु से वैश्य, पद से शूद्र जन्मे।

इसका भावार्थ यह है,—अध्ययन-अध्यापनरूप कार्यप्रधान ब्राह्मण हैं विराट्पुरुष के अर्थात् जीवमय जगत् के मुखस्वरूप। बाहुबलप्रधान क्षत्रिय हैं समाज के बाहुस्वरूप। ऊरुबलप्रधान वैश्य हैं समाज के ऊरुस्वरूप। और भृत्यभावापन्न शूद्र समाज की पदसेवा के लिए उत्पन्न हुए हैं। अपिच ज्ञानशिक्षा देना मौखिक कार्य है, अतएव ब्राह्मण मुखस्वरूप हैं। युद्धादि कार्य बाहुबलसाध्य हैं, अतः क्षत्रिय बाहुस्वरूप हैं। वाणिज्य करना ऊरुबलसापेक्ष है, इसलिए वैश्य ऊरुस्वरूप हैं। चाकरी प्रभृति दूसरों की सेवा के लिए ही शूद्र पादस्वरूप हैं। अतएव हिन्दुसमाज ने गुण और कर्मभेद से जातिभेद को स्वीकार किया है।

गुण और कर्मक्षय के लिए जो साधना है, वही स्वधर्म है। स्वधर्माचरण से गुण और कर्म का क्षय कर जीव को तत्त्वज्ञान लाभ करना होता है। तभी हिन्दुधर्म में गुण और कर्म के विभागानुसार धर्मभेद या जातिभेद स्वीकृत हुए हैं। यह अधिकारभेद ही जातिभेद की मूल भित्ति है। अन्य धर्मसम्प्रदायों में ज्ञानी-अज्ञानियों के लिए एक ही धर्मप्रणाली निर्दिष्ट रहने से वे एक जाति

* भगवान् के द्वारा जब जातिभेद हुए हैं, तब भारतवर्ष ही नहीं, अन्यान्य देशों में भी जातिभेद हैं। पृथ्वी पर सर्वत्र ही इन चार श्रेणियों के मनुष्य दृष्टिगोचर होते हैं, इसे सामान्य चिन्तन से ही समझ सकेंगे। वरन् हमारी ही जाति और गुणकर्म ठीक नहीं है।

में परिणत हो गये हैं। किन्तु हिन्दुसम्प्रदाय में गुण और कर्मानुसार धर्मविभाग होने से जातिविभाग हो गये हैं। हिन्दुधर्म के साधारण जनगण के धर्म में अधिकारानुसार नाना खण्डों में विभक्त होने से हिन्दुसमाज नाना जातियों में परिणत हो गया है। परस्पर के ये गुण और कर्म परस्परों में अलग-अलग रखने के लिए ही विशेषरूप से जातिभेद प्रवर्तित हुए हैं।

जातिभेदप्रथा नहीं रहने से, सबके गुण और कर्म एक हो जाते। जो व्यक्ति जो कर्म करता है, वह उसी की चर्चा किया करता है। अतएव एक जाति के साथ और एक जाति का आहार-विहार और वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होने से परस्पर गुण और कर्म की चर्चा होती। इसके फलस्वरूप उच्च जाति इतर गुण और कर्म की पक्षपाती होती एवं नीच जाति में बुद्धिविभेद हो जाता। इसी कारण हिन्दुसमाज के मनीषियों ने गुण और कर्म की स्वतन्त्रता की रक्षा के उद्देश्य से जातिभेदप्रथा प्रवर्तन एवं नानाविध विधि-निषेध द्वारा उसकी रक्षा करने का उपाय कर दिया है। पाठक ! अधिकारभेद का महान् उद्देश्य समझे रहने पर जातिभेद का कारण बोधगम्य होगा। जातिभेदप्रथा न रहने से अधिकारानुसार धर्मसाधना-प्रणाली की विभिन्नता स्थायी नहीं होती।

बड़े ही दुःख का विषय है,—एक श्रेणी के दुर्बलचित्त लोग कहा करते हैं कि ब्राह्मणजाति की स्वार्थरक्षा के लिए ही जातिभेदप्रथा प्रवर्तित हुई है। यदि स्वार्थपरता ही जातिभेद की मूल होती, तो शूद्रादि के याजन और दानग्रहण से ब्राह्मण का पातित्य-विधान शास्त्रसिद्ध क्यों हुआ ? शास्त्रों में परस्वग्राही की भूरि भूरि निन्दा है। जो ब्राह्मण चाहने पर जगत् के सम्राट हो सकते थे, उन्होंने पर्णकुटी में रहकर फलमूल भक्षण से कालयापन क्यों किया ? क्या यह लोभ-परिहार का ज्वलन्त प्रमाण नहीं है ? अलौकिक शक्ति लेकर जन्मग्रहण करके भी उन्होंने शृगाल-कुक्कुर के समान भोग्यवस्तु को लेकर विवाद या झगड़ा नहीं किया, क्या यह उनके देवत्व का परिचय नहीं है ? किन्तु परिवर्तनशील जगत् में सभी चक्रनेमि के समान परिवर्तित

होते हैं। इसीलिए अभी ब्राह्मण लोभ के क्रीतदास हो गये हैं। जो ब्राह्मण पृथ्वी के देवता (भूदेव) थे, आज उनके वंशधरों में घृणित परपदलेहन-वृत्ति ही एकमात्र कर्त्तव्य हो गयी है। मिथ्या, वञ्चना और चौर्यादि का अभाव भी दिखाई नहीं देता है। एक-एक के प्रति नजर डालने पर ब्राह्मणत्व तो दूर, मनुष्यत्व में भी सन्देह होता है। गुरु-पुरोहितों की अवस्था भी शोचनीय हो गयी है। जो जितना ही अधिक निरक्षर और वञ्चक है, वह अपने को उसी परिमाण में उपयुक्त समझता है। तब जातिभेदप्रथा प्रचलित रहने से ही हिन्दुधर्म की स्वतन्त्रता की रक्षा हो रही है। नहीं तो हिन्दुओं का नाम आकाश में विलीन हो जाता। हिन्दुसमाज अधोगति की अन्तिम सीमा पर आ तो अवश्य गया है, किन्तु जातीय पार्थक्य का ध्वंस नहीं हुआ है—अपना-अपना जातीय महत्त्व बरकरार है। मेरे निकट धर्मजिज्ञासु होकर जो पत्र लिखते हैं या साक्षात्कार करते हैं, वे प्रायः सभी ब्राह्मण, कायस्थ और वैद्यवंशसम्भूत हैं, उनमें फिर अधिकांश ही ब्राह्मण-सन्तान हैं। तब यह अवश्य ही स्वीकार करता हूँ कि सभी श्रेणियों में ही देवता और नरक के कीट हैं। हमारा देश सुशासित है, किन्तु समाज अभी भी स्वेच्छाचारी और उच्छृङ्खल है ; जातिगत कार्यभेद का अतिक्रमण ही इस सर्वनाश का मूल है।

पाठक ! हिन्दुधर्म में जातिभेद का कारण और उसके द्वारा हिन्दुधर्म का क्या महान् उद्देश्य सिद्ध हो रहा है, शायद आप समझ गये होंगे। हिन्दुधर्मानुसार स्व स्व गुणानुसार धर्मकार्य करना कर्तव्य है, नहीं करने से प्रत्यवाय है। क्योंकि, ब्राह्मणादि का धर्म सुन्दर होने पर भी शूद्रादि को ब्राह्मण्य धर्म का आचरण करना कर्तव्य नहीं है। उससे स्वगुण का क्षय नहीं होता है ; गुणक्षय के न होने से, उसकी क्रिया एक-न-एक समय होगी ही होगी। तभी स्व स्व गुण और कर्म स्वतन्त्र रखना ही जातिभेद का मुख्य उद्देश्य है। किन्तु फिर भी हिन्दू जानते हैं, मिथ्यामय जगत् में जातिभेद की कल्पना मरीचिका-

तरङ्ग से भिन्न और कुछ भी नहीं है। भ्रान्तिमय जगत् का सबकुछ ही मिथ्या है। नदी-पर्वतों से अलङ्कृता पृथ्वी अथवा चन्द्रसूर्यनक्षत्रादि विभूषित आकाश, जिधर भी देखो, वही मिथ्या है। एक आत्ममय जगत् में मनुष्य-पश्वादि की भेद-कल्पना भी मिथ्या है, अतएव जातिभेद के कल्पित होने में कोई सन्देह नहीं है।

सिर्फ निम्नाधिकारी स्वधर्माचारी लोगों के लिए जातिभेदप्रथा प्रचलित हुई है। स्वधर्माचरण से जिनके गुण और कर्म क्षय हुए हैं, उनके लिए वर्णाश्रम के विधि-निषेध की सीमा नहीं है। अतः शास्त्रों ने कहा है—

वर्णाश्रमाभिमानेन श्रुतिदासो भवेन्नरः।
वर्णाश्रमविहीनश्च वर्तते श्रुतिमूर्धनि।*

—अज्ञानबोधिनी, २४

हिन्दुधर्म में विधि-निषेध

हिन्दुओं में सामान्य जनों की धर्माचरणपद्धति में विधि-निषेध और नियम-संयम का सुदृढ़ विधान दृष्टिगोचर होने से कई सोचते हैं—उपवास, प्रायश्चित, पृथ्वी के समस्त सुखों से वैराग्य और आत्मपीड़न ही शायद धर्म है। किन्तु हिन्दू जानते हैं, हिन्दुधर्म आत्मपीड़न नहीं है—अपना उन्नतिसाधन, अपना आनन्दवर्धन ही उसका मूल कारण है। भगवान् में भक्ति, जीवों में प्रीति एवं हृदय में शान्ति या इन्द्रियशक्ति की सम्यक् स्फूर्ति, परिणति और सामञ्जस्य—यही धर्म है। भक्ति, प्रीति और शान्ति इन तीन शब्दों से जो वस्तु चित्रित हुई हो, उसकी मोहिनी मूर्ति की अपेक्षा जगत् में और क्या मनोहर है ? किन्तु यह भी स्मरण रखना उचित है, कि आरम्भ में कुछ दुःख-

* कोलकाता 'वसुमती' प्रकाशित 'शङ्कराचार्येर ग्रन्थमाला' में 'अज्ञानबोधिनी' शीर्षक में उदाहृत श्लोक।—अनुवादक

कष्ट न सहने पर कोई भी सुख नहीं मिलता। भोगविलासोन्मत्त व्यक्ति जिस इन्द्रियतृप्ति को ही सुख समझता है, उसके भी उपादानों को यत्न और कष्ट से आहरण किया जाता है। धर्मालोचना में जो असीम अनिर्वचनीय आनन्द है, उसके उपभोग के लिए आवश्यक है—धर्म-मन्दिर के निम्नसोपान पर जो सारे कठिन और कर्कश तत्त्व बन्धुर प्रस्तर के समान हैं, उन्हें पहले अपना आयत्त करना होगा। इसी कारण हिन्दुधर्म के निम्नसोपान के नियमसंयम प्रवर्तित हुए हैं। इनके उद्देश्य के सम्बन्ध में आलोचना की जाय।

आहारादि शारीरिक और चित्तशुद्धि प्रभृति मानसिक हैं, इस द्विविध नियम-संयम से हिन्दुधर्म गठित है। पहले आहारादि विषयों पर विचार किया जाय।

आहार्य द्रव्य के साथ शरीर का विशेष सम्बन्ध है, फिर शरीर स्वस्थ न रहने से कुछ भी नहीं होता।

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।

—आयुर्वेद, चरक सं०, १।१५

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस चतुर्वर्ग को प्राप्त करने के लिए हर प्रकार से शरीर को आरोग्य रखना नितान्त कर्तव्य है। शरीर के पीड़ाग्रस्त या अकर्मण्य हो जाने से कोई भी कार्य नहीं होता। किन्तु शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आहार के विषय में विशेष सावधान रहना पड़ता है। तभी आर्यशास्त्रकारों ने, जिससे शरीर को स्वस्थ और सबल रख धर्माचरण किया जाय, उसीके उद्देश्य से देशभेद से, वयोभेद से, कार्यभेद से आहार में तारतम्य कर दिया है। एक देश में जो द्रव्य भोजन करने से शरीर स्वस्थ और नीरोग रहता है, अन्य देश में हो सकता कि वह भोजन करने से तद्विपरीत फल भी हुआ करता है। देश का प्राकृतिक धर्म निरूपण कर खाद्यादि का विषय स्थिर करना पड़ेगा। जलवायुभेदानुसार आहार में पार्थक्य होना उचित है। शीतप्रधान देश में जो खाद्य भोजन करने से देह की पुष्टि,

धर्मबुद्धि की उन्नति और मानसिक बल का सञ्चय होता है, ग्रीष्मप्रधान देश में वह भोजन करने से शरीर का क्षय, बुद्धि की जड़ता और धर्मप्रवृत्ति क्षीण हुआ करती है। इसीलिए शीतप्रधान देश के मत्स्य, मांस, प्याज, लहसुन और सुरा प्रभृति खाद्य उष्णप्रधान देश में एकान्त अहितकर हैं। अहितकर होने के ही कारण ये सारे आहार्य के व्यवहार निषिद्ध हुए हैं। देश की प्रकृति की आलोचना कर इस देश के शास्त्रकारों ने शरीरविज्ञान के साथ सामञ्जस्य रख आहार के सम्बन्ध में जो सारे विधि-निषेध किये हैं, उनका प्रतिपालन करना सर्वदा कर्तव्य है। मात्र इन्द्रियप्रीतिकर खाद्य भक्षण करना आहार का चरमोद्देश्य नहीं है। तभी हिन्दुशास्त्रों ने कहा है—

इन्द्रियप्रीतिजननं वृथापाकं विवर्जयेत्।

—केवलमात्र इन्द्रियप्रीतिजनक इस प्रकार के वृथा पाक का परित्याग करें।

ओजस्करं शरीरस्य चेतसः परितोषदम्।
धर्मभावोद्दीपनं यत् तत् सुपथ्यतमं विदुः॥
शरीरं चीयते येन क्षीयते रोगसन्ततिः।
सन्मतिर्जायते यस्मात् तत् सुपथ्यतमं विदुः॥

—जो शरीर के लिए शक्तिदायक, चित्त के लिए प्रसन्नतादायक, धर्मबुद्धि का उद्दीपक, उसे ही पण्डितों ने सुपथ्य कहकर निर्णय किया है। जिसके द्वारा शरीर बलशाली होता है, रोगसमुदाय दूरीभूत होता है, सत्प्रवृत्ति और सद्बुद्धि उपचित होती है, पण्डितों के मतानुसार वही सुपथ्य है।

इहामुत्र सुखं यस्मात् तदेवाद्यं प्रयत्नतः।
आयुष्कामेन हातव्यं तदन्यद्गरलं यथा॥

—जिसके द्वारा इहजीवन में सुख और परजीवन में शान्तिलाभ होता है, वही भोजन करना कर्तव्य है। आयुष्काम व्यक्ति इनके अतिरिक्त यावतीय आहार्य गरल के समान परित्याग करें।

कार्यभेद से भी आहार का तारतम्य है। जिन्हें युद्धादि कर देश की रक्षा करनी होगी, समाजसंरक्षण करना होगा, नररक्त से धरा रञ्जित करनी होगी, उनके लिए मृगया या मांसभक्षण दूषणीय नहीं हो सकता। वीरत्व, उत्साहशीलता, बलवत्ता प्रभृति राजसी गुणबर्धक द्रव्य उनके आहार्य हैं। रजोगुणवर्धक द्रव्य के भोजन व्यतिरेक राजसी प्रवृत्ति का वर्धन नहीं होता। किन्तु भगवद्भक्तिपरायण ज्ञानानुशीलननिरत व्यक्तियों के लिए कभी भी मांसादि का आहार हितकर नहीं है। उनके हृदयों में सत्त्वगुण वर्धन की आवश्यकता है, अतएव उनको सत्त्वगुणवर्धक आहार्य का भक्षण करना ही कर्तव्य है ; तभी हिन्दुधर्म में ब्राह्मण, क्षत्रिय प्रभृति जातिभेदों से आहार में विभेद निर्धारित हुए हैं।

इसके अतिरिक्त एकादशी, अमावस्या और पूर्णिमा का निशिपालन प्रभृतियाँ अन्यान्य अनेक विधि-नियम हिन्दुशास्त्रों में दृष्ट होते हैं। तिथि आदि के भेद से भिन्न-भिन्न वस्तुओं के भक्षण की भी व्यवस्था है। इन समस्त सामान्य सामान्य कारणों के उद्देश्य आजकाल अनेके ही समझ पा रहे हैं। आधुनिक शरीरतत्त्वविद् पण्डितगण दुग्ध के सम्बन्ध में कहते हैं, 'गाय या बछड़े के रुग्ण होने पर, सद्यप्रसूता गाय का, किम्बा फूँका हुआ* दुग्ध शरीर के लिए अहितकर होता है।' किन्तु बहुत पहले हिन्दुशास्त्रकारगण लिख गये हैं—

वर्जयेत्† सन्धिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः।

—मनुसंहिता, ५।८

---

* गाय की योनि में नल लगाकर क्रमशः फूँक लगाकर अधिक दूध दुहने की प्रक्रिया विशेष (इससे गाय प्रचुर दूध देती है, लेकिन बाँझ हो जाती है)। —अनुवादक

† केवल निषिद्ध गाय का दूध दिखाने के लिए यहाँ "आविकं" के स्थान पर "वर्जयेत्" यह अर्थतः पाठ किया गया है। —अनुवादक

अतएव हिन्दुधर्म में आहारादि के सम्बन्ध में जो विधि-निषेध हैं, उसका एक बिन्दु भी मिथ्या या कुसंस्कार नहीं है। उच्छिष्टभक्षण, जिसका-तिसका अन्नग्रहण हिन्दुशास्त्रों में बिल्कुल निषिद्ध हैं। इन समस्त छोटे-छोटे विषयों का सम्यक् तत्त्व निर्धारण करने में पाश्चात्य जड़तत्त्वविदों को अभी भी अनेक दिन लगेंगे।

आशा करता हूँ अतःपर हिन्दुगण देशीय आचार-व्यवहारानुसार चलना कदापि नहीं भूलेंगे।

हिन्दुधर्म में जिस प्रकार अधिकारभेदानुसार साधनाप्रणालियों में पार्थक्य है, उसी प्रकार देशभेदों से, कार्यभेदों से भी आहारादि में पार्थक्यविधान रहा है। मगर फिर भी धर्मसाधना की प्रणालियों के भेद से नियम-संयम में भी कठोरता है।

हिन्दुधर्म का सार है चित्तशुद्धि। जो लोग हिन्दुधर्म के यथार्थ मर्मग्रहण के इच्छुक हैं, उन्हें इन बातों के प्रति विशेष ध्यान देना होगा। जिनकी चित्तशुद्धि नहीं हुई है, वे उच्चधर्म तक नहीं उठ पाते। चित्तशुद्धि की साधना ही हिन्दुधर्म का प्रधान साधना और मूल बातें हैं। इन्द्रियदमन और रिपुसंयम न कर पाने से हिन्दुधर्म के साधनापथ पर अग्रसर नहीं हुआ जाता। अतएव यह चित्तशुद्धि की साधना ही प्रवृत्तिपथ का संयम और तपस्या है।

मन के वशीभूत न होने पर कोई भी काम नहीं होता है। सामान्य जनगण की साधना-प्रणाली के जितने सब अनुष्ठान हैं, सभी चित्तवृत्ति के निरोधपूर्वक मनोजय उद्देश्य से हैं। मदमत्तमातङ्गसदृश प्रमत्त मन को जय करना अत्यन्त कठिन है। भगवान् ने कहा है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।

—श्रीमद्भगवद्गीता, ६।३५

हे महाबाहो! चञ्चलत्वादि प्रतिबन्धकता के कारण मन को वशीभूत करना एक तरह से असाध्य है।

इन्द्रियों के अप्रतिहत प्रभाव से एकबार यथेच्छाचारी हो जाने पर उन्हें पुनः स्ववश में लाना साध्यातीत होता है। इन्द्रियों के चपलतावृत्ति का परित्याग कर स्थिरभाव धारण न करने से ज्ञान प्रकाश नहीं पा सकता। किन्तु—

संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति।

—मनुसंहिता, २।९३

इन्द्रिय-निग्रह कर पाने से अनायास ही सकल विषयों में सिद्धिलाभ हुआ करता है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, २।६०

विवेकी व्यक्ति यद्यपि मोक्ष के प्रति यत्न आरम्भ करते हैं, तथापि क्षोभ-कारक इन्द्रियवर्ग बलपूर्वक विषयों में आकर्षित करता है। अतएव—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, २।६१

—यत्नपूर्वक उन सकल इन्द्रियों को संयम कर मुझमें (परमेश्वर में) एकमना हुए रहोगे, क्योंकि इन्द्रियाँ जिसकी वशीभूत होती हैं उसी का ज्ञान स्थिर होता है।

भीष्मदेव ने युधिष्ठिर से कहा है—

दुरन्तेष्विन्द्रियार्थेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः।
ये त्वसक्ता महात्मानस्ते यान्ति परमां गतिम्॥

—महाभारत, शान्तिपर्व, २१५।१

—मानवगण इन्द्रियसुख में आसक्त होकर एक समय अवसन्न हो उठते हैं। जो महात्मागण उस सुख में आसक्त नहीं होते हैं, वे ही परमगति लाभ कर सकते हैं।

इन सारे महान् तत्त्वों से अवगत होकर हिन्दुओं ने नियम-संयम की कठोरता का विधान किया है। जिसका चित्त शमित और इन्द्रियाँ दमित नहीं हुई हैं, वह सर्वशास्त्रवित् होकर भी घोर मूर्ख है।* जिसका रिपु-शासन और इन्द्रिय-दमन नहीं हुआ है, वह किसी भी पथ में ग्रहणीय नहीं है। और जो संयमी है, जिसकी चित्तशुद्धि हुई है, वह हिन्दु-समाज में और हिन्दुमत से साधु कहलाता है और सभी पथों पर अग्रगण्य हो सकता है। संयमी होकर प्रवृत्ति को भक्तिपथ में ईश्वरपरायण कर लाना ही हिन्दुधर्म का प्रधान उद्देश्य है।

किन्तु यही कहकर हिन्दुधर्म किसी को भी सदा के लिए ब्रह्मचर्य के कठोर संयम में बाँधकर नहीं रखना चाहता। जितने दिन चित्त शमित और इन्द्रिय दमित नहीं होती, उतने दिन मानव विधि-नियमों का दास है। किन्तु मनोजय होकर प्रज्ञा प्रतिष्ठित होनेपर और उसका प्रयोजन नहीं रह जाता। यथा—

तावत् विद्या भवेत् सर्वा यावत् ज्ञानं न जायते।

—जबतक तत्त्वज्ञान नहीं जन्मता, तबतक शास्त्रों का आधिपत्य रहता है। जिस प्रकार वन के एक पक्षी को पकड़कर पहले विशेष सावधानी से पिंजरे में आबद्ध रखना पड़ता है, किन्तु "पोष" मान लेने पर और सतर्कता

---

* महात्मा तुलसीदास ने कहा है—

काम क्रोध मद लोभ की जब तक मन में खान।
तब तक पण्डित-मुरखौ तुलसी एक समान॥

मानवों के चित्तक्षेत्र में जबतक काम, क्रोध, मद एवं लोभ की खान विद्यमान होगी, तबतक पण्डित-मुर्ख उभय ही समान हैं।

की आवश्यकता नहीं रह जाती है, वह तब स्वेच्छानुसार उड़कर अपने स्थान पर आ जायेगा; उसी प्रकार मन को प्रथमावस्था में विशेष सतर्कता के साथ नियम-संयम अथवा विधि-निषेध की सीमा में रखो, तत्पश्चात् चित्त के वशीभूत हो जाने पर फिर सीमा में कैद रखने की आवश्यकता नहीं रह जाती। तभी शुकदेव ने कहा है—

भेदाभेदौ सपदि गलितौ पुण्यपापे विशीर्णे
मायामोहौ क्षयमधिगतौ नष्टसन्देहवृत्तौ।
शब्दातीतं त्रिगुणरहितं प्राप्य तत्त्वावबोधं
निस्त्रैगुण्यपथि विचरतां को विधिः को निषेधः॥

—शुकाष्टकम्, १*

जो सारे महात्मागण तत्त्वज्ञान लाभ कर निस्त्रैगुण्यपथ में विचरण करते हैं, उनके लिए कुछ भी भेदाभेद नहीं है। उनके अभेदज्ञानद्वारा भेदज्ञान का नाश करने के पश्चात् अभेदज्ञान भी स्वयं नाशप्राप्त हो जाता है। इस प्रकार से पापपुण्य विशीर्ण हो जाते हैं, धर्माधर्म क्षयप्राप्त होते हैं, संसार एवं वृत्ति अर्थात् इन्द्रियादि का धर्मसमुदाय विनष्ट हो जाता है। तब वे केवल शब्दातीत और गुणत्रयशून्य ब्रह्मतत्त्व ज्ञात होकर विचरण करते रहते हैं। उस अवस्था में वेदादि शास्त्रों के विधि-निषेधद्वारा और बन्धन सम्भव नहीं होता।

अतएव जबतक तत्त्वज्ञान समुत्पन्न नहीं होता, तबतक इन्द्रियसंयम के लिए विधि-निषेध के अधीन रहना होगा। हिन्दुधर्म की प्रत्येक विधि प्रातःकाल से लेकर रात्रि में शयन के पूर्व तक सभी कार्यों में अज्ञात रूप से हिन्दुओं को संयम की शिक्षा दे रही है।†

---

* 'शुकाष्टकम्' स्वामी गङ्गाधरेन्द्रानन्द सरस्वती प्रणीत है। [ऋषिकेश कैलासाश्रम प्रकाशित बृहदारण्यकोपनिषद् के अन्त में उद्धृत है।]—अनुवादक

† मेरे रचित 'ब्रह्मचर्य-साधन' पुस्तक में इसके सम्बन्ध में सविशेष आलोचना की गई है।

गुरु की प्रयोजनीयता

पृथ्वी के मानवसमाज में जिस प्रकार विद्याशिक्षा की प्रणाली है, हिन्दुसमाज में उसी प्रकार स्वतन्त्र धर्मशिक्षा की प्रणाली है। विद्याशिक्षार्थ जिस प्रकार पहले वर्णपरिचय की आवश्यकता होती है, धर्मशिक्षार्थ उसी प्रकार पहले वर्णपरिचय की आवश्यकता है। वही वर्णपरिचय देवी-देवता की पूजा के व्रतानुष्ठान एवं प्रवृत्तिपथ में नाना क्रियाकलापों द्वारा पहले आरब्ध किया जाता है। आरम्भ कराने के लिए हिन्दुसमाज में धर्मशिक्षार्थ स्वतन्त्र गुरुगण निर्दिष्ट हैं। क्योंकि गुरु के बिना आनुष्ठानिक धर्म की ओर एक पग भी अग्रसर होना सम्भव नहीं है। जिस प्रकार विद्याशिक्षार्थ पहले पाठशाला में गुरु शिष्य के हाथ में खड़ी देकर हाथ पकड़कर उसे लिखना सिखाते हैं, तत्पश्चात् सामान्य गुरु के निकट पढ़ने और लिखने की शिक्षा लेनी होती है, वैसे ही धर्मशिक्षार्थ पहले कुलगुरु के निकट धर्मानुष्ठान और पूजा-पद्धति का आरम्भ करना होता है। इस पूजा-पद्धति और धर्मकर्मानुष्ठान की शिक्षा यह है कि समस्त कर्मफल को भगवच्चरणों में समर्पित करो। विद्याशिक्षा में बालक के अग्रवर्ती होकर आने पर जिस प्रकार उत्तरोत्तर अच्छे-अच्छे शिक्षकों का प्रयोजन होता है, हिन्दुसमाज में धर्मशिक्षाप्रणाली में भी ऐसी ही बात है। पाठशाला के गुरुजनों को जिस प्रकार विशिष्टरूप से पण्डित नहीं होने पर भी चलता है, उसी प्रकार कुलगुरु के विशिष्टरूप से तत्त्वज्ञानी नहीं होने पर भी चल जाता है। वे पहले धर्मानुष्ठान का स्लेट पेन्सिल ही देते हैं मात्र। उसके लिए जितने पाण्डित्य या कार्यदक्षता का प्रयोजन होता है, उतना भी हो तो पर्याप्त है। फिर भी कुलगुरुगण अगर अधिकतर पण्डित या कार्यकुशल हों, तब तो और भी अच्छा। उनके निकट धर्मशिक्षा समाप्त कर ज्ञानलाभार्थी शिष्य अन्य गुरु का आश्रय ग्रहण करेगा। तभी महायोगी महेश्वर ने कहा है—

मधुलुब्धो यथा भृङ्गः पुष्पात् पुष्पान्तरं व्रजेत्।
ज्ञानलुब्धस्तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं व्रजेत्॥
—कामाख्यातन्त्र, ५।२३ (निरुत्तरतन्त्र, १२।२९)

—मधु के लोभ में भ्रमर जिस प्रकार एक फूल से अन्यान्य फूलों पर गमन करता है, उसी प्रकार ज्ञानलुब्ध शिष्य नाना गुरुओं का आश्रय ग्रहण करेगा।

अतएव सभी पहले कुलगुरु के निकट धर्मानुष्ठान में व्रती होकर ज्ञानलाभार्थ उपयुक्त गुरु करेंगे।

इस प्रकार क्या शाक्त, क्या वैष्णव, क्या सौर, क्या गाणपत्य, क्या तान्त्रिक—हिन्दुधर्म के सर्वसम्प्रदायभुक्त जनगण अपनी-अपनी धर्मसाधना के पथपर गुरु के उपदेशानुसार अनुष्ठानादि कर धर्माचार द्वारा परिशुद्ध होते रहते हैं। परिशुद्ध न हो पाने पर अपने-अपने साम्प्रदायिक धर्म के उच्चादर्श पर नहीं उठा जाता है। उच्चादर्श पर पहुँचने पर तब हिन्दुधर्म के उच्चशिखर पर पहुँचा जा सकता है। इस उच्चदेश में हिन्दुधर्म के परमनिवृत्तिपथ का संन्यासधर्म है। इस संन्यास में आकर सर्वसाम्प्रदायिक जनगण एकत्र हो जाते हैं, उसी संन्यासधर्म में ब्रह्मतन्मयता भिन्न और कुछ भी नहीं है। उस ब्रह्मतन्मयता में ब्रह्ममय विश्व की पूजा और प्रेम है ; उस विश्वप्रेम में समदर्शी होता है। उस समदर्शिता में विश्व और ब्रह्म एक हैं।

हिन्दुधर्म के इस शिखर पर लाने के लिए प्रतिसाम्प्रदायिक धर्म में विभिन्न धर्माचार हैं ; वरना सारे पथ एक हैं, केवल प्रकरण विभिन्नमात्र हैं। उन्हीं समस्त प्रकरणों में सुशिक्षित कर लाने के लिए यदि क्रम से उच्चाधिकार में अधिकतर ज्ञानी गुरुओं की आवश्यकता होती है, तो उसी प्रकार के गुरुओं के निकट धर्मशिक्षा पाने में किसी भी सम्प्रदाय की कोई आपत्ति नहीं होती। जो जिस कुल में जन्मे हैं, उनको उसी कुल के गुरु के निकट पहले धर्मशिक्षा आरम्भ करनी होगी, यही मात्र नियम है। इसके द्वारा शिष्य और गुरु के उभय कुल सुरक्षित रहते हैं।

प्रथम धर्मशिक्षा के आरम्भ को हिन्दुधर्म के मतानुसार दीक्षा कहते हैं। तभी दीक्षागुरु, शिक्षागुरु एवं परमगुरु के भेदानुसार हिन्दुधर्म के गुरु त्रिविध हैं। 'गुरु' शब्द से पुरोहित को भी समझा जाता है; माता-पिता भी गुरुपदवाच्य हैं। वे भी उपदेश से, अनुष्ठान से एवं आदर्श से सन्तान-सन्ततिगण को धर्मकर्म में सुशिक्षित करते हैं। कुलगुरु के निकट दीक्षित होकर प्रबुद्ध होनेपर जिसमें धर्मज्ञानलाभ करने की प्यास जन्मती है, उसके लिए शिक्षागुरु का प्रयोजन है; अनुसन्धान करने पर इस प्रकार के शिक्षागुरुओं का अभाव नहीं होता है। आज भी किसी को अभाव नहीं है। सभीने समयानुक्रम से अपने अपने अधिकारानुसार गुरुलाभ किया है। फिर भी एक ही गुरु के निकट सर्वशास्त्रज्ञान सर्वधर्मपद्धति लाभ नहीं भी सम्भव है, ऐसी स्थिति में भिन्न-भिन्न गुरुओं को खोज निकालना पड़ता है। उपयुक्त गुरु विरल हैं और दुष्प्राप्य भी हैं अवश्य, किन्तु खोजने पर बिल्कुल ही नहीं पाये जाते, यह विश्वास करना कठिन है। मैं भुक्तभोगी हूँ, अतः जानता हूँ, इस प्रकार के गुरु अनेक समय अपने आप मिल जाते हैं। जो जिस पथ में रहता है, वह उस पथ की आलोचना करते-करते एक समय ऐसा आयेगा, कि उसे अपने आप गुरुलाभ हो जायेगा। और स्वयं ईश्वर ही परमगुरु हैं, उसी ईश्वर के या ईश्वरसम आप्तगणों के उपदेश ही हिन्दुशास्त्र हैं। इसलिए भगवान् ने कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।

—श्रीमद्भगवद्गीता, १६।२३

—जो व्यक्ति शास्त्रविधि परित्यागपूर्वक स्वेच्छाचारी होकर कार्य करता है, उसकी चित्तशुद्धि नहीं होती, वह इहलोक में सुख और परलोक में परमगति प्राप्त नहीं कर सकता है।

जो लोग स्वकपोलकल्पित धर्ममत की असार भित्ति का अवलम्बन कर जातीय शास्त्र अग्राह्यपूर्वक अहंभाव से हिन्दुशास्त्रमतानुसार चलने में विमुख हैं, उन्हें भगवान् के इस महावाक्य को सर्वदा स्मरण रखने का अनुरोध करता हूँ।

अन्यान्य धर्मसम्प्रदायों में धर्मशिक्षा के लिए धर्मयाजक या धर्मप्रचारक रहने पर भी किसी भी धर्म में हिन्दुधर्म के समान सर्वसम्पूर्णता नहीं है। अतएव धर्मशिक्षाप्रणाली में भी हिन्दुधर्म ने सर्वोच्चस्थान अधिकार किया है।

शास्त्रविचार

उत्पन्न या आधुनिक समस्त धर्मों की साधना-प्रणालियाँ और नियमादि एक-एक धर्मग्रन्थ में निबद्ध हैं। वे सब धर्मग्रन्थ हैं बाइबिल, कुरान, त्रिपिटक प्रभृति। हिन्दुधर्म की शाखा-प्रशाखाएँ इतनी अधिक हैं कि, वे किसी निर्दिष्ट ग्रन्थ में निबद्ध नहीं हो सकीं। विभिन्न अधिकारियों के लिए विभिन्न शास्त्रादेश पालनीय हुए हैं, अतः हिन्दुधर्म श्रुति, स्मृति, पुराण, तन्त्र प्रभृतियों के शासनों से शासित हुआ है। शास्त्रसकल विभिन्न होते हुए भी कोई भी श्रुति या वेदविरोधी नहीं है। जो भी वेदमूलक शास्त्रानुसारी हैं, वे ही हिन्दुधर्म की श्रेष्ठ साधनाप्रणालियाँ हैं, वे ही वेदोक्त मोक्षधाम में ले जा सकते हैं। अधिकारीभेद से वेद की भी शाखा-प्रशाखाएँ विस्तृत हैं ; किन्तु विस्तृत होने पर भी सभी एक ही मोक्षमुख हैं। अतएव हिन्दुधर्म के प्राण ये वेद ही हैं। बौद्धादि उत्पन्नधर्म वेदों के सभी नियमों से शासित नहीं होना चाहते, इसीलिए हिन्दुधर्म से उनकी भिन्नता है।

वेद-वेदान्त—वेद कर्मकाण्ड का और वेदान्त ज्ञानकाण्ड का विभाग है। वैदिक कर्मकाण्ड मनुष्य को क्रमशः निवृत्ति-पथ पर लाकर निष्काम करने की शिक्षा-प्रणाली है। निष्काम-धर्म से मनुष्य को जिस ज्ञान का उदय होता

है, उसी विवेकज्ञान से मनुष्य को ब्रह्मदर्शन-हेतु मोक्षलाभ होता है ; इसी ब्रह्मदर्शन से मनुष्य समुदाय विश्वरूप को ब्रह्ममय देखता है। वेद-वेदान्त इसी अध्यात्मविज्ञान की शिक्षाप्रणाली है, अतएव वेद प्रधानतः प्रवृत्तिपथ के एवं वेदान्त प्रधानतः ज्ञानमार्ग के पथप्रदर्शक हैं। पहले कर्म, फिर ज्ञान, इसीलिए कर्मकाण्ड को पूर्व एवं ज्ञानकाण्ड को शेषभाग कहा गया है।

दर्शनशास्त्र—दर्शनशास्त्रसमुदाय वेद-वेदान्त के प्रधान चक्षु और मीमांसाशास्त्ररूप में होने के कारण वस्तुतः ये त्रयी विद्या के दर्शन-स्वरूप हो गये हैं। ये दर्शनशास्त्र अधिकारीभेद से द्वैत, द्वैताद्वैत एवं अद्वैतवाद में विभक्त हो गये हैं। आस्तिक-नास्तिक भेदानुसार दर्शनशास्त्र द्विविध हैं। संशय न होने से किसकी मीमांसा होगी ? प्रथम पथ का परिष्कार कर देने के लिए षड्विध आस्तिक-दर्शन ने उस नास्तिकवाद का खण्डन कर वेद को प्रकृष्टरूप में प्रतिष्ठित कर दिया है।

स्मृति आदि समाज-धर्मशास्त्र—इस समाज-धर्मशास्त्र में लोकयात्रा के समुदाय कर्तव्याकर्तव्य निर्णीत हुए हैं। हिन्दुधर्म के अतिरिक्त और किसी भी धर्म में कर्तव्याकर्तव्य के निरूपण के लिए स्वतन्त्र शास्त्रों की सृष्टि नहीं देखी जाती हैं। वेदों में कर्तव्याकर्तव्य जिस प्रकार से अस्पष्ट और सूक्ष्मरूप में आभासित हुए हैं, लोकयात्रा के लिए वे पर्याप्त नहीं हैं। इसीलिए स्मृति आदि प्रत्यक्ष प्रमाण वेद-वेदान्तों से अनुमानसिद्ध कर्तव्यनिरूपक शास्त्र हैं। मनु आदि ऋषिगण इन समाजधर्म-शास्त्रों में उस कर्तव्यपथ को अतिविस्तृतरूप से विवृत कर गये हैं। इन समस्त शास्त्रों में जिन सारे कर्मकाण्डों और प्रायश्चितें की व्यवस्था है, पूर्वमीमांसादर्शन में उन्हीं की सुन्दर मीमांसा प्रदत्त हुई है। अतः शास्त्रकारों ने विज्ञानलाभ के पथ को सुप्रणालीबद्ध कर नितान्त परिष्कार कर दिया है।

भक्तिशास्त्र—दर्शनशास्त्र में जिस प्रकार कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड की मीमांसा है, हिन्दुधर्मशास्त्र में उसी प्रकार भक्तिपथ का भी स्वतन्त्र मीमांसाशास्त्र

ऋषिगण के द्वारा प्रणीत हुआ है। भक्तिपथ के भी सारे संशयों इस मीमांसाशास्त्र द्वारा खण्डित होता है। उसके द्वारा भक्तिपथ में जिस आलोकपात की सृष्टि हुई है, उसी आलोक में भक्ति के अध्यात्मवैज्ञानिक मार्ग पर चालित होकर भक्तगण परमेश्वर के दर्शनलाभपूर्वक सर्वशान्तिमय आनन्दधाम पर उपनीत होते हैं। हिन्दुधर्म में ज्ञानकाण्ड के साथ भक्ति के मिश्रित होने से हिन्दुधर्म बड़ा ही मधुर हो गया है।

अब तन्त्र, पुराण और इतिहास—इसके सम्बन्ध में थोड़ी विशद आलोचना अपेक्षित है।

तन्त्र-पुराण

वर्तमान में हिन्दुशास्त्र के तन्त्र और पुराणशास्त्रों को लेकर ही इतने सारे झमेले हैं। हिन्दुधर्म के भावुक लोगों के धर्मशास्त्र, तन्त्र और पुराण देखकर अनेक लोग इसे "आषाढ़ का गल्प" या ब्राह्मणों के स्वार्थ से रचित गल्पगाथा एवं तदुक्त विभिन्न अधिकारियों के लिए भिन्न-भिन्न साधनाप्रणालियाँ देखकर उन्हें बच्चों का गुड्डे-गुड्डी का खेल या हिन्दुओं का कुसंस्कार या अन्धविश्वास कहकर अपनी अभिज्ञता का परिचय दिया करते हैं। जिस देश में तन्त्र-पुराण का जन्म हुआ है, उस देश के लोग कितने युग-युगान्तरों से तन्त्र-पुराण के मत से पूजा और क्रियाकलापों करते आ रहे हैं, उनका प्रकृत तत्त्व और महान् उद्देश्य अन्य देशों के लोगों में समझने की शक्ति है ? क्योंकि, हिन्दुओं के पुराणादि दर्शनशास्त्र के स्थूलांश हैं। जिनकी बुद्धि में दर्शन के सूक्ष्मतत्त्व की धारणा नहीं होती है, गल्पों उदाहरणों में उनके लिए पुराणाख्यान की सृष्टि है। अतएव अदूरदर्शी अज्ञानी व्यक्तियों के निकट पुराणाख्यान आरव्य उपन्यास की कहानी ही मालूम पड़ता है। पूर्व में कह चुका हूँ, हिन्दुओं का शास्त्रोपदेश अधिकारभेद से है—इसीलिए किञ्चित् आवृत है। क्योंकि, जो अधिकारी हैं, वे ही मर्मग्रहण में सक्षम होंगे,

अनधिकारी केवल अर्थ समझकर करेंगे क्या ?—असल विषय नहीं समझ सकेंगे।

वेदों में सूक्ष्मरूप से जो योगपथ आभासित हुआ है, तन्त्र या आगम में वह योगपथ परिष्कार कर विवृत किया गया है। उसी योगपथ को सामर्थ्य देने के लिए जिन सारी शक्तियों का प्रयोजन है, इस योगशास्त्र में उन्हीं सब शक्तियों का विराट् रूप भी प्रदत्त हुआ है। श्रुति, स्मृति और दर्शनादि में सूक्ष्म बातों का प्रसङ्ग है, पुराणों और तन्त्रों में स्थूल बातों का प्रसङ्ग है। यूरोपीय विद्या में जिस प्रकार सूक्ष्म वैज्ञानिक विषयों को चित्रों के माध्यम से समझा दिया जाता है,* हिन्दुधर्मशास्त्रों में उसी प्रकार पहले विज्ञान के सूक्ष्म तत्त्वसमुदाय श्रुति-स्मृति-दर्शन में विवृत हुए हैं। तत्पश्चात् वे वैज्ञानिक सूक्ष्मतत्त्वसमुदाय तन्त्रों और पुराणों में प्रतिमाओं के स्थूल रूपों में तथा विस्तारित आकारों में खण्ड-विखण्डों में प्रदर्शित हुए हैं। तन्त्रों की शक्तिसाधना इस प्रकार योगविद्या की चित्रित छवियाँ हैं एवं पुराणों के देवी-देवताओं वैदिक ब्रह्मविद्या के खण्डित स्थूल रूप और प्रतिमाएँ हैं। सिर्फ यही नहीं, इन सारे तत्त्वों को साधकों के मन में बद्धमूल कर देने के लिए नानाविध इतिहासों की सृष्टि हुई है ; ये इतिहास त्रिविध हैं। यथा—

प्रथमतः—अध्यात्मविज्ञान के सूक्ष्मतत्त्वों को विशदकर समझाने के लिए पशु-पक्षी प्रभृति के आख्यानछल में तत्त्वोपदेश एक प्रकार का इतिहास है। इस प्रकार का इतिहास महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म द्वारा विस्तार से कथित हुआ है।

द्वितीयतः—निम्नाधिकारी लोगों के प्रबोध और शिक्षार्थ देवी-देवताओं की सृष्टि और लीलाविषयक इतिहास है।

---

* १३१३ बङ्गाब्द (१९०६ ई०) पौष मास में कलकत्ता में जातीय महासमिति (कांग्रेस) का अधिवेशन हुआ, उस अवसर पर जो शिल्पप्रदर्शनी खोली गई, उसमें सूर्य से समस्त जीव-जन्तुओं की सृष्टि-प्रणाली चित्रों की सहायता से दिखाई गयी थी।

तृतीयतः—भक्तों, साधकों और योगियों की आख्यायिका हैं। समस्त जीवनी की आख्यायिका नहीं, बल्कि उनके जीवन-चरित में जो कुछ भी असामान्य, असाधारण और देवतुल्य था, केवल वही चरितांशविषयक विवरण है। कारण, हिन्दुधर्मशास्त्रों में इतिहास का प्रतिपाद्य विषय है—परमार्थतत्त्व। अतएव अंग्रेजी में जिसे इतिहास (History) कहते हैं, आर्यशास्त्र में इतिहास शब्द का अर्थ ठीक वह नहीं है। हिन्दुशास्त्रों में इतिहास का अर्थ यह लिखा है, यथा—

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्।
पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते॥

—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस चतुर्वर्ग की प्राप्ति के उपायस्वरूप उपदेशयुक्त जो पुरावृत्त है, उसे ही इतिहास कहते हैं।

उस इतिहास का प्रतिपाद्य प्रधानतः परमार्थतत्त्व है; व्यावहारिक ज्ञान नहीं। वही तत्त्वज्ञान देने के लिए पुराणादि में अद्भुत कल्पनासम्भूत ऐतिहासिक विवरणों की सृष्टि हुई है। वह इतिहास परमार्थज्ञान का प्रवाहक मात्र है। वही समस्त आध्यात्मिक अर्थपूर्ण पारमार्थिक इतिहास—अध्यात्मजगत् की वास्तविक घटनाएँ और तत्त्वकथाएँ हैं।

उपनिषदों में सामान्याकार में जो इतिहास आरब्ध हैं, पुराणों और तन्त्रों में उनकी विस्तृत सृष्टि हुई है। इन्हीं पुराण, तन्त्र और स्मृतिशास्त्र से निम्नाधिकारी साधकों के लिए शक्तिवाद, भक्तिवाद और कर्मवाद की उत्पत्ति हुई है। जिनकी जैसी प्रवृत्ति है, वे तदनुसार एक या अन्यतर वादों का आश्रय ग्रहण कर भगवदाराधना में प्रवृत्त रहकर क्रमशः एकान्त ईश्वरपरायण होने से जब उन्हें कर्मसंन्यासयोग से विषयवैराग्य उपस्थित होता है, तब वे दार्शनिक तत्त्वज्ञान के अधिकारी होते हैं। तन्त्र और पुराण हिन्दुओं का अज्ञान-विजृम्भित शून्योच्छ्वास नहीं है।

पहले ही कह चुका हूँ, वेदों में सूक्ष्मरूप से जो योगपथ आभासित हुआ है, तन्त्रों में वही योगपथ परिष्कृतरूप से विवृत हुआ है। दक्षयज्ञ से लेकर दशमहाविद्यारूप, यज्ञनष्ट, सती का देहत्याग, शिव की साधना, मदनभस्म और कार्तिकेय का जन्म प्रभृतियाँ उपाख्यान सब आशा करता हूँ हिन्दुमात्र को अवश्य अवगत हैं। उनका सूक्ष्म तात्पर्य है योगी की योगसाधना। यहाँ मानव का मन ही दक्ष है, वह अपनी कर्मशक्ति के गर्व से स्फीत होकर ईश्वरहीन कर्म कर रहा है। सांख्यमत के प्रकृति और पुरुष यहाँ सती और शङ्कर हैं। अब कर्मशक्ति के सञ्चालन के लिए अपरा प्रकृति को बाध्य होना होगा। मानव का ईश्वरहीन कर्म ही दक्षयज्ञ है, किन्तु इस प्रकार के कर्म में ईश्वर-स्वरूप आत्मा शक्ति देनी नहीं चाहती, तभी प्रकृति ने दशमहाविद्या का रूप धारण किया है। दशमहाविद्या का रूप जागतिक ऐश्वर्यमूर्ति है ; आत्मा दशमहाविद्या या जगत् का रूप देखकर मुग्ध हो गई। प्रकृति ने कर्म के अधीन होने के कारण देहत्याग किया अर्थात् सूक्ष्मरूप में कुण्डलिनी अवस्था में स्व-आधार में महानिद्रिता हुई। यहाँ तक जीव की वर्तमान अवस्था है, तत्पश्चात् साधनापथ है, यही महादेव की तपश्चर्या है। मर्म इस प्रकार है—

योग के द्वारा आत्मा ने उन्हें जगा लिया, कुण्डलिनी जगकर षट्चक्रों का भेदन कर सहस्रारपद्म में उसके साथ विहार में रत हुई। यही जागरण सती का पुनर्जन्म है, विवाह षट्चक्रभेदन है, और सहस्रार में शिव के साथ सम्मिलन ही विहार है। उसी विहार के फलस्वरूप कार्तिक और गणपति का जन्म हुआ। इसका तात्पर्य यह है—साधक की सर्वसिद्धि उसके करतलगत है, और इस सूक्ष्म प्रकृतिपुरुष के संयोग से जिस शक्ति का उद्भव होता है, उसके द्वारा ही हृदयरूप स्वर्गराज्य से कामक्रोधादि असुरगण दूरीभूत होते हैं और दया-दाक्षिण्यादि देवशक्तियाँ रक्षित होती हैं।

व्रजलीलाओं की स्थूल घटनाओं के भी इस प्रकार के सूक्ष्मतत्त्व हैं। राधा और कृष्ण को लेकर ही व्रजलीलाएँ हैं। राध् धातु से राधा शब्द निष्पन्न हुआ है। राध्-धातु का अर्थ आराधना है, अतएव जो आराधना करते हैं वे ही राधा हैं और कृष्-धातु से कृष्ण शब्द निष्पन्न हुआ है। कृष् धातु का अर्थ है आकर्षण करना, जो साधनाकारिणी शक्ति की सर्वेन्द्रिय आकर्षित करते हैं, वे ही कृष्ण हैं। अतएव **कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्**। और राधा या आराधिका जीवात्मा है। कारण—

सोऽहं-हंसपदेनैव जीवो जपति सर्वदा।

जीवात्मा सर्वदा सोऽहं शब्द से ब्रह्मोपासना कर रही है। अतः राधा ही जीवात्मा है।

व्रजलीला का तात्पर्य—राधा कृष्ण को पतिरूप में पाने के लिए पहले कात्यायनी का व्रत करती हैं, यही जीव की कुलकुण्डलिनी की साधना है। कुण्डलिनी के जागरिता होने पर जीव को सम्यक् ज्ञानोदय होता है। तब लज्जा, शर्म, घृणा, शङ्का, कुल, मान, धर्माधर्म समस्त ही भगवच्चरणों में अर्पित हो जाते हैं, आत्माभिमान नहीं रहता है। यही पुराणों की राधा का व्रतसाङ्ग, वस्त्रहरण और वनविहार है। रास ही जीवात्मा-परमात्मा का संयोग है, तत्पश्चात् राधा ने सौ वर्षों तक समाधि में निर्गुणा होकर प्रभास के ज्ञानयज्ञ के पश्चात् पुरुषोत्तम में प्रवेश किया था।*

इस प्रकार सैकड़ों साधना-रहस्यों के सूक्ष्मतत्त्व, पुराणों और तन्त्रों में स्थूल आख्यायिका द्वारा विवृत हुए हैं। समस्त तत्त्वों का विश्लेषण करना व्यक्तिगत क्षमता के दायरे में नहीं है। पुराणों के देवी-देवताओं के स्थूल रूपों में सृष्टितत्त्व के कौन-से सूक्ष्मभाव निहित हैं, यही देखा जाय।

---

* इस तत्त्व की साधना इस ग्रन्थ के साधनाखण्ड में लिखित हुई है एवं मेरे रचित "प्रेमिकगुरु" ग्रन्थ में इन सभी तत्त्वों को विशद करके लिखा गया है।

सृष्टितत्त्व और देवता-रहस्य

यह जगत् समस्त ही ब्रह्म है। देवता, असुर, भूत, मनुष्य, वृक्ष, पर्वत, जल, वायु, अग्नि जो भी कहो,—सबकुछ ब्रह्म है।

एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम्।
सृष्टेः पुराऽधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते॥

—पञ्चदशी, ५।५

—इस परिदृश्यमान् नामरूपधारी प्रकाशमान जगत् की उत्पत्ति के पूर्व नाम-रूपादि-विवर्जित केवल एक अद्वितीय सच्चिदानन्दस्वरूप सर्वव्यापी ब्रह्म विद्यमान था। और अभी भी वह सर्वव्यापी और उसी भाव में विद्यमान है।

इस वाक्य की विशेषता यह है कि प्रत्येक प्रलयकाल में विश्वसत्ता बीजाकार में जिस निर्गुण सत्ता में परिणत होकर ब्रह्म में लीन होती है, वही सत्ता सगुण हो आकर सृष्टिकाल में जगत् के उपादानरूप में परिणत होती है। अतएव सच्चिदानन्द ब्रह्म का यही सत्तांशमात्र निर्गुण अवस्था से सगुण आकार धारण करता है।

पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतन्दिवि।

—छान्दोग्योपनिषद्, ३।१२।६

—यह समुदाय भूत उसका एक पाद है, अवशिष्ट त्रिपाद अमृत, नित्यमुक्त और द्युलोक में अवस्थित है।

अमृत क्यों ?—वह जन्ममरण के अतीत है। नित्यमुक्त क्यों ?—वह त्रिगुण के अतीत होकर निर्गुण एवं अपरिणामी हेतु नित्यमुक्त एवं वह आनन्दमय दिव्यधाम है, तभी पञ्चदशीकार ने कहा है, "वह सृष्टि के पूर्व भी जैसा था, अभी भी वैसा ही है।"

भगवान् ने जगत्सृष्टि की इच्छा करते हुए कहा, "अहं बहु स्याम्"—मैं अनेक होऊँगा।

तदैक्षत (अहं) बहु स्यां प्रजायेयेति।

—तैत्तिरीयोपनिषद्, २।६।१

उसने ईक्षण या आलोचना की, मैं अनेक होऊँगा या जन्मूँगा। ब्रह्म की ऐसी वासना सञ्जात होते ही वह प्रकटचैतन्य हुआ और वही वासना मूलातीता मूला प्रकृति हुई। यह मूला प्रकृति ही जगत् के आदि कारण है, किन्तु वह अक्षर पुरुष से स्वतन्त्र है। यह मूला प्रकृति ही तन्त्र की आद्याशक्ति एवं चैतन्य ही पुराण के महाविष्णु हैं। ये ही सांख्य के प्रकृति और पुरुष हैं। मूला प्रकृति से सत्त्व, रजः और तमोगुण का उद्भव होने से, उनसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर हुए। पुराण के मतानुसार—

महाविष्णु या नारायण के नाभिपद्म से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। भावार्थ—प्रकटचैतन्यस्वरूप नारायण जगत् के कारणस्वरूप हैं,—इसलिए प्रलयकाल में वे कारणवारि में प्रसुप्त रहते हैं। उसी कारण जगत् उन्हीं की सृष्टि है, वही कारण-जगत् पद्मस्वरूप है। पद्म का अर्थ है ब्रह्माण्ड का आभास। ब्रह्म ने स्वयं समस्त कारणों और शक्तिसमूह के द्वारा सृष्टिस्वभाव को प्राप्त होकर अपने अधिष्ठानरूप जगत् के सूत्र आभास-पद्म को लेकर सृष्टि का आरम्भ किया। ब्रह्मा ने उस पद्म को जगत्रूप में प्रकट करने के लिए उसमें आत्मारूप में गमन कर पहले तीन भागों में विभाजित किया, उन्हीं तीन विभागों में "भूः भुवः स्वः" हुए। यही पुराण के पृथ्वीलोक, पितृ या प्रेतलोक और स्वर्गलोक है। भूलोक में जीवलीला, पितृलोक में जीव का कारण एवं स्वर्ग में स्वशक्ति से आत्मावस्थान होता है। इन तीन अवस्थाओं द्वारा जीव भोगमात्र कर सकता है,—मुक्त नहीं हो सकता। आहार, निद्रा, भय, क्रोध और मैथुन—इन पाँच मायाधर्मों को भोग कहते

हैं। जीवों के इस भोगद्वारा जन्म-मृत्यु की अधीन अवस्था में लय और सृष्टि हुआ करती है। यह भोग-वासनाविवर्जित होने पर तभी मोक्ष होता है।

इस प्रकार ''भूः भुवः स्वः'' इस त्रिलोक की सृष्टि हुई थी। यही ब्रह्मा की सृष्टि है। इसीसे इस त्रिलोक की सृष्टि हुई थी। इस अदृष्ट सूक्ष्म-शक्ति को ही देवता कहा जा सकता है। सूक्ष्मजगत् क्या है ? वह जगत् का उपादान है—अर्थात् जगत् जिसमें अवस्थित है अथवा जगत् का जो बीजस्वरूप है। पञ्चमहाभूत के पञ्चीकरण से स्थूल जगत् का प्रकाश है। पञ्चमहाभूत के जो सूक्ष्मांश हैं, वे ही स्थूल जगत् के सृष्टिकर्ता देवता हैं। अतएव क्षिति, अप्, तेज, मरुत् और व्योम, ये ही पञ्चमहाभूत हैं, ये ही पुराणों के पञ्चदेवता हैं। परन्तु इनका स्थूलभाग देवता नहीं है, इनकी जो सूक्ष्मशक्तियाँ हैं, वे ही देवता हैं। इन देवताओं के सूक्ष्मांश के मिश्रण से स्थूल की उत्पत्ति हुई है, उस सूक्ष्म का विवर्तन ही स्थूल जगत् है। फिर विवर्तन से जिन सारे भूतों, जिन सारी अदृष्टशक्तियों का उद्भव हुआ है, वे भी देवता हैं। जगत् में जितने प्रकार के स्थूल पदार्थ दृष्टिगोचर हो रहे हैं, सभी के अधिष्ठाता देवता हैं।

पाश्चात्य वैज्ञानिकगण कहते हैं, ''एकमात्र अणु या परमाणु के संयोगवियोग (आणविक आकर्षण और आणविक विकर्षण) के द्वारा ही भौतिक स्थूल पदार्थों की सृष्टि संघटित होती है।'' उनके मत से जगत्सृष्टि और निर्माण के मूल में भौतिक पदार्थ (Elements) विद्यमान हैं। Elements तो स्थूल पदार्थ हैं। जिसका रूप है, वही स्थूल है। जड़विज्ञान इन Elements के ऊपर जाने में और अधिक सक्षम नहीं है। इनके मत से Elements चिच्छक्ति-रहित अचेतन अन्ध जड़शक्ति है, केवल जड़पदार्थों के संयोग से उनकी क्रियाएँ जड़जगत् में प्रकाशित होती हैं। जड़जगत् की क्रियाएँ देखकर भौतिक सकल पदार्थों का स्वरूप निर्णय करते जाना पागलपन मात्र है। जिस आकाश (Ether) द्वारा वे स्थूल जगत् में व्याप्त हैं, उसी की अन्तिम सीमा

कहाँ है, उसी का स्वरूप क्या है, उसी का तत्त्व क्या है, यह समझने की क्षमता ही जब हमें नहीं है, तब हम कैसे समझ सकेंगे कि उस आकाश या इथर के अन्तर्जगत् में फिर कौन-सी वस्तु है ? मगर इतना समझ सकते हैं कि कोई वस्तु है, अन्यथा वे सक्रिय होते हैं कैसे ?† योगियों की ध्यानधारणा के अतिरिक्त इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म शक्ति का सन्धान नहीं मिल सकता।

भारत के स्वर्णयुग में योगबलशाली आर्यऋषियों के योगतत्त्व द्वारा वे सारे सूक्ष्मतत्त्व आविष्कृत हुए थे। वे योगबल की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टिशक्ति से देख और जान सके थे कि वे यथार्थतः आधिदैविक हैं ; प्रत्येक शक्ति मूलतः सूक्ष्मजगत् में चित्-शक्तिविशिष्ट देवगणों द्वारा अधिकृत हैं। वे ही सूक्ष्मजगत् से स्थूलजगत् को ऐसे सामञ्जस्य और सुशृङ्खलता के साथ सञ्चालित करते हैं। शायद हमारे स्थूल जगत् में अमिश्र-मिश्ररूप में तैंतीस कोटि पदार्थ हैं, उनकी प्रत्येक मूल सूक्ष्मशक्ति को ही तैंतीस कोटि देवता के रूप में अभिहित किया गया है।

उन अमिश्र-मिश्र सूक्ष्मशक्तियों को ही नाम और रूप देकर पुराणकारों ने देवता के रूप में उनकी कल्पना की है। अतएव देवतागण पुराणों के रूपक हैं, किन्तु इस प्रकार के रूपक नहीं—जो नहीं या असम्भव घटनाएँ हैं वे ही विशेषकर समझाने के लिए वर्णित हुई हैं ; पुराणों में उस प्रकार के रूपक लिखे नहीं गये हैं। रङ्गमञ्च पर अभिनेता जिस प्रकार विष्णु की कार्यावली

---

† जड़विज्ञान के प्रसिद्ध पण्डित हर्वर्ट स्पेन्सर भी स्पष्टाक्षरों में अपनी अक्षमता बता चुके हैं। यथा—"Supposing him (the man of science) in every case able to resolve the appearances, properties and movements of things into manifestation of Force in space and time, he still finds that Force, Space and Time pass all understanding."

—*First principle, Page 66*

अज्ञ मनुष्यों को समझाने और बताने के लिए विष्णु सजकर उनकी लीलाओं का अभिनय करता है, उसी प्रकार सारी शक्तियाँ भी महिमा और शक्तिज्ञापनार्थ स्थूलाकार धारण करती हैं। फिर भी वे रूपक इसलिए हैं कि शक्ति या चैतन्य को रूप ग्रहण की आवश्यकता नहीं है। वह जो-रूप है, वही रूपक है। इस रूपक का ऐसा भाव, ऐसा तात्पर्यार्थ है, जिसका विश्लेषण करने पर, हम वास्तविक तत्त्व से अवगत हो सकते हैं।

सिर्फ अध्यात्मविद्या ही नहीं, बल्कि अन्यान्य जटिल तत्त्वों के भी इस प्रकार के चित्र हैं। हमारे पूर्वजों ने संगीत की राग-रागिणियों की साकार कल्पना कर उनकी ध्यान-रचना की है ; उससे प्रतिमा भी प्रस्तुत हो सकती है। मूलतानी दीपक-राग की सहधर्मिणी है ; दीपक की पार्श्ववर्तिनी रक्तवस्त्रावृता गौराङ्गी सुन्दरी है ; चित्र अनिर्वचनीय सुन्दर है। किन्तु सौन्दर्य के अतिरिक्त और एक चामत्कारिक गुण है। यह मूलतान रागिणी की यथार्थ प्रतिमा है। मूलतान रागिणी सुनने पर मन में जिस भाव का उदय होता है, इस प्रतिमा के दर्शन से ठीक वही भाव जन्मेगा। उसी प्रकार हिन्दुओं के स्वर्ग, नरक, वैकुण्ठ, कैलासादि समस्त ही अन्तर्जगत् के विषय स्थूल अवयवों में प्रकटित एवं सूक्ष्म, सगुण ब्रह्मतत्त्व स्थूल अवयवों में देवी-देवताओं के रूप में प्रतीयमान हैं। इनकी साकार प्रतिमाओं के दर्शन से उस सूक्ष्मभाव की धारणा होगी। दो-एक के उदाहरण, यथा—

विष्णुमूर्ति—महत्तत्त्व या प्रकटचैतन्य; यह वेश चतुर्भुजधारी नारायण का है। अनन्त वायुराशि नीलवर्ण दिखती है, ये भी अनन्त हैं; अतः ये नीलवर्ण हैं। चतुर्भुजों में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म है। सृष्टि का मूलीभूत जगत्केन्द्र नारायण का नाभिपद्म है। पूर्व में ही यह कह चुका हूँ। नारायण का हस्तस्थित पद्म ही सृष्टिक्रिया की, गदा लयक्रिया की, शङ्ख स्थितिक्रिया की एवं चक्र अदृष्ट (जो हर पल परिवर्तित है) क्रिया की प्रतिमा है। सूर्य, ग्रह, नक्षत्रादि उनके अलङ्कारस्वरूप हैं। विष्णु की दो पत्नियाँ लक्ष्मी और सरस्वती हैं।

लक्ष्मी आनन्द और सरस्वती चित् या ज्ञानस्वरूपा हैं। ये जगत् में अनुप्रविष्ट हैं, इसीलिए नाम विष्णु है। "विगता कुण्ठा (माया) यस्मात् स वैकुण्ठः।" इस प्रकार हृदय में वे प्रकाशित होते हैं, अतः वे वैकुण्ठवासी हैं।

इस महत्तत्त्व का स्त्रीरूप **भगवतीमूर्ति** है। यह भगवान् का शाक्त शरीर है। दक्षिण में ईश्वर की ऐश्वर्यसमष्टि आनन्दरूपा लक्ष्मी हैं, वाम में निर्मलज्ञानरूपा शुद्धसत्त्वा चिच्छक्ति सरस्वती हैं। उभयपार्श्व में सर्वसिद्धिप्रद गणेश हैं, देवशक्ति रक्षाकारी कार्तिक हैं। असुरशक्ति पराजित एवं सृष्टि-स्थिति-लय की सूक्ष्मशक्तियाँ देवतारूप में मण्डप में स्थापित हैं। ये दसों दिशाओं में दस हाथों विस्तार कर जगत् के कार्य में नियुक्त हैं।

कालीमूर्ति—सांख्यदर्शन के सगुण ईश्वर या प्रकृति-पुरुष की प्रतिमा है। सांख्य के मत से पुरुष निष्क्रिय है, प्रकृति क्रियाशीला है। तभी शिव शवाकार में पतित हैं, प्रकृति उनमें स्थित होकर जगद्व्यापार को सम्पन्न कर रही है।

इस जगत् की सृष्टि-स्थिति-लय की अदृष्ट सूक्ष्मशक्तियाँ पुराणों में साकाररूप में कल्पित होकर नाम और रूप को प्राप्त की हुई हैं। समस्त आलोचनाएँ सम्भव नहीं हैं।

देवलीला—जो पुराणों में वर्णित हुआ है उसका तात्पर्य यह है—मानव-हृदय की सद्वृत्तियों की सूक्ष्मशक्तियाँ ही देवता हैं, और असद्वृत्तियों की सूक्ष्मशक्तियाँ ही दैत्य हैं, तभी देव-दैत्यों का सर्वदा युद्ध चलता रहता है। जब वृत्रासुर और तारकासुर के समान काम या क्रोधादि प्रधान दैत्यों का अभ्युदय होता है, तब देवशक्तियाँ हृदयरूपी स्वर्ग को छोड़कर पलायन करती हैं, असुरों का एकाधिपत्य होता है। तब योगसाधन से प्रकृति-पुरुष के संयोग से कार्तिकेय शक्ति को प्राप्त कर दैत्यों को विताड़ित करना होता है।

कृष्णलीला भी वैसी ही है। जो लोग परिवार से दूर हो गये हैं, वे ही व्रजधाम में आये हुए हैं। व्रजपुर में गोपरूप जीव आकर देखते हैं कि

वहाँ भी संसार के विषमयी चिन्तारूपी कालीय और पापप्रलोभनरूपी भीषण प्रलम्बासुर का उत्पात है। तब साधना से जीव में सत्त्वगुण के आविर्भूत होने पर स्वयं भगवान् कृष्णरूप में उनका (कालीय आदि का) उच्छेदसाधन करते हैं। उनके हाथ पर गोवर्धनगिरि (गो=वेद-ज्ञान, गोवर्धन=ज्ञानवर्धन के उपायस्वरूप, गिरि=वेदान्तवाक्य)। वे इन्द्रक्रोधहेतु अनिष्टपात का निवारण कर गिरि-याज्ञिकगणों की रक्षा करते हैं। अतएव पुराणों के ये सारे आख्यान और चित्र अन्तर्जगत् के नित्यव्यापार हैं।

इन सारी साकारमूर्तियों से, सृष्टितत्त्व और अन्तर्जगत् की घटनाएँ मानव-हृदय में अङ्कित हो रही हैं। अतएव दर्शन के जो सब सूक्ष्मतत्त्व हैं, पुराणों के वे ही देव हैं, और कार्यकारिणी सूक्ष्मशक्तियाँ ही देवियों के रूप में उनकी स्त्रियाँ हैं; इन्द्र, चन्द्र प्रभृति सारे देवता ही सृष्टि-स्थिति-लय की अदृष्ट सूक्ष्मशक्तियाँ मात्र हैं। दो-एक नामों का विश्लेषण किया जाय।

गोपीजनवल्लभ कौन है? श्रुति का कहना है—

"गोपीजनविद्याकलापप्रेरकः।"

—गोपालपूर्वतापनीयोपनिषद्, १

जो रक्षा करती हैं, वे ही पालनीशक्ति—गोपी हैं। उन पालनी शक्तिरूपिणी विद्या-कलापों के जो वल्लभ=प्रेरक हैं एवं अनन्त जगत् के अधिष्ठान हैं; अतएव सच्चिदानन्दरूप श्रीकृष्ण ही गोपीजनवल्लभ हैं।

गोविन्द कौन? गवा=ज्ञानेन, वेद्य=उपलभ्यः गोविन्दः।

गो शब्द का अर्थ वेदज्ञान या तत्त्वज्ञान है, जो वेद या तत्त्वज्ञानद्वारा उपलब्ध हैं, वे ही गोविन्द हैं।

वासुदेव कौन? वसुदेव के पुत्र। वसुदेव कौन?

सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं
यदीयते तत्र पुमानपावृतः।

सत्त्वे च तस्मिन् भगवान् वासुदेवो
ह्यधोक्षजो मे नमसा विधीयते॥

—श्रीमद्भागवत, ४।३।२३

वसुदेव शब्द से विशुद्ध सत्त्वगुण समझा जाता है। निर्मल सत्त्वगुण में जो प्रकाशित होते हैं, वे वासुदेव हैं।

जनार्दन कौन ? जन=जन्म, अर्दयति=हन्ति, भक्तस्य मुक्तिदत्वादिति जनार्दनः। किंवा जनान्=लोकान्, अर्दयति=हररूपेण संहारकत्वादिति जनार्दनः। किंवा जनयति=उत्पादयति लोकान् ब्रह्मरूपेण सृष्टिकर्तृत्वादिति जनार्दनः। किंवा समुद्रान्तर्वासिनः जननामकासुरान् अर्दितवान् इति जनार्दनः।

—जो भक्तजनों के जन्म-मृत्यु निवारित कर मुक्ति देते हैं, वे ही जनार्दन हैं। किंवा हररूप में जीव-जगत् का लय करते हैं, किंवा ब्रह्मारूप में चराचर जगत् की सृष्टि करते हैं, किंवा समुद्रान्तर्वासी "जन" नामक असुर का जिन्होंने निधन किया है, वे ही जनार्दन हैं।

भगवान् कौन ?

उत्पत्तिं प्रलश्चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति॥

—विष्णुपुराण, ६।५।७८

—जिन्हें समस्त भूतों की उत्पत्ति, विनाश, गति, आगति एवं विद्या और अविद्या ज्ञात हैं, वे ही भगवान् हैं।

अब रूप की आलोचना की जाय। भगवान् की सात्त्विकी मूर्ति का ध्यान, यथा—

सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्।
द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम्॥

—गोपालपूर्वतापनीयोपनिषद्, १

टीकाकार विश्वेश्वर इसका अर्थ करते हैं—

"सत्पुण्डरीकनयनं" क्या है ? सत्=निर्मल, पुण्डरीकं=हृत्कमलं, नयनं=प्रापकं यस्य तं।—जिन्हें निर्मल हृत्कमल में प्राप्त किया जाता है। "मेघाभं" क्या है ? मेघे=उपतप्तमनसि, सच्चिदानन्दस्वरूपा आभा यस्य तं—सच्चिदानन्दस्वरूप वैद्युतिक आभाविशिष्ट होकर जो उत्तप्त मन को शान्ति प्रदान कर रहे हैं। "वैद्युताम्बरं" क्या है ? विद्युदेव वैद्युतम्, तादृशम् अम्बरं=स्वप्रकाशचिदाकाशमित्यर्थः—जो स्वप्रकाश और चिदाकाशस्वरूप हैं, जिन्हें प्रकाश करने के लिए किसी की भी आवश्यकता नहीं होती, जो अपने चित्स्वरूप में विद्युत्सम प्रकाशित हैं, वे ही पीताम्बर हैं, उनका उज्ज्वल पीताम्बर उसी विद्युत् के समान है। "द्विभुजं" क्या है ? द्वौ, हिरण्यगर्भविराड़ात्मनौ भुजौ=मौर्तिकशिल्पहेतुभूतौ हस्तौ यस्य तं द्विभुजम्—जगत्सृष्टि के कारण हिरण्यगर्भ एवं जगत् की मूर्ति के हेतु विराट्पुरुष उनके दो हाथ हैं। "ज्ञानमुद्राढ्यं" क्या है ? ज्ञानमुद्रा—तत्त्वमसीति सच्चिदानन्दैकरसाकारा वृत्तिः, तत्र आढ्यं=प्रकाशमानम्—जो "तत्त्वमसि" रूप में सच्चिदानन्दैकरसाकारमूर्ति में प्रकाशमान् हैं। "वनमालिनं" क्या है ? वने=विविक्तप्रदेश में स्वभक्तेषु, मालते=प्रकाशते—जो निर्जन प्रदेश में स्वीय भक्तगणों के निकट प्रकाशमान हैं। "ईश्वर" क्या है ? ब्रह्मादीनामपि नियन्तारम्—जो ब्रह्मादि देवगणों और सभी के नियन्ता हैं।

अतएव सत्त्वरूपी भगवान् निर्मल पुण्डरीकनयन, जलधरकान्ति, पीतवसन, द्विभुजधारी, हृदय में अङ्गुष्ठ और तर्जनी के योगरूप ज्ञानमुद्राधारी, वनमालाविभूषित, सभी के ईश्वर हैं।

पाठक ! रूप और नाम में कितना महान् रहस्य और महान् उद्देश्य निहित है समझे ? हम आर्य-ऋषियों के इन समस्त आश्चर्यजनक कवित्व और कल्पनाओं की जितनी ही आलोचनाएँ करेंगे, उतनी ही उनकी महती कीर्तियों

का परिचय पायेंगे। हिन्दू विलास के उपकरण चित्रादि से भी ज्ञानलाभ कर रहे हैं।

वह देखो **हरगौरीमूर्ति**—ज्ञान और प्रेम की ज्वलन्त छवि हैं। ज्ञान ही महादेवप्रतिम है, ज्ञान के उत्पन्न होने से संसारासक्ति दूर हो जाती है। तभी तो काशी जैसी स्वर्णपुरी जिनकी है और कुबेर जिनके भण्डाररक्षक हैं, वे किसी भी तरफ भ्रूक्षेप न कर भस्म और नरास्थि-अलङ्कारों में नग्नवेश में श्मशान में निवास कर रहे हैं। ज्ञानयोगी सभी कार्यों से उदासीन, किन्तु "भगवत्प्रेम" ने उन्हें जकड़ रखा है। ज्ञान में प्रेम और प्रेम में ज्ञान मिला हुआ है। क्या ही सुन्दर दृश्य है! इस प्रकार के ज्ञानयोगी का मानसपुर ही कैलासधाम तुल्य है।

फिर उस छवि को देखो, कृष्ण कदम्बमूल में खड़े होकर राधा-नाम की साधा (सिद्ध) वंशी बजा रहे हैं। भगवान् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार फलों से युक्त कल्पतरु के मूल में खड़े होकर विवेक-वाँसुरी-स्वर में आराधिका जीव को अमृतफल भोग के लिए पुकार रहे हैं।

और एक छवि को देखो, अटल वृषभ के ऊपर महारुद्र अवस्थित हैं, उनकी गोद में सर्वसौन्दर्यवती, सर्वालङ्कारभूषिता, चिरयौवना गौरी बैठी हुई हैं। रुद्रमूर्ति लयक्रिया की प्रतिमा है। वह छवि मानवों को पुकारकर कह रही है, "मानव! मृत्यु से भय क्या है? एकबार दृष्टि उठाकर देखो मृत्यु की गोद में कौन बैठी है? एकबार किसी प्रकार मर पाने से सर्व-सुखाधारस्वरूप उस युवती को प्राप्त कर सकोगे।" वही कवि ने कहा है,—

जे नित्य उद्याने सेइ पुष्प विराजित।
रे मृत्यु! ताहार तुमि सरणी निश्चित॥
कोनरूप अतिक्रम करिले ताहाय।
सफल हइबे आशा जाइब तथाय॥

—৺कृष्णचन्द्र मजुमदार

[अर्थात् जिस नित्य उद्यान में वह पुष्प विराजित है। रे मृत्यु ! तुम अवश्य ही उसका मार्ग हो॥ अतः किसी भी प्रकार उस मृत्यु के अतिक्रमण कर सकने से आशा अवश्य ही सफल होगी और वहाँ पहुँचा जा सकता॥]

यह बात मिथ्या नहीं है, वृषरूपी अटल सत्य के ऊपर यह वाक्य अधिष्ठित है। पाठक ! और कितना दिखाऊँगा ? हिन्दुशास्त्र में इस प्रकार के असंख्य तत्त्व हैं, अनन्त भाव हैं ; एक के द्वारा सबकुछ व्यक्त कर पाना असम्भव है। तन्त्रों और पुराणों के इन सकल तत्त्वों को समझने के लिए अन्य धर्मावलम्बियों को अभी भी बहुत समय लगेगा।

शिवलिङ्ग आराधना का भी रहस्य है।—

आलयं लिङ्गमित्याहुर्न लिङ्गं लिङ्गमुच्यते।
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि लीयन्ते बुद्बुदा इव॥

इन्द्रियविशेष को लिङ्ग नहीं कहते हैं, आलय को ही लिङ्ग समझो। आलय अर्थात् सर्वभूत जिसमें लय प्राप्त करते हैं। समुद्र में जिस प्रकार समुद्रोत्थित बुद्बुदा लयप्राप्त होते हैं, वैसे ही शिव से उद्भूत बुद्बुदस्वरूप जीव समस्त जिसमें लयप्राप्त करते हैं, वही लिङ्ग है।

सूक्ष्मशरीर को लिङ्गशरीर कहते हैं।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः।

—कठोपनिषद्, २।१।१२

परमपुरुष शिव सर्वमय होकर भी वे साधकों के हृदयमध्य में अङ्गुष्ठपरिमित स्थान में ही अवस्थित हैं ; अतः वे लिङ्ग हैं।

आकाशं लिङ्गमित्याहुः पृथिवी तस्य पीठिका।
प्रलये सर्वदेवानां लयनाल्लिङ्गमुच्यते॥

आकाश लिङ्ग एवं पृथ्वी उसका आसन है ; महाप्रलय के समय समस्त देवताओं का नाश होकर एकमात्र लिङ्गरूपी महादेव वर्तमान थे, तभी वे

लिङ्ग शब्द से अभिहित हुए हैं। अतएव लिङ्ग या गौरीपीठ का अर्थ निकृष्टतम स्त्री या पुरुष के इन्द्रियविशेष नहीं है।* अनन्त ईश्वर एवं सूक्ष्म मूल प्रकृति को सामान्य जनगण ध्यान-धारणा के विषयीभूत नहीं कर पाते हैं, इसीलिए अधिकारभेदविरहित इस लिङ्गरूपी शिव की और शिवशक्ति कालिका की आराधना करने की विधिव्यवस्था प्रचलित है। यथा—

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

—केनोपनिषद्, १।६

ब्रह्म निर्गुण है, निर्गुण की उपासना सम्भव नहीं है, अतएव शक्तिसहयोग से उनकी उपासना करो। तभी लिङ्गमय ईश्वरचैतन्य के साथ योनिपीठ संस्थापित है। अतएव शिवलिङ्गपूजा, सगुणब्रह्म की उपासनामात्र है।

आशा करता हूँ, तन्त्र-पुराणों के देवी-देवताओं की आख्यायिका और नाम-रूप एवं प्रतिमाओं को कोई आषाढ़ का गल्प, अर्थात् फुरसत की गप्प या बच्चों की गुड्डे-गुड्डी का खेल न समझें। वेद-वेदान्तों के विभागकर्ता

---

* हमारे देश के एक प्रसिद्ध कविने अपने "प्रवासेर पत्र" नामक ग्रन्थ में एक जगह पर लिखा है,—"निकृष्ट लिङ्ग-उपासकेरा" इत्यादि। हिन्दुसमाज के एक गण्य-मान्य-वरेण्य व्यक्ति के इस तरह का उत्कट ज्ञान, अगाध भक्ति और आश्चर्य विश्वास से स्तम्भित और विस्मित होना पड़ता है। शिक्षित व्यक्ति का इससे अधिक अधःपतन और क्या हो सकता है? ये ही हिन्दुओं के नेता सजकर अयाचितरूप से धर्मोपदेश देते रहते हैं। जिनको लिङ्गशब्द का एकाधिक अर्थबोध तक नहीं है, उन्हें धर्मगुरु सजना आत्मम्भरिता और धृष्टता का परिचय मात्र ही है। क्योंकि इनकी अपेक्षा कोल-भील-संथालों को भी स्वधर्म का अधिक ज्ञान है। अनधिकारचर्चा में हस्तक्षेप कर अशिक्षित व्यक्ति ही लोकसमाज में हास्यास्पद हुआ करते हैं; किन्तु शिक्षित व्यक्ति भी इस प्रकार का अन्धज्ञानाभिमान वहन करते हैं यही आश्चर्य है। इसी श्रेणी के लोगों के द्वारा स्वदेश और स्वधर्म की किस तरह उन्नति की सम्भावना, वह सहज ही अनुमेय है। हिन्दुसमाज मृत है, इसीलिए इन आचार-विमूढ़ व्यक्तियों की प्रलापोक्ति नीरव में सुननी पड़ती है।

वेदव्यासद्वारा ही सम्पादित समुदाय पुराण हैं। निम्नाधिकारी जनगण को धर्मशिक्षा देने के लिए उन्होंने पुराणों में जाज्वल्यमानरूप में ब्रह्म का प्रदर्शन किया है। सामान्य जनगण में भक्ति का उद्रेक करने के लिए देवी-देवताओं की सृष्टि हुई है। जिससे वह भक्ति अपनीत न हो, उसके लिए उन्होंने पौराणिक सृष्टि और कल्पना का विषय सर्वसाधारण के निकट गुप्त रखने का उपदेश दिया है। किन्तु हिन्दू जानते हैं—

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥

—श्रीरामपूर्वतापनीयोपनिषद्, ७

—ब्रह्म चिन्मय, अद्वितीय, मायातीत एवं अशरीरी होकर भी उपासकों के कार्यसाधनार्थ उनकी रूपकल्पना हो जाती है। जब साधक अधिकारी होगा, तब उसे पौराणिक समस्त रहस्य स्वयं ही आलोक के समान प्रकाशित होंगे।

पूजापद्धति और इष्टनिष्ठा

हिन्दुओं के देवी-देवता ही नहीं, बल्कि उनकी पूजा तक भी प्रत्यक्ष का आकार धारण कर चुकी है। हिन्दू जिस आध्यात्मिक साधना के बल पर भगवान् को प्रत्यक्ष देखते हैं, वह आध्यात्मिक साधना भी प्रत्यक्षरूप में प्रदर्शित हुई है। दुर्गोत्सव में जो स्थूल पूजा होती है, वह आभ्यन्तरिक सूक्ष्मसाधना का ही बाह्य आकार है। भगवद् आराधना से पहले चित्त को परिशुद्ध करना एकान्त आवश्यक है; उस शुद्धिव्यापार का बाह्यरूप ही आसनशुद्धि, अङ्गशुद्धि, भूतशुद्धि प्रभृतियाँ हैं। इन शुद्धिव्यापारों के द्वारा साधक परिशुद्ध होते हैं। तत्पश्चात् आत्मनिवेदन-व्यापार है। चित्त के परिशुद्ध नहीं होने से कोई भी स्वयं को सम्पूर्णरूप से ईश्वर को समर्पित नहीं कर

सकता। आत्मनिवेदन करना हो तो हृदय की समस्त कामनाओं, प्रवृत्तियों, श्रद्धा और भक्ति को देवमुखी होना होगा। उस आत्मनिवेदन का बाह्यरूप ही नानाविध द्रव्यों के साथ नैवेद्यदान है। भक्तिपुष्पाञ्जलि के साथ भगवान् को वह नैवेद्य उत्सर्ग करना होता है। जबतक माया, मोह और संसारासक्ति रहती है, तबतक कभी भी सम्पूर्णरूप से ईश्वर में आत्मनिवेदन नहीं होता है। यदि इन्द्रियपरता एवं रिपुपरतन्त्रता थोड़ी भी रहती है, तो आत्मनिवेदन नहीं हो सकता। यही संसारासक्ति, इन्द्रिय और रिपुपरतन्त्रता ही मानव का पशुत्व है, क्योंकि इतर पशुओं में ही यह विद्यमान है। अतः इस पशुत्व का एकदम संहार कर देना ही आवश्यक है। तभी आत्मनिवेदनरूप नैवेद्यदान के बाद ही पशुबलि की व्यवस्था है। जब संसारासक्ति का अवसान होता है, तब उसके देहस्थित तमोगुणान्वित पशु (कृष्णवर्ण अज) का बलिदान हो जाता है।* साधक की जब ऐसी पशुबलि हो जाती है, तभी उसकी इष्ट में सम्पूर्णरूप से रति और एकान्त आसक्ति जन्मती है। ईश्वर में पूर्णासक्ति का नाम ही आरात्रिक है। इस आरतिकार्य से शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और कान्ता-आसक्ति से हृदय में भगवद्भक्ति की पूर्णमात्रा परिपूर्ण होने से ईश्वरतन्मयता जन्मती है। उस भक्ति-पञ्चक के निदर्शन हैं—दीपमाला, सजल पद्म, धौत वस्त्र, विल्वपत्रादि एवं साष्टाङ्ग प्रणाम। इन पञ्चरूपों से आराधना ही ईश्वर को आरतिदान है। जिस ऐश्वरिकज्ञान से देवदर्शन होता है, वही ज्ञान भक्ति की पञ्चदीपाधार में ज्योतिःस्वरूप होकर प्रकाशित होता है। उस समय अन्तर में यह ज्ञानालोक प्रज्वलित होकर, साधक के अन्तर में भगवत्शक्ति दशभुजा की सत्त्वमूर्ति से दस दिशाएँ प्रकाशित कर दिखाई देती हैं।

---

* जो लोग मांसाशी हैं, उन्हें शक्ति-उपासना के साथ निर्लोभ और निष्काम धर्म की शिक्षा देनी ही बलिदान का अन्य उद्देश्य है, नहीं तो पशुहिंसा पाप है। सकाम साधक को पशुबलि के लिए पाप लगता है, पुराण के सुरथ राजा इसके दृष्टान्त हैं।

अन्यान्य देवी-देवताओं की पूजा भी ऐसी ही है। इससे साधक का निष्काम धर्म, सर्वस्व भगवच्चरणों में अर्पण, चित्त की एकाग्रता और इष्टनिष्ठा साधित होती है। हिन्दू उपासक मृण्मयी या शिलामयी या दारुमयी मूर्ति की प्राणप्रतिष्ठा कर देवत्व की पूजा करते हैं। उस प्राणप्रतिष्ठा से मृत्तिका, काष्ठ, पाषाण का भाव तिरोहित होकर भगवान् के सूक्ष्मरूप का आविर्भाव होता है। पूजा का ऐसा नियम है कि साधक पहले देवता का रूप ध्यान करते हुए अपने मस्तक पर पुष्प रखकर मानसोपचार से पूजा करता है। इससे समझा जाता है कि पहले परमात्मा की देवता-रूप में कल्पना कर देहस्थ चतुर्विंशति तत्त्वों को उनके चरणों में अर्पित करना होता है। तत्पश्चात् (मूलोच्चारणपूर्वक) "श्रीअमुकदेवस्य मूर्तिं कल्पयामि" कहकर कल्पना करेगा। बाद में पुनर्बार ध्यानकर सुषुम्नानाड़ी के अन्तर्गत ब्रह्मवर्त्म* द्वारा हृदयस्थ कल्पित देवता को सहस्रार में नियोजित कर निःश्वास-पथद्वारा दीप से प्रज्वलित अन्य दीप के समान प्रतिमा में देवता का आविर्भाव सोचकर आवाहन करेगा। मन्त्र यथा—(मूलोच्चारणपूर्वक) "अमुक देव-देवी इहागच्छागच्छ, इह तिष्ठ तिष्ठ, इह सन्निहितो भव, इह सन्निरुद्धो भव, अत्राधिष्ठानं कुरु, मम पूजां गृहाण।" यह मन्त्र बोलकर मूलमन्त्रद्वारा विशेषार्घ्य का जल लेकर, देवता के अङ्गों पर प्रोक्षण करेगा। तत्पश्चात् पाठ करेगा—"ॐ स्थां स्थीं स्थिरो भव यावत् पूजां करोम्यहम्।" तत्पश्चात् हाथ जोड़कर पाठ करेगा,—

"तवेयं महिममूर्तिस्तस्यां त्वां सर्वगं प्रभो।
भक्तिस्नेहसमाकृष्टं दीपवत् स्थापयाम्यहम्॥"

पाठक ! समझे ? —पहले सर्वव्यापी परमात्मा की देवता-मूर्ति की कल्पना कर सम्मुखस्थ घट या पट में उनका आरोप किया गया। अबतक मिट्टी या धातु था। किन्तु साधक ने कहा, "हे अमुक देव, तुम यहाँ आकर

* ब्रह्मवर्त्म प्रभृति का विवरण मेरे रचित "योगीगुरु" ग्रन्थ में देखो।

इस मूर्ति में अधिष्ठित होओ। तुम सर्वव्यापी हो, सर्वत्र गमन कर सकते हो, तभी भक्ति-स्नेह से पुकार रहा हूँ, तुम यहाँ आकर जबतक मैं पूजा करूँ, तबतक स्थिर भाव से अवस्थान करो। मैंने तुम्हें उसमें दीपवत् स्थापित किया।" मन से यदि उनकी स्थापना कर पूजा की जाय, तब अन्य वस्तुओं में वे आरोपित क्यों नहीं होंगे ?

तत्पश्चात् साधक प्राणप्रतिष्ठादि कर पूर्वोक्त नियम से पूजादि समाप्त कर कहेंगे—

"ॐ आवाहनं न जानामि नैव जानामि पूजनम्।
विसर्जनं न जानामि क्षमस्व परमेश्वर॥"

—मैं आवाहन नहीं जानता, पूजा नहीं जानता, विसर्जनादि कुछ भी नहीं जानता ; हे परमेश्वर ! तुम अपने गुण से क्षमा करो।

तत्पश्चात् विसर्जनमन्त्र से साधक कहेंगे, "गच्छ देव यथेच्छया"—हे देव ! तुम इच्छानुसार यथास्थान गमन करो। तब मिट्टी की प्रतिमा नदी में पदाघात से पातित होती है। क्योंकि, हिन्दू जानता है, मैंने आवाहन कर जिनकी पूजा की है, वे तो अभी नहीं हैं ; स्वस्थान पर चले गये हैं। इस विसर्जन व्यापार से ही प्रमाणित हो जाता है कि हिन्दुगण प्रतिमापूजन नहीं करते।

पूजा में आत्मसमर्पण विषय और भी सुन्दर है। मन्त्र यथा—

ॐ यत् किञ्चित् क्रियते देव मया सुकृतदुष्कृतम्।
तत् सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम्॥

महादेव ने रामचन्द्र को इस प्रकार उपदेश दिया था। यथा—

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
तत् सर्वं राघवश्रेष्ठ कुरुष्व च मदर्पणम्॥

भगवान् ने अर्जुन को ठीक यही बात कही है। पूजादि के स्तव-कवचों में भगवान् की अनन्त कीर्तियाँ गुँथी हुई हैं। अतएव हिन्दुओं के मन्त्र और पूजापद्धतियाँ ब्रह्म-उपासना के स्थूल अवयव मात्र हैं। जो लोग तीर छोड़ना शुरू करते हैं, वे पहले कोई स्थूल पदार्थ को लक्ष्य कर तीर छोड़ना शुरू करते हैं, तत्पश्चात् क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर पदार्थ को लक्ष्यकर तीर छोड़ते हैं ; एवं उससे लक्ष्य विद्ध करने में सुपारग हो उठते हैं। उसी प्रकार साधकगण भी पहले देवता की सूक्ष्मशक्ति को लक्ष्य नहीं कर पाते। फलतः उस अवस्था में स्थूलरूप या जड़ में उन्हें लक्ष्य स्थिर करना होता है। प्रथमतः देवमूर्ति का अवलम्बन कर तदुपरि भावनास्रोत को प्रवाहित करने की शिक्षा लेनी होती है।

पूजा, आह्निक, तप, जप इन सब का महान् अर्थ हृदयङ्गम न कर पाकर उसे वच्चों का खेल कहकर उड़ा देकर, फिर कोई भगवद्गीता का निष्काम कर्म, कोई सांख्य का प्रकृति-पुरुष, कोई बुद्ध का मायावाद, कोई कृष्ण के कान्ताप्रेम का माधुर्यरस लेकर बिल्कुल ही धर्मविच्युत हो रहे हैं। जानता हूँ कि वे सारे कार्य उत्तम और साधनाङ्गों में श्रेष्ठ हैं, किन्तु उससे तुम्हारा क्या ? तुम सूई बनाने में अक्षम हो, तो कमान का ठीका क्यों लेते हो ? तुम जो जानते हो, जितना सञ्चय किये हुए हो, जितने का अधिकारी हुए हो, उतने में कार्य करो। तुम्हारा हृदय क्षुद्र है, तुम सान्त हो, तुम अपने मनोनुकूल मूर्ति गढ़कर उनके चरणों में तुलसी-चन्दन अर्पित करो, उसमें कोई दोष नहीं। वरन् हिन्दुधर्म की सुशृङ्खला से ही तुम ज्ञान-चन्दन, भक्ति-तुलसी से अवगत होकर उपासना के सूक्ष्म तत्त्वों में उपनीत हो सकोगे।

इष्टनिष्ठा के लिए भी बेचारे हिन्दुओं को कितना कुछ सुनना पड़ता है। कई बोलते हैं, "एक धर्म-सम्प्रदाय में रहकर भी शाक्त, शैव और वैष्णवादियों में परस्पर हिंसा-द्वेष क्यों है ?" हिन्दू इसे एकतत्त्व-अभ्यास कहता है। मेरे पास एक आदमी की भूख मिटाने के लिए अन्न नहीं है और मैं दुनिया

के लोगों की भूख मिटाने के लिए दौड़-धूप करूँ, तो क्या होगा ? इसीलिए साधक प्रथमावस्था में अपने-अपने इष्टदेवता को श्रेष्ठ समझकर भक्ति का उत्कर्ष साधन करते हैं।

एक समय परम भक्त हनुमान् को श्रीकृष्ण की उपस्थिति में इष्टपूजा करते देख अर्जुन ने पूछा, "क्या तुम राम और कृष्ण को पृथक् समझते हो ?" हनुमान् ने हँसकर कहा—

"श्रीनाथे जानकीनाथे अभेदः परमात्मनि।
तथापि मम सर्वस्वो रामः कमललोचनः॥"

इसीको कहते हैं इष्टनिष्ठा।* इसी कारण शाक्त-वैष्णवों में द्वन्द्व है ; इसी से साधक के इष्टदेवता के प्रति प्रगाढ़ अनुराग का परिचय मिलता है। इष्टनिष्ठा में एकतत्त्व के अभ्यास होने से जो ज्ञानवृक्ष उत्पन्न होता है, धर्म के समस्त क्षेत्र में उसकी समस्त शाखा-प्रशाखाएँ और जड़ें छा जायेंगी, अतएव हिन्दुधर्म में जो देखेंगे, उसका एक बिन्दु भी कुसंस्कार या अन्धविश्वास नहीं है। वरन् सभ्य समाज के अंग्रेजों अपनीमूर्ति और चित्र गढ़कर सदा ही अपनी पूजा करते हैं, बड़े-बड़े लोगों की पूजा करने के लिए उनकी प्रतिमूर्तियाँ और चित्र सुरक्षित रहते हैं। हिन्दुधर्म में इस प्रकार की स्थूल

---

* यह वास्तविक साधक की उक्ति है। जो अपने आराध्यदेवता के प्रति सम्पूर्ण विश्वास स्थापन कर सके हैं, मुक्ति उनके करतलस्थ है। वे अन्य देवों के शरणागत क्यों होंगे ? स्वदेव में जिन्हें विश्वास नहीं, वे ही तैंतीसकोटि देवों का आश्रय लेते हैं। वे एकबार दाहिनी ओर मुख घुमाकर कहते हैं, "माँ काली ! मेरा उद्धार करो।" फिर बाईं ओर मुख घुमाकर कहते हैं, "बाबा कृष्ण ! मुझे गोलोकधाम में शृगाल-कुत्ता बनाकर रखो।" हम ऐसी साधना के पक्षधर नहीं हैं। साधक की दृढ़ता और अद्वैतभाव अत्यन्त उपादेय और अमूल्य वस्तु है। स्वर्गीय पारिजात कुसुम के सौरभ से वह परिपूर्ण है। साधकश्रेष्ठ रामप्रसाद ने गाया है,—

"आमि एमन मायेर छेले नइरे—विमाताके मा बलिब।"
(मैं ऐसी माँ का बेटा नहीं—जो [मैं] विमाता को माँ बोलूँ।)

पौत्तलिकता नहीं है। फिर भी आजकल उनकी देखादेखी अनेक अंग्रेजी-कृतविद्य हिन्दू ऐसी आत्मपूजा करनी सीख गये हैं।

अवतार और तीर्थादि के विषय लिखने की जरूरत नहीं। क्योंकि जगत् के समस्त धर्मसम्प्रदायों तीर्थ और अवतारों को स्वीकार कर चुके हैं। मुसलमानों के मक्का, मदीना, पेंड़ो तीर्थस्थान, और मुहम्मद अवतार हैं। ईसाई धर्म में भी जॉर्डन नदी का जल पवित्र एवं ईसा ईश्वर के पुत्ररूप में कथित हुए हैं।

देवता से लेकर खड़-पात तक की पूजा करने पर भी हिन्दू जानते हैं कि परब्रह्मज्ञान के अतिरिक्त याग-यज्ञादि क्रिया-काण्डों के अनुष्ठानद्वारा या साकार देवी-देवताओं की पूजा-अर्चनाद्वारा अथवा तीर्थस्थानद्वारा किंवा यथेच्छाहार या निराहारद्वारा कभी भी मुक्तिलाभ में समर्थ नहीं हुआ जा सकता।

मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा।
स्वप्रबोधं विना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा।।

—पञ्चदशी, ६।२१०

कमलाकान्त का एक गीत है,—

"कि गरज, केन गङ्गातीरे जाबो ?
आमि केले मायेर छेले हये विमातार कि शरण लबो ?"
(मेरी क्या गरज पड़ी है, मैं क्यों गङ्गातीर में जाऊँ ?
मैं काली माँ का बेटा होकर विमाता की शरण क्यों लूँ ?)

एक ब्राह्मसाधक ने कहा है :—

"आर कारे डाकिबो गो मा, छावाल केवल माके डाके।
आमि एमन छेले नइ मा तोमार, डाकिबो गो मा जाके ताके।"
(अरी मइया ! मैं और किसे पुकारूँ, सन्तान तो केवल माँ को ही पुकारती है।
माँ ! मैं तुम्हारा ऐसा बेटा नहीं, कि जिसको तिसको माँ कहकर पुकारूँ।)

इस प्रकार के साधक भक्ति-विश्वास के बल से बलवान् होकर मृत्यु को तुच्छ कर देते हैं।

—जिस प्रकार अपनी स्वप्न-अवस्था के निवारण के लिए अपना जागरण के अतिरिक्त अन्य उपाय नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्मतत्त्वज्ञान के अतिरिक्त मुक्ति का अन्य कोई उपाय नहीं है।

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिँल्लोके जुह्वोति यजते
तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद् भवति।

—बृहदारण्यकोपनिषद्, ३।८।१०

—हे गार्गि ! कोई व्यक्ति अविनाशी परमेश्वर को न जानकर यद्यपि इहलोक में बहु सहस्र-वर्ष होम, याग, तपस्यादि करता है, तथापि उसे स्थायी फल प्राप्त नहीं होता।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ७।२४

—संसार से अतीत जो मेरा नित्य-शुद्ध स्वभाव है, अल्पबुद्धि लोग सारे वह न जान पाकर अज्ञता के कारण मुझे मनुष्यादि के समान अवयवविशिष्ट समझते हैं।

इदं तीर्थमिदं तीर्थं भ्रमन्ति तामसा जनाः॥
आत्मतीर्थं न जानन्ति कथं मोक्षो वरानने॥

—ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्र, ४८-४९

—तमोगुणविशिष्ट लोग, यह-तीर्थ है, वह-तीर्थ है इस प्रकार भ्रम में आच्छन्न होकर सर्वत्र भ्रमण करते हैं। हे वरानने ! वे लोग आत्मतीर्थ से ज्ञात नहीं हैं, अतएव किस प्रकार उनकी मुक्ति होगी ?

वायुपर्णकणातोयव्रतिनो मोक्षभागिणः।
सन्ति चेत् पन्नगा मुक्ताः पशुपक्षिजलेचराः॥

—महानिर्वाणतन्त्र, १४।१२०

—वायु, पर्ण (पत्ते), कणा (चावल आदि का कण) और जलमात्र पान कर व्रतधारण से यदि मुक्तिलाभ होता है, तब साँप, पशु, पक्षी और जलचर जीव सबकी मुक्ति हो पाती।

महात्मा तुलसीदास ने कहा है,—

तुलसी तप जप पूजा, यह सब क्वारियों का खेल।
जब पीतम् से सरबर होई, तो राख पिटारी मेल।।

—तुलसी, तुम तप, जप, प्रतिमा-पूजादि समस्त ही बालिकाओं के गुड़ियों का खेल समझो। जबतक पतिसहवास नहीं होता, तबतक खेलती, फिर पेटी में उठाकर रख देती हैं।

श्रेष्ठ साधक गोविन्द चौधुरी ने गाया है—

(माके) के सं साजाले बल् ता शुनि।

* * *

स्वयं स्वयम्भू जाँर स्वरूप गठिते नारे,
से शम्भुदारारे गड़ा कुम्भकारे कि पारे ?
जान भुवनमोहिनी वामाटि के,
अङ्गे दिल उँहार वा माटि के,
तुलिते स्वरूप उँहार तुलिते कार साध ना जानि।

* * *

मानों देवीमूर्ति की प्रतिमा दर्शन कर कह रहे हों, मेरी माँ को किसने "सं" सजाया ? स्वयं शिव जिसका स्वरूप निर्णय नहीं कर पाते, उस शम्भुदारा को क्या कुम्हार गढ़ सकता है ? वह भुवनमोहिनी वामा कौन—जानते हो ? मैं नहीं जानता, तुलिकाद्वारा उसका स्वरूप चित्रित करने की साध (इच्छा) किसे हुई है ?

रामप्रसाद ने कहा है—

"तुमि लोकदेखानो करबे पूजा,
मा तो आमार घूष खाबे ना।"
"एबार श्यामार नाम ब्रह्म जेने,
धर्म कर्म सब त्यजेछि।"
"श्यामापदकोकनद तीर्थ राशि राशि।"

[तुम लोग दिखावटी पूजा करोगे, किन्तु मेरी माँ तो घूस नहीं खाती है। अब मैंने उस श्यामा माँ का नाम ब्रह्म जानकर धर्म, कर्म सबकुछ त्याग दिया है। क्योंकि श्यामा माँ के रक्तिम चरणकमल ही सारे तीर्थ हैं।]

श्रुति से लेकर आधुनिक साधकों की उक्ति तक उद्धृत हुईं। जिस देश का किसान खेत जोतते-जोतते, चरवाहे बालक गाय चराते-चराते ये सारे गीत गाते हैं, उस देश के लोग ब्रह्मतत्त्व नहीं जानते, और जो लोग ईश्वर को सेसनजज के पद पर अभिषिक्त कर दायरे के दरबार में बैठाये हुए हैं, वे लोग जानते हैं,—यह बात आत्माभिमान मात्र है। तो फिर हिन्दू तप, जप, देवपूजा क्यों करते हैं ?—

ब्रह्मज्ञानं परं ज्ञानं यस्य चित्ते विराजते।
किं तस्य जपयज्ञाद्यैस्तपोभिर्नियमव्रतैः॥

—महानिर्वाणतन्त्र, १४।१२३

—जिनके अन्तर में परमब्रह्म का ज्ञान विराजित है, उन्हें जप, यज्ञ, तपस्या, नियम और व्रतादि का कोई प्रयोजन नहीं है।

किन्तु सर्वसाधारण के लिए क्या उपाय है ? इसीलिए जिन्हें परज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है, उनके लिए हिन्दुधर्म के आचार्यगणों के द्वारा ज्ञान के उपायस्वरूप साकारोपासना प्रवर्तित हुई है। तथापि वह काल्पनिक नहीं है। साकार देवी-देवताओं और पूजापद्धति की सूक्ष्मता के साथ विश्लेषण करने से ब्रह्म और उपासना के निगूढ़ तत्त्व उद्घाटित होंगे।

एकेश्वरवाद और कुसंस्कार खण्डन

हिन्दुधर्म केवल ध्यान और स्तव-स्तुति-पूजा का धर्म नहीं, वह सर्वविषयों में आनुष्ठानिक धर्म है। वह प्रत्येक व्यक्ति का सिर्फ साधनाधर्म नहीं, वह पारिवारिक और सामाजिक धर्मप्रणालीरूप में भी वर्तमान है। हिन्दू का ईश्वर सर्वव्यापी है ; इसीलिए सर्वविश्व की साधना कर हिन्दू ईश्वरोपासना करते हैं। देवमन्दिर में कहो, परिवारमण्डल में कहो या श्राद्धतर्पणादि, विवाह, आचार-व्यवहार सभी स्थानों पर हिन्दुधर्म की साधना है। सारे विश्व को लेकर ऐसी देवोपासना शायद और किसी धर्म में नहीं है। समस्त वृत्तियों के सामञ्जस्यीभूत संयम में और तृप्ति में मानव की ईश्वरोपासना है। तभी हिन्दू समाजक्षेत्र में संसारधर्मसाधना के साथ धर्म-कर्म में व्यापृत है। हिन्दू धर्मप्रवृत्ति में सर्वविध सांसारिक और वैषयिक कार्य में प्रवृत्त हैं। उसी प्रकार धर्मप्रवृत्ति की उत्तेजना और प्रवृत्ति उत्पन्न कराकर हिन्दुओं को धर्मपथ पर चिर दिन नियोजित कर रखा जाता है, तत्पश्चात् क्रमशः समुन्नत होकर परम पुण्यपथ पर विचरण करते-करते अन्त में परम तत्त्वज्ञान में उपनीत होते हैं ; उसी तत्त्वज्ञान से उनको मुक्ति की प्राप्ति होती है। ज्ञानी साक्षात्‌रूप से मुक्ति-साधना में प्रवृत्त हैं, हिन्दुसंसारी असाक्षात्‌रूप से उसी प्रकार प्रवृत्त रहे हैं। विषयकार्यों के साथ धर्म को मिलाकर हिन्दुधर्म जिस प्रकार पूर्णावयव हो गया है, ऐसी और कोई धर्मप्रणाली नहीं हुई है। देवालय में कहो, परिवारमण्डल में कहो, समाज में कहो सभी स्थलों पर हिन्दू ईश्वरोपासक हैं।

हिन्दुधर्म के इन सारे महान् तत्त्वों को न जानकर, हिन्दुओं को देवतापूजक, जड़ोपासक और कुसंस्काराच्छन्न कहकर कई लोग मजाक उड़ाते हैं एवं स्वयं को एकेश्वरवादी बतलाकर गौरव अनुभव करते हैं। किन्तु हिन्दुधर्म के समस्त साधनापथ एकमात्र अद्वैत ब्रह्म की साधना हैं। हिन्दू विश्वपूजा कर विष्णुपूजा करते हैं। हिन्दू जानते हैं—

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म।"

—छान्दोग्योपनिषद्, ३।१४।१

यह जगत् चराचर समस्त ही ब्रह्म है।

बहिरन्तर्यथाकाशं सर्वेषामेव वस्तुतः।
तथैव भाति सद्रूपो ह्यात्मा साक्षिस्वरूपतः॥

—आत्मज्ञाननिर्णय

—जिस प्रकार आकाश इस चराचर वस्तुसमूह के बाह्य और आभ्यन्तर में अवस्थिति कर समुदाय पदार्थों के आधाररूप में प्रकाशित हो रहा है, उसी प्रकार स्वरूपतः इस ब्रह्माण्ड के साक्षिस्वरूप जो परमात्मा हैं, वे सत्तारूप में इसके बाहर और भीतर में अवस्थिति कर प्रकाशित हो रहे हैं।

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

—ईशोपनिषद्, ६

—जो समस्त वस्तुओं को परमात्मा में अवस्थित देखते एवं परमात्मा को सर्ववस्तुओं में देखते हैं, वे किसी भी वस्तु से घृणा नहीं करते।

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥

—मनुसंहिता, १२।९१

—परमात्मा स्थावर, जङ्गमादि सकल भूतों में हैं एवं परमात्मा में सर्वभूतों की अवस्थिति है, इस प्रकार समदृष्टि के द्वारा आत्मयाजी व्यक्ति स्वाराज्य (मोक्ष) लाभ करते हैं।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ६।२९

योगाभ्यास से जिनका चित्त वशीभूत और सर्वत्र ब्रह्मदर्शनरूप समदृष्टि हो गयी है, वे परमात्मा को सर्वभूतों में विराजित एवं परमात्मा में उसी प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड को अवस्थित देखते हैं।

हिन्दुओं का ईश्वर संसार को छोड़कर नहीं है, और संसार भी ईश्वर को छोड़कर नहीं है ; इसीलिए हिन्दुओं का संन्यासी भी संसारी है। ईसाई या मुसलमानों का ईश्वर, हिन्दुओं के समान सर्वव्यापी ईश्वर नहीं हैं। उनका ईश्वर विश्व से भिन्न एक स्वतन्त्र पुरुष है। वे मुख से ईश्वर को सर्वव्यापी सिर्फ कहते हैं, किन्तु एकमात्र हिन्दू ही उन्हें सर्वव्यापी के रूप में सर्वत्र देखते हैं। —शालग्रामशिला में देखते हैं ; चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, गगन, मेघ, सागर, नदी में—गङ्गा, गोदावरी, काशी, प्रयाग, जल, स्थल, अग्नि, वायु, वनस्पति, अश्वत्थ और वट में—सर्वघट में विश्वव्यापिरूप में अनुभव कर उनकी पूजा करते हैं। कोई भी जड़ की पूजा नहीं करते, सभी जड़ान्तर्गत-शक्तिनिहित अभिन्न पुरुष की पूजा करते हैं। सर्वघट में उनके वर्तमान रहने के कारण ही हिन्दुओं की पूजा प्रधानतः घट और पट में होती है। मूर्ति गढ़े बिना भी हिन्दू उसी परमपुरुष की पूजा करते हैं। धान-चावलों में उनकी लक्ष्मीपूजा होती है ; वहाँ भी पहले अनन्त की पूजा, तब देवीपूजा होती है। हिन्दुओं के समस्त देवी-देवताएँ युगलरूपधारी हैं। अतः इन देवी-देवताओं की पूजा में अद्वय ब्रह्म अति सूक्ष्मरूप में वर्तमान है। हिन्दू देखते हैं कि ब्रह्म के ही अनन्तरूपों की ऐश्वर्यमूर्तियाँ उनके तैंतीसकोटि देवताएँ—द्वैत जगत् के बीच उसी अद्वैत का आभास है। परब्रह्म के सूक्ष्मरूप प्रकृति में अनुप्रविष्ट ब्रह्म या ईश्वर हैं, स्थूल रूप यह ब्रह्माण्ड है। उनकी ऐश्वर्यरूप प्रकृति शक्ति मात्र है, जिस शक्ति में वे वर्तमान रहकर विश्व का लालन, पालन और शासन कर रहे हैं। उसी लालन-पालनकारिणी शक्ति में वे व्यस्त हैं। फलतः उनका अपना कोई कर्म न रहने पर भी वे उसी प्रकृतिशक्ति से

शक्तिमान् हैं, उसी प्रकृति के कर्तृत्व से वे विश्वकर्ता, विधाता और नियन्ता—सब कुछ ही हैं। हिन्दू उपासनार्थ शक्ति और शक्तिमान् की अभेद कल्पना करते हैं। जीव योगबल और साधनाबल से उनका ऐश्वर्य प्राप्त कर जब ईश्वरत्वलाभ करता है, तब गुणभाव वर्तमान रहता है ; अन्त में निस्त्रैगुण्यसाधना के द्वारा परिपूर्ण परब्रह्मभाव में उपनीत होते हैं। क्षुद्र आकाश महाकाश में मिल जाता है, क्षुद्र नदी अनन्त सागर में लीन हो जाती है। इस प्रकार समस्त क्षुद्र नदियों का गतिपथ ही आत्मा की गति है—अनन्त सागर में गति है। इसीलिए हिन्दुओं का मूलमन्त्र है—"**एकमेवाद्वितीयम्।**"

फिर क्यों कहते हो, हिन्दू पौत्तलिक हैं, हिन्दू जड़ोपासक हैं, तैंतीसकोटि देवताओं के उपासक हैं ? हिन्दुधर्म को समझने की चेष्टा करो, देखोगे कि हिन्दुधर्म गहन सूक्ष्म आध्यात्मिक विज्ञान से पूर्ण है, हिन्दुधर्म दार्शनिकता से परिपूर्ण है। कितने युगयुगान्तरों से इस धर्म की विमल स्निग्ध किरणें विकीर्ण हो रही हैं। किस सुदूर अतीत काल से ही इस धर्म की आलोचना, आन्दोलन और साधनारहस्य का उद्भेद हो आ-रहा है। ऐसा उदार, विश्वव्यापक, सार्वभौम धर्म जगत् में और दूसरा नहीं है, तुमलोग चार सौ वर्षों से सभ्य हो, तुम्हारा ज्ञान कितना है ? अभी भी जड़ की साधना कर रहे हो, हिन्दुधर्म की त्रिसीमा में पहुँचने में अभी भी बहुत विलम्ब है। तभी कहता हूँ, हिन्दुओं के निकट धर्मशिक्षा पाओ, हिन्दुशास्त्रों के रहस्य समझने की चेष्टा करो, हिन्दुधर्म के सामान्य लोगों के आचरित धर्म को देखकर, अन्धों के हाथी-दर्शन के समान कान या पैर को हाथ से छूकर हाथी के सूप या स्तम्भवत् निर्णय मत करो (अर्थात् जिस प्रकार एक अन्धा हाथी के कान को छूकर कहता है कि हाथी सूप है और दूसरा उसके पैर को छूकर कहता है कि हाथी एक खंभे का नाम है, उसी प्रकार तुम भी सम्पूर्ण हिन्दुधर्म के सम्बन्ध में ऐसी धारणा मत करो)। इससे रसना कलुषित होगी।

जब तुमलोग अध्यात्मज्ञान तक पहुँचोगे, तब अवश्य ही हिन्दुधर्म का महत्त्व समझ सकोगे ; तब हिन्दुधर्म की अमल-धवल कौमुदी से उद्‌भासित और प्रफुल्लित होओगे, मर-जगत् में अमरत्वलाभ कर मानवजीवन का सार्थककरण और मुक्तिलाभ में समर्थ होगे।

हिन्दुधर्म का गौरव

भारत का सुखसूर्य आज अस्तमित हो गया है। आज सात सौ वर्षों की भारतभूमि विदेशीय जातियों के दुर्धर्ष आक्रमण सहन करती आ रही है। कितनी जातियों ने भारत पर प्रभुत्व किया, कितनी जातियाँ प्रभुत्व से वञ्चित हुईं, भारत की स्वाधीनता फिर नहीं लौटी। अभी पराधीनता ही भारत की स्वाभाविक अवस्था बन खड़ी हुई है।* चिररोगी जिस प्रकार करवट बदलने में भी क्लेश का अनुभव करता रहता है, उसी प्रकार भारतवर्ष आज कठोर पराधीनता का प्राचीर लांघ कर एक पाँव उठाने में भी मानों कष्ट का अनुभव करता है। किन्तु भारतवर्ष की आज इतनी दुरवस्था हो गयी है, तथापि आज भी हिन्दुजाति की जीवनीशक्ति विनष्ट नहीं हुई है। मुसलमानों के राजत्वकाल में हिन्दुओं को कितनी ही यातनाएँ सहनी पड़ी थीं, मुसलमान सम्राटों ने हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के लिए कितने प्रयास किये थे, कितने हिन्दू अकारण ही मूर्तिपूजा के अपराध में भगवत्पद का स्मरण करते-करते निहत हो गये थे। सुलतान महमूद ने कितनी ही देवमूर्तियों का लुण्ठन और शास्त्रागारों को भस्मीभूत किया था। मुगल बादशाहों के जमाने में पाषण्डी कालापहाड़ ने हिन्दुओं के श्रेष्ठतम तीर्थ पवित्र पुरुषोत्तमधाम में प्रवेश कर,—लिखते छाती फटती है—जगन्नाथदेव की मूर्ति को दग्ध किया था। आज भी सुसभ्य अंग्रेजसुशासित देश में, पूर्वबङ्ग के हिन्दुगण कितने ही

* इस ग्रन्थ का रचनाकाल १३१५ बङ्गाब्द (१९०८ ई०) है।—प्रकाशक

नगण्य कृषक मुसलमानों द्वारा उत्पीड़ित हुए हैं।† ईसाई सरकारी विद्यालयों में अंग्रेजी साहित्य पढ़कर हिन्दुबालक ईसाईधर्म की शिक्षा ले रहे हैं ; दूसरी ओर फिर सरकार के नानाप्रकार की सहायता से परिपुष्ट ईसाई धर्मप्रचारकगण हिन्दुओं को ईसाई बनाने के लिए कितनी सारी चेष्टाएँ चला रहे हैं। पादरी लड़कियाँ हिन्दुओं के अन्तःपुरों में प्रवेश कर सुकोमलस्वभावा रमणियों को बाइबल का उपदेश दे रही हैं। क्या ही निर्बुद्धिता है ! जो आजीवन "नानी की कहानी" सुन-सुनकर स्वयं को ईसाइयों के संस्पर्श में अपवित्र समझ स्नान करती हैं, बाइबल के दो पृष्ठों के उपदेश से क्या वे हिन्दुधर्म का परित्याग करेंगी ? जो भी हो, इतने कष्ट, इतनी यातनाएँ सहन करके भी, इतने संकटों में रहकर भी विभिन्न प्रलोभनों में आज भी भारतीय आर्यवंश विलुप्त नहीं हुआ। आर्यभारत से पवित्रतम आर्यभाव अभी भी सम्पूर्ण नहीं गया है, कभी सम्पूर्ण रूप से चला जायेगा ऐसा प्रतीत भी नहीं होता। जबतक हिन्दुओं के वेद-उपनिषद् रहेंगे, रामायण-महाभारत रहेंगे, तबतक इस पुण्यभूमि भारतवर्ष से हिन्दुत्व कभी भी नहीं जा सकता। आर्यों के परिवारमण्डल में, हिन्दुओं के समाजक्षेत्र में, आचार-व्यवहार में, संसार धर्मसाधना के साथ सनातन हिन्दुधर्म के संयोजित होने के कारण हिन्दुजाति का स्वातन्त्र्य रक्षित होता आ रहा है।

सात सौ वर्षों तक विजातीय सम्राटों के अत्याचार-उपद्रव सहन कर एकमात्र हिन्दू के अतिरिक्त पृथ्वी पर और कोई जाति इस प्रकार स्वातन्त्र्य रक्षा करने में सक्षम नहीं हुई है। प्राचीन रोमन अब कहाँ हैं ? कई दुर्दान्त पर्वतीय जातियों ने सहसा रोमराज्य अधिकार कर लिया, क्रमशः रोमनजाति अपना वैशिष्ट्य खोकर कालसागर में विलीन हो गयी। प्राचीन ग्रीकजाति, उनका धर्म, उनके आचार-व्यवहार अब कहाँ हैं ? प्राचीन पारसियों का धर्म

† पाठकगण ! १३१४ बङ्गाब्द (१९०७ ई०) की जमालपुर अञ्चल वाली घटना याद करें।

और आचार-व्यवहार कहाँ गया ? ये समस्त ही आज प्रत्नतत्त्वानुसन्धायिगणों के अनुसन्धान के विषय हो गये हैं। धन्य हिन्दू ! धन्य तुम्हारा धर्म !! तुम अपने पूर्वगौरव सब भूल गये हो, किन्तु धर्म की मर्यादा नहीं भूल सके, बिना कारण विजातीय राजाओं की अशेष यातनाओं को सहन करके भी जातीय धर्म को अक्षुण्ण रखे हो। अभी भी देख पाता हूँ, कितने ही हिन्दू विजातीय का जलस्पर्श न कर क्षुधा-तृष्णा से मृत्यु का आलिङ्गन कर रहे हैं। हिन्दुजातियों की धर्मप्राणता की कहानी पृथ्वी में कौन नहीं जानता ? "**धर्मो रक्षति रक्षकं**" यह महावाक्य कभी भी मिथ्या नहीं हुआ है। हिन्दुओं ने धर्म की रक्षा की है, धर्म भी हिन्दुओं की रक्षा कर रहा है। रोमन प्रभृति अन्यान्य जातियों के पूर्वजों पार्थिव विषयलालसाओं से ही हृदय पूर्ण कर विषय-साधना कर रहे थे, इसी कारण धर्म को प्राप्त नहीं कर सके। धर्म का मूल शिथिल होने के कारण ही हवा के एक सामान्य झोंके में ही वे विलीन हो गये थे। और हिन्दुओं ने सर्वस्व परित्याग कर धर्म की साधना की थी, तभी हिन्दुओं के धर्म की नींव अत्यन्त दृढ़ होने के कारण ही पराधीनता के प्रबल झञ्झावात में भी अटल रहे हैं।

किन्तु दुःख का विषय है कि वर्तमान काल में एक श्रेणी की हिन्दुजाति इस प्रकार आत्ममर्यादा को भूल बैठी है कि, जबतक पाश्चात्य पण्डित उसके अमूल्य शास्त्रों को अच्छा नहीं कह देते, तबतक वह जातीय शास्त्रों की ओर आँख उठाकर देखने में भी मानों लज्जा महसूस करती है ; साहबों के अंग्रेजी-अनुवादित हिन्दुशास्त्रों की ओर कम-से-कम एकबार देख भी लेती है। सर्वनाशक काल के गुरुतर संघर्षण के कारण, विजातीय शिक्षा के प्रचलन से आजकल अनेक व्यक्ति हिन्दुशास्त्रों की अवहेलना कर मार्जित बुद्धि और उर्वर-मस्तिष्क-प्रसूत स्वकपोलकल्पित मतानुसार धर्मसाधना करने के प्रयासी हैं। यह मार्जित बुद्धि और उर्वर मस्तिष्क का फल हो या न हो, पाश्चात्य धर्म की आमदनी से और विजातीय संसर्ग से विकृत मस्तिष्क

का फल है, इसमें कोई सन्देह नहीं। अब नये बाबुओं की जाति अपना धर्म-कर्म नहीं जानती, जातीय रीति-नीति नहीं मानती, आर्यशास्त्रों का पाठ नहीं करती, अपने समाज की कोई खबर नहीं रखती। बल्कि अपनी जातीय धातु छोड़, प्रकृति भूलकर, अवस्था की अवहेलना कर दूसरे के भाव में विभोर हो गयी है। इसीलिए वर्तमान समय में नानाप्रकार के स्वकपोलकल्पित मतप्रवर्तक आसुरी प्रकृति के अनेक हिन्दू देखे जाते हैं। किन्तु जर्मनी के सुविख्यात पण्डित Schopenhaur (शोपेनहावेर) कहते हैं, "हिन्दुओं का उपनिषद्समूह ने मुझे इहजीवन में शान्ति प्रदान की है एवं परजीवन में भी प्रदान करेगा।" और एक विख्यात पण्डित ने कहा है, "पृथ्वी के सारे धर्मसम्प्रदायों के धर्मशास्त्र विलुप्त होकर, हिन्दुओं की उपनिषदों ही रहें, तो किसी धर्मसम्प्रदाय के व्यक्ति किसी धर्मशास्त्र का अभाव अनुभव नहीं करेंगे।" इसीलिए कहता हूँ, बाबुओं की जाति जितनी भी कृत्रिमता के आवरण से अङ्ग आच्छादित क्यों न करे, साहब लोग उसे "काले आदमी" के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहेंगे। तुम्हारी विद्या-बुद्धि उन्हें अविदित नहीं है ; वीरों की जाति कभी भी अम्लपित्तरोगग्रस्त धातुक्षीण बाबुजाति को समतुल्य नहीं समझेगी। एक शिक्षित युवक ने यूरोप अमेरिकादि भ्रमणोपरान्त भारतवर्ष प्रत्यागमन कर किसी विशेष अवसर पर कहा, "तुम जिस किसी देश में जाकर स्वयं को हिन्दू कहकर परिचय दोगे, तो उसी क्षण वे ससम्भ्रम तुम्हें नमस्कार करेंगे। यह नमस्कार तुम्हें नहीं, हिन्दू होने के कारण तुम्हारे जातीय धर्म को।"

धर्मरक्षा करने की प्राणगत चेष्टा रहने से ही हिन्दुजाति का यशःसौरभ देश-विदेशों में विस्तारित हुआ है और हो रहा है। पाश्चात्य पण्डितगण इसके लिए हिन्दुजाति की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं। वे सिर्फ हिन्दुजाति की प्रशंसा करके ही सन्तुष्ट नहीं होते, जिन समस्त शास्त्रों की कृपा से हिन्दुजाति धर्मभाव को इस प्रकार परिपुष्ट करने में सक्षम हुई है, उन समस्त हिन्दुशास्त्रों

को भी वे "कण्ठ का भूषण" और "शान्तिवारि" कहकर ग्रहण कर चुके हैं। पाश्चात्य जगत् के सुविख्यात अध्यापक मैक्समूलर ने इंग्लैण्डवासी एक हिन्दू से कहा था, "तुमलोग हमें अंग्रजी में क्या सिखलाओगे ? यदि कुछ *सिखा सकते हो*, तो वह है एकमात्र हिन्दुओं के उपनिषदादि शास्त्रों का *ब्रह्मज्ञान*।" वास्तव में, आर्यऋषियों के साधना के फल से आजतक ये सारे आर्यशास्त्र केवल हिन्दुजाति को नहीं—सारे सभ्य जगत् को धर्म का सुविमल आलोक प्रदान कर रहे हैं। हिन्दू सभी विषयों में सभी जातियों से अधम हो गया है, केवलमात्र हिन्दुजाति का धर्मगौरव अक्षुण्ण है।

हिन्दुओं की अवनति का कारण

हिन्दुओं की अवनति का कारण क्या है ? —इसका उत्तर एक ही शब्द में दिया जा सकता है, हिन्दुओं की अवनति का कारण है—धर्म। पृथ्वी की अन्यान्य जातियाँ विषय-लालसा से धर्मलाभ नहीं कर पार्यी, कानून, भौतिक-विज्ञान, शिल्पनैपुण्य आदि के उत्कर्षसाधन में उन्होंने परिश्रम किया है। किन्तु इन समस्त पार्थिव विद्याओं को आर्यऋषियों ने निम्नपदवी दान कर—"अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते" (मुण्डकोपनिषद्,१।१।५) कहकर एकमात्र ब्रह्मविद्या को ही श्रेष्ठ प्रमाणित किया है। शिक्षाद्वारा, अभ्यासद्वारा जो ज्ञान प्राप्त करना होता है, उसे सम्पाद्य ज्ञान कहते हैं। प्राचीन पण्डितों ने इस सम्पाद्य ज्ञान को दो भागों में विभक्त किया है। एक ज्ञान, दूसरा विज्ञान है।

मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः।

—अमरकोष, प्रथम का०, धीवर्गः ६

—मोक्षविषयक ज्ञान को ज्ञान एवं शिल्प या शिल्पशिक्षोपयोगी वस्तु और वस्तुशक्ति जिस ज्ञान के विषय हैं, उसे विज्ञान कहते हैं।

हिन्दुशास्त्र के मतानुसार आत्मतत्त्वज्ञान ही मुख्य है, अवशिष्ट गौण हैं। तभी भारतीय आर्यों के पूर्वज मुनि-ऋषियों ने पार्थिव विषय-लालसा सुदूर निक्षेप कर गिरिकन्दर, नदीतीर, गहन अरण्य प्रभृति प्रकृति के सुरचित निर्जनतम प्रदेशों में आत्मसंगोपन कर अनन्यमन से ब्रह्मसाधना कर अनुपम धर्मलाभ किया था। वह अनुपम ब्रह्मसाधनोपाय हिन्दुशास्त्रों में वर्णित है। हिन्दुओं ने उसी धर्मचर्चा को एकमात्र मानव-जीवन का कर्तव्य समझकर उसमें मनोनिवेश किया। तथापि यह भारतवर्ष के अतिरिक्त अन्य किस देश में संख्या गणना का सर्वप्रथम आविष्कार हुआ था ? यह भारतवर्ष के अतिरिक्त और किस देश में आयुर्वेद एवं ज्योतिर्विद्या का आविर्भाव और उन्नति सर्वप्रथम हुई थी ? भारतीय हिन्दू एक समय पृथ्वी की सभी जातियों से सभी विषयों में उन्नति के चरम स्तर पर उठ चुके थे। वह उन्नत अवस्था ही वर्तमान में अवनति का कारण है। उसी अवनति का कारण बतलाने के लिए स्वर्गीय बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय प्रणीत 'विविध प्रबन्ध' ग्रन्थ में 'बङ्गदेशेर कृषक'' शीर्षक प्रबन्ध का तृतीय परिच्छेद पाठ्य है।

परिणामतः धर्मालोचना एकमात्र कर्तव्य स्वीकृत होने से हिन्दुगण ऐहिक सुख के प्रति निस्पृह हो गए। ऐहिक सुख के प्रति निस्पृहता और सर्व अवस्थाओं में सन्तुष्ट रहने की हिन्दुओं ने शिक्षा ली थी, तभी पार्थिव लालसा परित्याग कर धर्मचिन्तन में कालयापन करने लगे। धर्मशास्त्र के द्वारा निवृत्तिजनक शिक्षा प्रचारित हुई। शिल्पविज्ञान में कोई भी वैसा मनोनिवेश न करने से वह लुप्त होने लगा, किसी ने उसे फिर देखकर भी नहीं देखा। जिस समय जो जिस अवस्था में थे, उसी में सन्तोष लाभ कर धर्मसाधना करने लगे। क्रमशः काल की कुटिला गति के अधःस्रोत में भारतवर्ष वर्तमान शोचनीय अवस्था में उपनीत हुआ है। सभी प्रकृति के गुण से धर्मामृत पान में विभोर रहे, इसी ओर एकबार भी भ्रूक्षेप नहीं किया। दुरवस्था की आशङ्का से विचलित न होकर सन्तोष-सुधा-पान के द्वारा कालक्षय करने लगे। अभी

भी उस सन्तोष के मोहपाश से हिन्दू मुक्त नहीं हुए हैं ; इसी कारण वर्तमान युग के अत्याचार-उत्पीड़न, दुर्भिक्ष के प्रकोप, प्लेगादि महामारियों के प्रादुर्भाव को अकातर ही सहन कर रहे हैं ; राजपुरुषों की अवैध यथेच्छाचारप्रियता नीरव ही देखते जा रहे हैं। दूसरा देश होता तो अशान्ति-वह्नि धू-धू कर जल उठती ; आइरिश, रूसीगण उसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। हिन्दुओं के द्वारा किसी भी काल में किसी भी कारण से अशान्ति उत्पादित नहीं हुई। जो धर्मबल से सहास्यवदन से मृत्यु का आलिङ्गन कर सकते हैं—किसी पार्थिव कष्ट से वे विचलित क्यों होंगे ? तभी हिन्दू कैदियों के मुख में भी अन्य जातीय कैदियों की अपेक्षा श्री और सद्भाव अधिक देखे जाते हैं। सुप्रसिद्ध चार्ल्स डार्विन ने भी इसे धर्म का फल माना है। उन्होंने अन्दमान द्वीप के पोर्टलुई शहर के हिन्दू कैदियों की मुखश्री देखकर विस्मय प्रकट करते हुए कहा है कि, वे—"Were such noble looking,—" उन्होंने और भी कहा है—"These men are generally quity and well-conducted ; from their outward conduct, their cleanliness and faithful observance of their strange religious rites, it is impossible to look at them with the same eyes as on our wretched convicts in New South Wales."

(A Naturalist's Voyage Round the World)

अतएव धर्म हिन्दुओं को सभी कार्यों से उदासीन कर देने से विजातियों की प्रतिपत्ति भारतवर्ष में वर्धित हुई है। धर्मबल से बली होने के कारण ही हिन्दुगण सभी के पदानत हुए हैं। हिन्दुओं का धर्म ही सर्वस्व है। तभी विश्वासघातता और कपटता कर अधार्मिक मुसलमान धर्मप्राण हिन्दुराज्य को आत्मसात् कर सके थे। विजातीय राजाओं की अधीनता में हिन्दु-समाज के उच्छृङ्खल हो जाने से हिन्दुगण वास्तव धर्म से विच्युत हो गये हैं। हिन्दू राजाओं के अभाव में सभी के स्वेच्छाचारी हो जाने से उपधर्म की प्रबलता ने वृद्धि पाई है। समाज में जो लोग वास्तव में बेवकूफ हैं, वे ही हिन्दु-

समाज में गुरु-पुरोहितरूप में धर्मशिक्षा दे रहे हैं। जो शिक्षित हैं, वे गुरु-पुरोहितों का कार्य घृणित समझ राजसेवाओं में व्रती हो रहे हैं।

एक समय असम लाईन के स्टीमर में स्वामी कालिकानन्द से बङ्गदेश के प्रसिद्ध गोस्वामिवंशावतंस गुरु-व्यवसायी एक ब्राह्मण ने पूछा, "महाशय आपने अन्नाहार त्याग किया है ?"

कालिकानन्द ने हँसकर कहा, "क्यों, मैं तो मछली-मांस के साथ तीन बेला प्रचुर आहार ग्रहण करता हूँ। यहाँतक कि ईसाई, मुसलमान का अन्न भी परित्याग नहीं करता।"

गोस्वामी चौंक गए और बोले, "यह क्या ? मत्स्य-मांस सत्त्वगुण को नष्ट करते हैं, संन्यासी तो सत्त्वगुण के साधक होते हैं !"

संन्यासी बोले, "सत्त्वगुण से ब्राह्मण का जन्म होता है, मैं भी ब्राह्मण की सन्तान हूँ ; संन्यास-ग्रहण का उद्देश्य क्या है ?"

गोस्वामी बोले, "आधुनिक मत से सर्वजातियों में आहार-बिहार के लिए ही लगता है आपने समाज त्याग किया है !"

संन्यासी बोले, "तब तो ब्राह्मधर्म ग्रहण करने से सुविधा होती न ?"

निकट में ही एक शिक्षित वैद्य बैठे हुए थे, उन्होंने कहा, "गोसाईं, ब्राह्मण सत्त्वगुण की और संन्यासी निस्त्रैगुण्य की साधना करते हैं।"

जिस जाति के गुरुगण इतने अगाध ज्ञानविशिष्ट हैं, उनकी अधोगति में और क्या बचा है ? अवस्था अनुकूल होनेपर आर्य-हिन्दुओं को पुनः पूर्व महिमा में जाग्रत देख सकेंगे, हमें यह भरोसा है।

हिन्दुधर्म का विशेषत्व

मुसलमानों और ईसाइयों का धर्म सकाम होता है ; क्योंकि उनकी धर्मसाधना में स्वर्गप्राप्ति ही चरम फल के रूप में कथित हुआ है। किन्तु हिन्दुधर्म निष्कामतामूलक है। हिन्दुधर्म में कहा गया है—

यावन्न क्षीयते कर्म शुभं वाशुभमेव वा।
तावन्न जायते मोक्षो नृणां कल्पशतैरपि॥
यथा लौहमयैः पाशैः पाशैः स्वर्णमयैरपि।
तथा बद्धो भवेज्जीवः कर्मभिश्चाशुभैः शुभैः॥

—महानिर्वाणतन्त्र, १४।१०८-१०९

—जबतक शुभ या अशुभ कर्म के क्षय नहीं होते, तावत् सौ कल्पों में भी मनुष्य मुक्तिलाभ नहीं कर सकता। जिस प्रकार लोहा और सोना, उभयविध शृङ्खलों से भी जीव को बाँधा जा सकता है, उसी प्रकार पाप और पुण्यद्वारा जीव संसार में बद्ध रहता है, मुक्त नहीं हो सकता। अथच इन दोनों का भोग न करने से इनका विनाश नहीं होता।

यही हिन्दुधर्म का कर्मफलवाद है। इस कर्मफलवाद से ही हिन्दुधर्म में पाप का शासन और पुण्य का उद्बोधन है। कर्मफलवाद का तात्पर्य यह है कि सुखभोग होने से उसका कारण पुण्य क्षीण होता है एवं दुःखभोग होने से उसका कारण पाप विनष्ट होता है। अतएव स्वर्ग-सुखभोग के पश्चात् मानवात्मा पुनः दुःखभोग करती है। अतएव हिन्दुधर्म ने आत्मा का गतिपथ उसके ऊर्ध्व में ही नियोजित किया है। अन्यान्य साम्प्रदायिक धर्मप्रणालियाँ आत्मा के गतिपथ का अन्त दिखला देती हैं। कारण उस उस द्वैतमतानुसार ईश्वर मानवात्मा से सम्पूर्ण भिन्न पदार्थ है। उसमें केवल सगुण ईश्वर की सूक्ष्म साकार उपासना तक ही विहित है। इसी कारण ईसाई धर्म ने ''Be perfect as God'' कहकर ही निश्चिन्त हो गया है। इसने मानवात्मा को सामीप्य-मुक्ति तक ही उठने को कहा, मानों इसके ऊपर उसकी और गति नहीं हो सकती। किन्तु हिन्दू जानता है Be God. वेदान्त कहता है—

''ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।''

—मुण्डकोपनिषद्, ३।२।९

ब्रह्मज्ञ पुरुष ब्रह्म ही होते हैं। यही हिन्दुधर्म का विशेषत्व है। ईसाई प्रभृति धर्मों के समान हिन्दुधर्म में भी सम्प्रदाय तो हैं अवश्य, मगर वे हिन्दुधर्म के खण्डदेश मात्र हैं। हिन्दुधर्म में भी द्वैतभाव है तो अवश्य, किन्तु वह अद्वैत के साथ मिश्रित होकर अद्वैतप्रमुख हो गया है, क्योंकि वही उसकी अन्तिम सीमा नहीं है। हिन्दुधर्म में भी साधक सामीप्य लाभ कर as God हो तो सकते हैं अवश्य, किन्तु वही शेष गति नहीं है ; भक्त और भी अग्रसर हो सकते हैं, अग्रसर होकर सारूप्य लाभ कर क्रमशः निस्त्रैगुण्य-साधना में प्रवृत्त हो सकते हैं। जो नहीं होंगे, हिन्दुशास्त्र कह रहे हैं, उनकी आत्मा की गति वहाँ तबतक के लिए रुद्ध हो जाने पर भी जन्म-जन्मान्तरों की साधना से उस आत्मा की चरममुक्ति एकदिन साधित होगी। तब आत्मा अपने स्वरूप में उपनीत होकर परम आनन्दधाम में आयेगी। जबतक यह निस्त्रैगुण्य साधित नहीं होता, तबतक आत्मा को किसी भी तरह संसार बन्धन से मुक्ति नहीं मिलती। अतएव हिन्दुधर्मानुसार मानवात्मा की गति अनन्त पथ में है, आनन्दधाम में है। आत्मा विषयानन्द के साधनाबल से क्रमशः स्फूर्तिप्राप्त होकर इस परमानन्दधाम में आती है। विषयानन्द ब्रह्मानन्द का द्वारस्वरूप है। केवल हिन्दुधर्म के साधनाबल से वह विषयानन्द ब्रह्मानन्द में परिणत हो सकता है। विषयी लोगों की आत्मा में विषयानन्द के रूप में ब्रह्मानन्द आभासित मात्र है। क्योंकि, संसार के नानाप्रकार के मायाबन्धनों में संसारी की आत्मा आबद्ध है ; आबद्ध रहने से आत्मा का आनन्द-स्वरूप आवृत हो गया है। उस आवरण से मुक्त होकर आत्मा अपने स्वरूप में आकर अनन्त ब्रह्मानन्द में मिल जाती है। जिस प्रकार दीपालोक सूर्यालोक के साथ मिल जाता है, उसी प्रकार मानवात्मा का आनन्द अनन्त पूर्णानन्दमय परब्रह्म में मिल जाता है। सुतरां यह मुक्तिसाधनपथ ही आत्मा के साथ परमात्मा का योगसाधनापथ है। इसीलिए हिन्दुधर्म की समस्त साधनाप्रणाली ही—मुख्यरूप से हो या गौणरूप से—यही योगसाधनापथ है। यह

योगसाधना-तपस्या भक्तिपथ में, कर्मकाण्ड में और ज्ञानमार्ग में है। हिन्दुधर्म के शास्त्रों ने इन त्रिविध पथों का परिष्काररूप से प्रदर्शन किया है। हिन्दुधर्म के समान और किसी भी धर्म में आत्मा का मुक्तिसाधनापथ इतने विशद्रूप में प्रदर्शित नहीं हुआ है। इसी कारण उस विषय के परिचय से हिन्दुधर्म का गौरव शतमुखों से प्रमाणित होता है।

ऐसे हिन्दुधर्म से बीतराग होकर जो सारे हिन्दू विजातियों के निकट स्वर्गप्राप्तिमूलक सकाम धर्म की शिक्षा प्राप्त करने जाते हैं, उन्हें हतभाग्य भिन्न और क्या कहूँ? अदूरदर्शी हिन्दुधर्मद्वेषीगण हिन्दुधर्म की जितनी सारी निन्दाएँ किया करते हैं, उन्हीं का खण्डन और विशाल तत्त्व एवं महान् उद्देश्य अबतक समझाता आया। ऐसे देवकल्प आर्यऋषियों ने सूक्ष्मदृष्टि से जो सारे अभिनव तत्त्व (जो अन्यान्य धर्मों में दृष्ट नहीं होते हैं) आविष्कार किये हैं, अब उसकी आलोचना में प्रवृत्त हुआ जाय। सर्वदेशीय आदरणीय श्रीमद्भगवद्गीता से यह प्रमाणित हो जायेगा।

गीता का प्राधान्य

हिन्दुधर्मशास्त्रों में श्रीश्रीमद्भगवद्गीता अपने गौरव से क्या हिन्दू क्या अहिन्दू सर्वधर्मावलम्बी जनगणों में आदरणीय हुई है। हिन्दू घरों में गीतापाठ नित्यनैमित्तिक क्रियाओं में परिगणित हुआ करता है। एकमात्र गीता पर निर्भर रहने से अन्य कोई शास्त्र पढ़ने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। एक ही जीवन में कोई भी शास्त्र पढ़कर समाप्त नहीं कर सकता। क्योंकि शास्त्र अनन्त हैं और जीवन अल्पकालस्थायी है। इसीलिए सभी को गीतापाठ करने का अनुरोध करता हूँ। भगवद्गीता महाभारत के भीष्मपर्व के अन्तर्गत है। बृहत् हीरकखण्ड जैसे शुभ्र मुक्तामाला की शोभा परिवर्धन करता है, वैसे ही भगवद्गीता महाभारत की शोभा परिवर्धन कर रही है। गीता समस्त शास्त्रों की सारभूत है एवं एकमात्र धर्मज्ञान की शेष शिक्षास्थल है। आजकल

साहबलोग (अंग्रेजों) भी आदर के साथ गीतापाठ किया करते हैं। कुछ साहब भी बंगाली गीता का अंग्रजी अनुवाद कर चुके हैं। श्रीश्रीमद्भगवद्गीता के सम्बन्ध में कुछ ज्ञानिवाक्य मैंने नीचे संयोजित किये हैं। महायोगी ज्ञानमय महादेव ने कहा है—

"अहं वेत्ति शुको वेत्ति व्यासो वेत्ति न वेत्ति वा।
श्रीधरः सकलं वेत्ति श्रीनृसिंहप्रसादतः॥"

इसका भावार्थ है कि—इस गीता का वास्तविक अर्थ महेश्वर, शुकदेव एवं श्रीधरस्वामी ये तीन ही मात्र जानते हैं। महाभारतकार व्यासदेव गीता का अर्थ जानते हैं या नहीं सन्देह है। समझिए क्या रहस्य है !

वैष्णवीयतन्त्रसार में गीतामाहात्म्य में है—

"सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥"

सर्ववेदवित् श्रीमत् शङ्कराचार्य ने कहा है—

"तदिदं गीताशास्त्रं वेदार्थसारसंग्रहभूतम्।"

श्रीधरस्वामी ने कहा है—

"इह खलु सकललोकहितावतारः परमकारुणिको भगवान् देवकीनन्दनस्तत्त्वज्ञानविजृम्भितशोकमोहभ्रंशितविवेकतया निजधर्मपरित्याग-पूर्वकपरधर्माभिसन्धिनमर्जुनं धर्मज्ञानरहस्योपदेशप्लवेन तस्माच्छोकमोह-सागरादुद्धार। तमेव भगवदुपदिष्टमर्थं कृष्णद्वैपायनः सप्तभिः श्लोकशतैरुपनिबबद्ध। तत्र च प्रायशः श्रीकृष्णमुखाद्विनिःसृतानेव श्लोकानलिखत् कांश्चित् तत्सङ्गतये स्वयञ्च व्यरचयत्।"

राजा राममोहन राय ने कहा है—

"भगवद्गीता माने ना जे, तार कथा मानिबे के ?"

(भगवद्गीता को जो नहीं मानता, उसकी बात कौन मानेगा ?)

बाबू राजनारायण बसु ने कहा है—

"कल्पतरु महाभारत से जो सारे अमृत फल प्राप्त होते हैं, उनमें भगवद्गीता प्रधान है। महाभारतरूपी खान से जो सारे हीरे पाये जाते हैं, उनमें भगवद्गीता सर्वश्रेष्ठ है।"

मोनियर विलियम (Monier William) साहब ने कहा है—"* * * in which poem [The Mahavarata] it [The Bhagabadgita] lies inlaid like a pearl contributing with other numerous episodes, to the tessellated character of that immense epic."

एच. एच. विल्सन (H.H. Wilson) साहब ने कहा है—"The Bhagabadgita, as is well-known, is a treatise on theology. * * It is a section of the Mahavarata as observed by Schlegel is proved * * to be a genuine and unadulterated work. Schlegel and Wilkins both regard it as a composition of high antiquity."

हमारी प्रिय वस्तु को दूसरे अगर अच्छा कहें, तो दुगुना सुख मिलता है ; इसीलिए साहबों की उक्तियाँ मैंने उद्धृत कीं। जिन्हें शास्त्र पर अधिकार नहीं हुआ है, वे नाना शास्त्रों की आलोचना कर खिचड़ी न पकाकर भगवद्गीता का पाठ करें। यद्यपि वर्तमान में गीता का वास्तविक अर्थ समझने या समझाने के लिए लोग सुलभ नहीं हैं, तथापि धर्मज्ञानपिपासु व्यक्ति शुद्धचित्त से भक्ति के साथ नित्य गीतापाठ करें। महात्मागण कहते हैं, भक्तिपूर्वक गीतापाठ करने से अपने आप ही गीता का वास्तविक अर्थ साधक के हृदय में उदित होता है। महाभारत के युद्ध के बाद से एकमात्र भगवद्गीता ही प्रायः तीन-चार हजार वर्षों से भारत में समग्र हिन्दुजाति में प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से पवित्र धर्मस्रोत अव्याहत रखने में समर्थ हुई है। इस पुस्तक में दिये गए अधिकांश प्रमाणों श्रीमद्भगवद्गीता से संगृहीत हैं।

देहात्मवाद का खण्डन और आत्मा में प्रमाण

एक ब्रह्म के ही भोग के लिए अध्यासहेतु समस्त जगत् में नानारूप शरीरधारी आत्माएँ हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्य में है—

अन्नमयाद्यानन्दमयान्तं पञ्चकोषान् कल्पयित्वा तदधिष्ठानं कल्पितं ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा।

व्यष्टिपुरुष के समान समष्टि आत्मा या अव्ययपुरुष ईश्वर की पञ्चकोषमय देह है। यथा, (१) पञ्चीकृत पञ्च महाभूत और उसकी कार्यात्मक स्थूल देहसमष्टि ही अन्नमय कोष है, यही विराट् मूर्ति है ; (२) उसके कारणस्वरूप अपञ्चीकृत पञ्च सूक्ष्मभूत और उसकी कार्यात्मक क्रियाशक्ति के साथ प्राणमय कोष है ; (३) उसकी नाममात्रात्मक समष्टि-ज्ञान-शक्ति मनोमय कोष है ; (४) उसका स्वरूपात्मक विज्ञानमय कोष है (ये प्राण, मन और विज्ञानकोष या सूक्ष्म समष्टि ही हिरण्यगर्भाख्य लिङ्गशरीर है) एवं (५) उसकी कारणात्मक माया-उपहित चैतन्य सर्वसंस्कारशेष आत्मा ही अव्यक्त नामक आनन्दमय कोष है। सांख्यमत से शरीर दो प्रकार के हैं—सूक्ष्मशरीर एवं स्थूल या मातृपितृज शरीर ; मृत्यु से केवल स्थूल या अन्नमय शरीर का ध्वंस होता है। जीवात्मा सूक्ष्मशरीर के साथ इस जीवन के या पूर्वजीवन के संस्कारों में बद्ध होकर प्रयाण करती है। कारणशरीर देवता का, और लिङ्गशरीर मनुष्य का होता है। यह शरीर पाँच कोष या आवरणमय है ; मृत्यु से केवल अन्नमय कोष का ध्वंस होता है। मोक्षलाभ से सारे कोष ध्वंस हो जाते हैं। पुरुष या आत्मा इस शरीर से भिन्न है। जीव के क्रियादर्शन से आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास करना होता है। रथ की गति देखकर जिस प्रकार सारथी की विद्यमानता को स्वीकार करना पड़ता है, उसी प्रकार देह की विद्यमानता और दैहिक क्रियादर्शन से आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना पड़ता है। किन्तु आत्मनास्तिकगण कहते हैं—

चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते॥ १३
किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत्। १४
—चार्वाकदर्शन

गुड़, तण्डुल प्रभृति प्रत्येक मादक नहीं है, किन्तु उन सारे द्रव्यों के एकत्र होने से क्रियाविशेष से उनसे सुरा प्रस्तुत होती है एवं तब उसमें मादकता-शक्ति जन्मती है। उसी प्रकार यह देह अवचेतन भूतसमूह से उत्पन्न होने पर भी समष्टि के परिणाम से चैतन्य की उत्पत्ति होती है ; पृथक् किसी भी प्रकार से आत्मा का अस्तित्व नहीं है। सांख्यकार कपिल इस पक्ष का खण्डन करते हैं। वे कहते हैं, तण्डुलादि सुराबीज-द्रव्यों के प्रत्येक में सूक्ष्मरूप से मदशक्ति वर्तमान है। तण्डुल-गुड़ादि के परस्पर संयोग से सूक्ष्मरूप में अवस्थित मदशक्ति का आविर्भावमात्र होता है। अतएव स्वीकार करना होता है कि, जिन पञ्चभूतों से देह निर्मित है, उनमें चैतन्यसत्ता सूक्ष्मरूप से निहित थी, उनके एकत्र संयोग से चैतन्य का उन्मेषसाधन हुआ। ऐसा होने से प्रकारान्तर से चैतन्य की स्वतन्त्र विद्यमानता स्वीकृत हुई। यदि कहो कि हरिद्रा और चूर्णयोग (हल्दी और चूने) से एक नूतन वर्ण का उत्पन्न होना सम्भव है, तो यह दृष्टान्त समीचीन नहीं है ; कारण हरिद्रा और चूर्ण के परस्पर संयोग से वर्ण का विलोप न होकर जब वर्णान्तर की उत्पत्ति होती है, तब जड़भूतनिचय के परस्पर मिलन से तो जड़-धर्मान्वित वस्तु की उत्पत्ति होनी ही सम्भव है ; किन्तु वह न होकर तद्विपरीत धर्माक्रान्त चैतन्य का ही उद्‌भव हुआ करता है। अतः देह चैतन्य नहीं है। गुड़-तण्डुलादि के संयोग से मदशक्ति के समान मनुष्य की देह में यदि भूतसमष्टि से चैतन्य जन्मता, तो वह एक ही प्रकार का होता एवं देहावयव के परिवर्तन से उस ज्ञान का भी ध्वंस हो जाता। फिर पूर्वशरीर में उत्पन्न समस्त संस्कारों का परवर्ती शरीर में संक्रमित कुछ भी याद नहीं कर पाते हो, कारण, ऐसा होने से माता के द्वारा अनुभूत वस्तु गर्भस्थ शिशु को भी याद होती। माता ने जो

देखा था, माता के शरीर से उत्पन्न सन्तान उन सभी वस्तुओं का स्मरण क्यों नहीं कर पाती है? अतएव देह चैतन्य नहीं है, देहातिरिक्त चैतन्य ही—**आत्मा** है।

मन, प्राण या इन्द्रियगण भी आत्मा नहीं हैं; मन अगर आत्मा होता, तो हम ज्ञान-सुखादिका अनुभव नहीं कर पाते। कारण—

त्वङ्मनःसंयोगो ज्ञानसामान्ये कारणम्।*

—न्यायशास्त्र

इन्द्रियों के साथ विषयों (रूप-रसादि) का सन्निकर्ष होकर मन का संयोग होने से ज्ञान उत्पन्न होता है।

अगर मन आत्मा होता, तो युगपत् दर्शन, श्रवणादि के ज्ञान उत्पन्न होते। किन्तु सभी ने अनुभव किया है एवं पाश्चात्य दर्शन ने भी स्वीकार किया है, कि एक साथ एक ही समय दो विषयों में मनःसंयोग नहीं किया जा सकता। समस्त ज्ञान की युगपत् अनुपपत्ति के कारण मन विभु या व्यापनशील पदार्थ नहीं है, अतः मन अणुपदार्थ है। अतएव मन का प्रत्यक्ष होना असम्भव है। यदि मन ही अप्रत्यक्ष हुआ, तो ज्ञान-सुखादि मन के गुण अप्रत्यक्ष होंगे अर्थात् चाक्षुषादि मानस तक कोई प्रत्यक्ष का विषयीभूत नहीं होगा। हमारे मन के अतिरिक्त एक व्यापनशील आत्मा है, ज्ञान-सुखादि उसी के गुण हैं, मनरूपी इन्द्रिय के सहारे उक्त ज्ञान-सुखादि का अनुभव होता है।

इन्द्रियगण भी आत्मा नहीं हो सकते। कारण, ऐसा होने से किसी इन्द्रिय के विनाश से तदिन्द्रियजनित अनुभव का स्मरण असम्भव हो जाता; विशेषतः इन्द्रियादि के द्वारा दर्शन-श्रवण के अतिरिक्त सुख-दुःखादि का ज्ञान नहीं होता है। अतएव सुख-दुःखादि के अनुभव के निमित्त एक अतिरिक्त

* त्वक् और मन का संयोग समस्त ज्ञान के प्रति कारण है।—अनुवादक

अन्तरेन्द्रिय स्वीकार करनी होगी। वह अन्तरेन्द्रिय ही मन एवं मन की सहायता से जो सुख-दुःखादि का अनुभव करता है, वह कर्ता ही जीव का आत्मा है।

प्राण भी आत्मा नहीं हैं। शास्त्र कहता है—

आत्मन एष प्राणो जायते यथैषा पुरुषे
छायैतस्मिन्नेतदाततं मनःकृतेनायात्यस्मिञ्शरीरे।

—प्रश्नोपनिषद्, ३।३

—आत्मा से प्राण जन्मे हैं; जिस प्रकार पुरुष की छाया उत्पन्न होती है, उसी प्रकार आत्मा ही पर प्राण अवलम्बित हैं। मन के सङ्कल्पमात्र से ही समस्त प्राण इस शरीर में आगमन किये हुए हैं।

पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी यह बात स्वीकार की है। अध्यापक टैट् (Professor Tait) ने "प्राकृतिक विज्ञान की उन्नति" सम्बन्धी पुस्तक में लिखा है, कि भौतिक तत्त्वावली की सहायता से प्राणपदार्थ क्या है, इसे जानना चाहे तो जाना जा सकता है, किन्तु प्राण के बिना प्राण की उत्पत्ति जो असम्भव है, इसे वे स्वीकार करने को बाध्य हुए हैं।* अतएव हर प्रकार से यह निश्चित हो रहा है कि प्राण आत्मा नहीं है, प्राण से आत्मा पृथक् है।

साथ ही चक्षुरादि का करणत्व अस्वीकार कर स्वतःप्रकाश ज्ञानसमष्टि को भी आत्मा नहीं कहा जा सकता। कारण, ज्ञान की समष्टि कहने से पूर्व पूर्व ज्ञान का स्मरण और वर्तमान ज्ञान, इन दोनों की समष्टि को समझा जाता है, किन्तु पूर्व पूर्व ज्ञान का स्मरण किसने किया ? और ज्ञानसमूह

---

* But let no one imagine that, should we ever penetrate this mystery, we shall, thereby, be enabled to produce, except from life, even the lowest form of life.
—*Recent Advance in Physical Science. (P.24)*

किसके लिए सदृश एवं किसके लिए विसदृश प्रतीत हुआ ? अतएव अवश्य ही स्वीकार करना होगा, कि क्रियामात्र का ही कर्ता है। क्रिया का कारक ही कर्ता है, अतएव ज्ञान का भी ज्ञाता है। पाश्चात्य दार्शनिक महामति जॉन स्टूअर्ट मिल (John Stuart Mill) भी इसे स्वीकार कर गये हैं।

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति।

—न्यायदर्शन, १।१।१०

—इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख एवं ज्ञान आत्मा के गुण और आत्मा में प्रमाण हैं।

एतावता प्रमाणित हुआ, कि सुख, दुःख, ज्ञानादि शरीर या इन्द्रियादि के धर्म नहीं हैं। अतएव बाध्य होकर ही देह में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना होगा। शास्त्र में उक्त है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति

—मुण्डकोपनिषद्, ३।१।१

—सुन्दर पंखयुक्त दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक वृक्ष पर अवलम्बन किये हुए हैं। वे परस्पर के सखा हैं। उनमें से एक (जीवात्मा) सुस्वादु फल का भोग करता है, अन्य (परमात्मा) भोग न करके केवल दर्शन करता है मात्र।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६।११

—एक देव सर्वभूतों में गूढ़भाव से अधिष्ठित है; वह सर्वव्यापी है, सर्वभूतों का अन्तरात्मा है, कर्मों का अध्यक्ष, साक्षी, चैतन्य, केवल और निर्गुण है।

यदि कहो, उस आत्मा को हम क्यों नहीं देख पाते हैं, किस प्रकार से वह देह में वर्तमान है? शास्त्रों में ही इसका उत्तर है। यथा—

काष्ठमध्ये यथा वह्निः पुष्पे गन्धो दुग्धे घृतम्।
देहमध्ये तथा देवः पापपुण्यविवर्जितः॥

—ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्र, १०

—काठ में अग्नि, पुष्प में गन्ध, दूध में घी जिस प्रकार से हैं, उसी प्रकार से देह में आत्मा है।

दूध को मथने से जिस प्रकार माखन निकलता है, उसी प्रकार साधना के द्वारा आत्मा के दर्शन किये जाते हैं। काठ को भेदने से काठ के अन्दर की अग्नि जिस प्रकार दिखाई नहीं पड़ती है, उसी प्रकार शरीर छेदन करने से उससे आत्मदर्शन प्राप्त करने की सम्भावना नहीं रहती। कौशलक्रम से काठ के घर्षण करने से जिस प्रकार उसमें स्थित अग्नि निष्काशित और निरीक्षित होती है, उसी प्रकार योगबल का आश्रय करने से आत्मा का प्रत्यक्ष किया जा सकता है। बीज में प्रकाण्ड वृक्ष सूक्ष्म अवस्था में निहित रहता है, स्थूल दृष्टि से दिखाई नहीं पड़ने से भी उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता से वह दिखाई पड़ता है। सरबत में मिठास दिखाई नहीं पड़ने से भी जिस प्रकार सरबत पीने से उसकी मिठास की अनुभूति होती है, उसी प्रकार स्थूल दृष्टि से आत्मा को न देख पाने पर भी उसका अस्तित्व अस्वीकार करने का कोई उपाय नहीं है। आत्मा साधना की सूक्ष्म दृष्टि से साधक को दिखाई देती है। भगवान् ने कहा है—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

—श्रीमद्भगवद्गीता, १०।२०

—हे गुड़ाकेश! मैं सर्वप्राणियों की अन्तःकरणस्थित आत्मा हूँ।

अणोरणीयान्महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोर्निहितं गुहायाम्।

—कठोपनिषद्, १।२।२०

—सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म, महत् से भी परममहत् अर्थात् सर्वव्यापक आत्मा प्राणिसमूह के हृदय में अवस्थित है।

अतएव आत्मा का होना निश्चित है, किन्तु अविशुद्धचित्त व्यक्तिगण यह जान नहीं पाते। भगवान् ने कहा है,—

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, १५।११

—ध्यानद्वारा प्रयतमना विशुद्धचित्त योगिगण ही आत्मा को देह में निर्लिप्त भाव से अवस्थान करते देख पाते हैं, किन्तु जो अविशुद्धचित्त अर्थात् मन्दमति हैं, वे शास्त्राभ्यासादिद्वारा सहस्र चेष्टा के बावजूद भी आत्मा के दर्शन नहीं कर पाते।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

—कठोपनिषद्, १।२।२३

—इस आत्मा को वेदाध्ययन या मेधा (ग्रन्थार्थधारणाशक्ति) किंवा बहु शास्त्रज्ञानद्वारा लाभ नहीं किया जा सकता।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

—कठोपनिषद्, १।२।२४

—दुश्चरित्र से अविरत, अशान्त, असमाहित या अशान्तमानसव्यक्ति ज्ञानद्वारा (सामान्यज्ञान से) आत्मा को प्राप्त नहीं हो पाते।

अतएव इसीसे प्रतिपन्न हुआ कि देह या चक्षु-कर्णादि इन्द्रियाँ अथवा मन, प्राण और ज्ञानसमष्टि ये सब आत्मा नहीं हैं, देहातिरिक्त चैतन्य ही आत्मा है। जो आत्मज्ञानविमूढ़ हैं, वे आत्मा को किसी भी अवस्था में देख नहीं सकेंगे। केवल अध्यात्मयोगद्वारा—

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।

—मुण्डकोपनिषद्, २।२।९

जो हिरण्मय हृदयकोष में अवस्थित है, जो दिव्यज्योतिः में निजगृहरूप हृदय को हिरण्मय कर चुकी है, उसी दिव्यज्योतिःसम्पन्न निर्मल आत्मा को देखा जा सकता है। अध्यात्मयोग से ही ज्ञानचक्षु प्राप्त होता है। इसी ज्ञानचक्षु द्वारा आत्मदर्शन घटित होता है। वह ज्ञानचक्षु जिन्हें नहीं है, वे प्रत्येक विषय में जड़वादी अथवा देहात्मवादी हो जाया करते हैं। इन ज्ञानचक्षुसम्पन्न श्रेष्ठ व्यक्तियों के उपदेशवाक्यों में जो लोग आस्था स्थापन कर पाते हैं, उन्हें ही कुछ अंश में आत्मज्ञान लाभ एवं आत्मा में विश्वास स्थापित होता है। नहीं तो सामान्य व्यावहारिक बुद्धि से केवल घूमना फिरना ही होता है। अध्यात्मयोग द्वारा विवेक लाभ होता है, विवेकलाभ से ही आत्मसाक्षात्कार होता है।

द्वैताद्वैत-विचार

द्वैतवाद और अद्वैतवाद को लेकर बहुत दिनों से विवाद-विसम्वाद, द्वन्द्व-कोलाहल हुए हैं और हो भी रहे हैं। उभयवादी ही ने अपने-अपने मत के समर्थन के लिए बहु युक्ति-प्रमाणों प्रदर्शित किये हैं। उसी युक्ति-प्रमाणानुसार आर्यशास्त्रों का विश्लेषण कर जाना जाता है कि कुछ शास्त्रों में द्वैतवाद, कुछ शास्त्रों में अद्वैतगर्भस्थ द्वैतवाद एवं कुछ ही शास्त्रों में अद्वैतवाद प्रतिपन्न हुआ है। प्रत्येक वाद में प्रमाण उद्धृत किया जाय।

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहाम्प्रविष्टौ परमे परार्धे।

—कठोपनिषद्, १।३।१

—शरीर के परम उत्कृष्ट स्थान पर गुहामध्य में दो व्यक्ति प्रविष्ट हैं, उसमें एक व्यक्ति अवश्यम्भावी कर्मफल भोग करता है, दूसरा एक व्यक्ति उसे प्रदान करता है।

जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम्।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखञ्च जन्मसु॥

—मनुसंहिता, १२।१३

—अन्तरात्मा नामक एक स्वतन्त्र आत्मा प्रत्येक व्यक्ति की देह के साथ जन्म लेती है, वही सुख-दुःख का अनुभव किया करती है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, १५।१६-१७

—लोक में दो प्रकार के पुरुष प्रसिद्ध हैं, एक क्षर और अन्य अक्षर। सभी पदार्थ क्षर हैं, और कूटस्थ (जीवात्मा) पुरुष अक्षर कहा जाता है। किन्तु अन्य (क्षर और अक्षर से अतिरिक्त) एक पुरुष है, वही उत्तम पुरुष है, वही परमात्मा शब्द का वाच्य है। वही ईश्वर एवं वही त्रिलोक में प्रविष्ट रहकर इस त्रिलोक का पालन करता है।

ऊपर लिखे गए श्लोकों से स्पष्ट ही द्वैतवाद प्रतिपन्न हो रहा है।

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
मम तत्त्वं न ज्ञानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम्॥

—कुलार्णवतन्त्र, १।११०

—कोई कोई द्वैतपक्ष एवं कोई कोई अद्वैतपक्ष प्रतिपन्न करते हैं; किन्तु उभय ही मेरा वास्तविक तत्त्व नहीं जानते। जो मेरा वास्तविक तत्त्व है, वह द्वैत या सम्पूर्ण अद्वैत यह उभय भाव-विवर्जित है, अर्थात् द्वैताद्वैतमिश्रित भाव ही मेरा वास्तविक तत्त्व है।

द्वैतश्चैव तथाद्वैतं द्वैताद्वैतं तथैव च।
न द्वैतं नापि चाद्वैतमित्येतत् पारमार्थिकम्।।

—दक्षसंहिता, ७।४८

द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, इनमें शुद्ध द्वैत या शुद्ध अद्वैत है ऐसी बात नहीं, द्वैताद्वैत ही पारमार्थिक है। द्वैताद्वैतमिश्रित ज्ञान कैसा होता है ? —परमात्मा और आत्मा पृथक् तो हैं, किन्तु आत्मा परमात्मा में अधिष्ठित रहकर जीवलीला कर रही है, यही द्वैताद्वैतमिश्रितवादी कहा करते हैं।

उपास्यं परमं ब्रह्म आत्मा यत्र प्रतिष्ठितः।

—योगियाज्ञवल्क्यम्

—जिस परमब्रह्म में आत्मा अधिष्ठित है, वही परमब्रह्म ही उपास्य देवता है।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।।

—मुण्डकोपनिषद्, २।२।४

—प्रणव धनुस्वरूप, आत्मा शरस्वरूप एवं ब्रह्म लक्ष्यस्वरूप कहा जाता है। प्रमादशून्य होकर परब्रह्म को विद्ध कर शर के समान तन्मय होना। लक्ष्यवस्तु के साथ शर जिस प्रकार संयुक्त रहता है, उसी प्रकार परब्रह्म में तन्मय होना।

इन श्लोकों में द्वैताद्वैतमिश्रितवाद ही प्रतिपन्न हो रहा है।

प्रतिभासत एवेदं जगन्न परमार्थतः।

—योगवाशिष्ठ, स्थिति प्रः

—यह जगत् केवल प्रतिबिम्बमात्ररूप में ही प्रतिभासमान हो रहा है, परमार्थतः जगत् वस्तु नहीं है।

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥

—ब्रह्मबिन्दूपनिषद्, १२

नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः।
एकः स भिद्यते शक्त्या मायया न स्वभावतः॥*

—जाबालदर्शनोपनिषद्, १०।२

—एक ही आत्मा सर्वभूतों में अधिष्ठित है, केवल जलगत चन्द्र के समान बहुरूपों में दृष्ट होती है। वह नित्य, सर्वव्यापी, कूटस्थ एवं दोषवर्जित है। वह एक होकर भी केवल मायाशक्तिद्वारा विभिन्नवत् प्रतीयमान हो रही है।

जलपूर्णेष्वसंख्येषु शरावेषु यथा भवेत्।
एकस्य भात्यसंख्यत्वं तद्भेदोऽत्र न दृश्यते॥

—शिवसंहिता, १।३५

—बहुसंख्यक जलपूर्ण बहु शरावें में एक सूर्य जिस प्रकार प्रतिबिम्बित होकर बहुसंख्यक के रूप में दृष्ट और अनुभूत होता है, एक आत्मा भी उसी प्रकार मायावच्छिन्न होकर ही बहुसंख्यक जैसी दृष्ट होती है। अर्थात् सूर्यबिम्ब के समान आत्मा का द्वित्वभाव नहीं है।

रूपकार्यसमाख्याश्च भिद्यन्ते तत्र तत्र वै।
आकाशस्य न भेदोऽस्ति तद्वज्जीवेषु निर्णयः॥

—माण्डूक्यकारिका, अद्वैत प्र०, ६

—एक ही आत्मा में अज्ञानतावशतः नाना प्रकार की भेदबुद्धि हुआ करती है। जिस प्रकार एक ही आकाश, घटाकाश पटाकाशादिरूप में क्षुद्र और बृहत् के रूप में निर्णीत होता है, उसी प्रकार व्यवहार के लिए नानाविध जीव समस्त कल्पित हुआ करते हैं।

* 'एकः सम्भिद्यते भ्रान्त्या मायया न स्वरूपतः' इति पाठान्तरम्।—अनुवादक

उपाधिषु शरावेषु या संख्या वर्तते परम्।
सा संख्या भवति यथा रवौ चात्मनि सा तथा॥

—शिवसंहिता, १।३६

—जिस प्रकार एक सूर्य बहुसंख्यक शराव (मिट्टी के पात्र)-रूप उपाधियों से अनुप्रविष्ट होकर उपाधियों के संख्यानुसार बहुसंख्यवत् प्रतीयमान होता है, आत्मा भी उसी प्रकार बहु उपाधियों से अनुप्रविष्ट होकर उपाधियों के संख्यानुसार बहुरूप में प्रतीयमान हो रही है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, १८।६१

—हे अर्जुन! ईश्वर सकल भूतों एवं सकल प्राणियों के हृदयमन्दिर में स्थित होकर यन्त्रारूढ़ के समान भूतगणों को मायाद्वारा भ्रमण करवा रहे हैं।

ये सारे श्लोक दृढ़भाव से अद्वैतवाद को प्रतिपन्न कर रहे हैं।

अभी बात यह है—एक हिन्दुशास्त्र में इस त्रिविध मतविरोध का कारण क्या है? शास्त्रों में ही इसकी मीमांसा है—

आश्रमास्त्रिविधा हीनमध्यमोत्कृष्टदृष्टयः।
उपासनोपदिष्टेयं तदर्थमनुकम्पया॥

—माण्डूक्यकारिका, अद्वैत प्र०, १६

जगत् में उत्तम, अधम और मध्यम-भेदानुसार तीन प्रकार के अधिकारी हैं। जो उत्तम अधिकारी हैं, वे उपासना नहीं करते। जो संसारासक्त हैं, वे अधमाधिकारी एवं जो एतदुभय के मध्यवर्ती हैं, वे मध्यमाधिकारी हैं। मध्यम और अधम अधिकारी,—केवल उन्हीं के लिए उपासना के उपदेश दिये गये हैं। उपास्य और उपासक न होने से उपासना नहीं की जा सकती। इसीलिए धर्म के प्रथम स्तर के साधकों में भक्ति के प्रति आकर्षण और कर्मयोग में

प्रवृत्त कराने के लिए शास्त्र में द्वैतवादमूलक उपदेश दिये गए हैं। भक्तिशास्त्रमात्र ही द्वैतवाद से पूर्ण है। मुहम्मदीय और ईसाई धर्म भी द्वैतवादमूलक है। अविवेकी सामान्य जनों की नास्तिकता नष्ट कर भक्ति के उत्कर्षसाधन के लिए ही द्वैतमतानुसार उपदेश प्रदान करना होगा। इस प्रकार उपास्य और उपासक-सम्बन्धानुसार धर्माचरण के द्वारा चित्त को पवित्र करते रहने से ऐसी एक अवस्था आती है, जिस अवस्था में साधक अपना कर्तृत्व ज्ञान खोकर ईश्वरकर्तृत्व ही अधिकतर अनुभव करना चाहते हैं एवं स्वयं को उपास्य (परमात्मा) में अधिष्ठित अनुभव करते हैं। किन्तु यह ज्ञान भी अति सङ्कीर्ण है। यथा—

उपासनाश्रितो धर्मो जाते ब्रह्मणि वर्तते।
प्रागुत्पत्तेरजं सर्वं तेनासौ कृपणः स्मृतः॥

—माण्डूक्यकारिका, अद्वैत प्र०, १

—उपासनागत धर्म अवलम्बन कर जिन्हें ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हुआ है अर्थात् ब्रह्म उपास्य एवं हम उपासक हैं, इस प्रकार के द्वैतवाद से जो ब्रह्मज्ञान हुआ है, उसे ब्रह्मविद् योगिगण कृपण कहते हैं, कारण यह अतिसङ्कीर्ण ब्रह्मज्ञान है।

इस प्रकार के ब्रह्मज्ञानी व्यक्ति ब्रह्मतत्त्व का कुछ भी नहीं जान पाते हैं। क्योंकि, इस प्रकार द्वैतज्ञान तो है, परन्तु द्वैतज्ञान का उपशम करना ही वेदान्त का प्रकृत मर्म है। अनेक दिन तक समाधि अभ्यास के पश्चात् निर्विकल्प समाधिलाभ होने से अद्वैतज्ञान समुत्पन्न होता है। तभी किसी आचार्य ने कहा है—

अविज्ञाते तत्त्वे परिगणनमासीत् प्रथमतः
शिवोऽयं पूजेयं गुरुरयमहं पूजक इति।
इदानीमद्वैतं कलयति गुणातीतमनघं
शिवः कः पूजा का गुरुरपि च कः कोऽहमिति च॥

—तत्त्वज्ञान से पूर्व ये आराध्यदेव शिव हैं, ये तत्त्वोपदेष्टा गुरु हैं, आराध्यदेव की यही पूजा है और मैं पूजक हूँ, प्रथमतः इस प्रकार भेदों की गणना हुआ करती है। किन्तु तत्त्वज्ञान समुदित होने से, आत्मा अद्वैत और गुणातीत ब्रह्मरूप में प्रकाशमान होगी। उस समय शिव कौन हैं, पूजा क्या चीज है, गुरु ही भला कौन हैं, और मैं ही कौन हूँ ? उस समय फिर अन्य किसी भाव का उदय नहीं होगा, केवल तूष्णीम्भाव आकर जीव को आश्रय करेगा।

संसारी व्यक्ति साधनासम्पन्न और विवेकयुक्त न होने से अद्वैत ब्रह्मज्ञान के अधिकारी नहीं हो सकते। क्योंकि, परात्पर परमात्मा अविवेकी व्यक्ति को द्वैतविधि से ही ज्ञात होते हैं। बाल्यकालावधि द्वैतज्ञान हमें अभ्यस्त हो गया है, फलतः उसे कठोर साधना और विवेक के बिना बदल देने का उपाय नहीं है। साधनाद्वारा द्वैतभाव बदलकर अनेक कष्ट से अद्वैतभाव में परिणत करना होता है। वस्तुतः "समस्त वस्तु तो एक ही है", इस ज्ञान को क्या सहज में समझा जा सकता है ? इसके लिए शास्त्रकारों ने इसका उपाय निर्देश किया है। द्वैतज्ञान को अद्वैतज्ञान में लाने के लिए समस्त पृथक् पृथक् ज्ञान को पृथक् पृथक् रूप से समझाकर अन्त में एकत्व में नियोजित किया है। पहले सृष्टि और स्रष्टा या जगत् और ब्रह्म इस द्वैतवाद की स्थापना कर अन्त में कहा है कि ब्रह्म ही जगत्रूप में प्रतीयमान हो रहा है अर्थात् जगत् ब्रह्म से स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, जगत् की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। तत्पश्चात् प्रकृति और पुरुष, इस द्वैतवाद को स्थापित कर अन्त में शिवशक्ति का एकत्र सम्मिलन दिखलाकर अद्वैतवाद को प्रतिपन्न किया है। पुनः जीवात्मा और परमात्मा या उपास्य और उपासक, इस द्वैतवाद को स्थापित कर तत्पश्चात् जीवात्मा और परमात्मा के ऐक्यज्ञान से अद्वैतवाद सम्पन्न किया है। अन्त में साकार और निराकार भाव अवलम्बनपूर्वक द्वैतवाद स्थापनपूर्वक

साकार को फिर निराकार में लय कर अद्वैतवाद दिखाया है। यह हिन्दुओं की गहन गवेषणा का फल है, इसे अवश्य स्वीकार करना होगा।

हिन्दुधर्म सर्वविध अधिकारियों के लिए उपदिष्ट होने के कारण इस प्रकार के मतविरोध दृष्ट होते हैं। क्योंकि, जिन्हें जितना भी ज्ञान सञ्चय हुआ है, जो जिस प्रकार के अधिकारी हुए हैं, वे उतना ही अभ्रान्त समझ अपने मतप्रचार में प्रयासी हैं। शास्त्र में सर्वविध अधिकारियों के उपयोगी उपदेश होने से उन्हें युक्ति और प्रमाण का अभाव नहीं होता है। इसलिए द्वैतवाद या अद्वैतगर्भस्थ द्वैतवाद हिन्दुशास्त्र में दृष्ट होता है। किन्तु वह अद्वैतवाद संस्थापन का उपाय मात्र है। फिलहाल स्थूल दृष्टि से अन्यरूप मालूम पड़ता है। गीता में भगवान् निम्नाधिकारी लोगों हेतु साधनामूलक उपदेशों से अर्जुन को द्वैतवाद दिखलाकर फिर स्पष्टाक्षरों में कह रहे हैं,—

अहमात्मा गुड़ाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

—श्रीमद्भगवद्गीता, १०।२०

—हे गुड़ाकेश ! मैं सर्वभूतों के अन्तःकरणस्थित आत्मा हूँ।

उन्होंने और भी कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ६।२९

—योगाभ्यास द्वारा जिनका चित्त समाहित है एवं जो सर्वदा इस ब्रह्म के दर्शन करते हैं, वे ब्रह्मादि स्थावर तक सर्वभूतों में स्वयं को एवं स्वयं में सर्वभूतों को देखते हैं।

सिद्ध रामप्रसाद ने शक्ति-उपासक होकर भी अद्वैतभाव का अनुभव किया था, तभी गा गये हैं—

"प्रथमे मूला प्रकृति, अहङ्कारे लक्षकोटि।"

वेद ने और भी स्पष्टरूप से कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
संपश्यन् ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना।।

—कैवल्योपनिषद्, १०

—जो व्यक्ति सकल भूतों में आत्मदर्शन करते हैं एवं आत्मा में सकल भूतों के दर्शन करते हैं, वे ही परम ब्रह्म लाभ करते हैं। अन्य और किसी उपाय से परम ब्रह्म नहीं पाया जाता।

अतएव एतावता प्रतिपन्न हुआ, कि अद्वैतवाद ही हिन्दुशास्त्र का चरम उद्देश्य है। फिर भी जितने दिन उस ज्ञान तक नहीं पहुँचा जाय, उतने दिन द्वैतवाद या द्वैताद्वैतमिश्रित ज्ञान से उपासना करना कर्तव्य है। यह अद्वैतज्ञान शास्त्रपाठ या तर्कद्वारा लाभ नहीं किया जा सकता। केवल एकमात्र उपासना की परिपक्वावस्था में निर्विकल्प समाधियोग से वह प्राप्त हुआ करता है। अद्वैतज्ञान लाभ न कर पाने से, अन्य किसी प्रकार से जीवात्मा परामुक्ति लाभ करने में सक्षम नहीं हो पाती है।

वर्तमान काल में हमारे देश के अनेक कृतविद्य व्यक्तियों ने अपने निजकृत ग्रन्थों में द्वैतवाद या अद्वैतगर्भस्थ द्वैतवाद प्रतिपन्न करने में अनेक परिश्रम किया है एवं तदनुकूल हिन्दुधर्मशास्त्रों से प्रमाण और युक्तियाँ दिखलाकर पाण्डित्य का परिचय दिया है। द्वैतवाद प्रतिपन्न कर बहादुरी दिखलाने का कारण क्या है ? —समझ में नहीं आता। तुम और मैं जो भिन्न हैं, यह ज्ञान स्वभावज है। द्वैतज्ञान समझाने में शास्त्रकार मुनि-ऋषिगण जो कठोर परिश्रम कर गये हैं, यह बात एक बच्चा भी विश्वास नहीं कर सकता है।

तत्त्वज्ञान किसे कहते हैं ?

अभेदप्रत्ययो यस्तु जीवस्य परमात्मना।
तत्त्वबोधः स विज्ञेयो वेदतन्त्रादिभिर्मतः।।

—स्मृति

जीवात्मा में परमात्मा का अभेदज्ञान ही तत्त्वज्ञान है। वेद, तन्त्रादि शास्त्रों का भी यही मत है। अभी पूछूँ, तुम द्वैतवाद प्रतिपन्न कर जीव को किस ज्ञान में ले जाओगे ? कोई तो "तत्त्वमसि" महावाक्य के कर्मधारय समास के बदले षष्ठीतत्पुरुष समास कर (तस्य+त्वम्+असि=तत्त्वमसि, षष्ठीतत्पुरुष समास में विभक्ति का लोप होकर तस्य शब्द तत् हुआ है) द्वैतवाद का समर्थन करते हैं। एक शब्द को व्याकरण के कल्याण से नानाविध अर्थों में परिणत किया तो जा सकता है ; किन्तु वह क्या वास्तविक ज्ञान है ? साधक साधना से जो उपलब्धि करते हैं, वही सत्य है। जो केवल शास्त्रपाठ कर द्वैतवाद या अद्वैतवाद प्रतिपन्न करने जाते हैं, वे भ्रान्त हैं। स्वयं भ्रम में पतित होकर नानाविध उपायों से दूसरों को भी भ्रमजाल में जड़ित कर दिया करते हैं। जो वास्तविक साधक हैं, जो उपासनाश्रित धर्मसाधना किया करते हैं, साधकावस्था में वे निश्चय ही द्वैतवादी हैं। द्वैतवादानुसार साधना करते-करते जब—"अत्रात्मव्यतिरेकेण द्वितीयं नो विपश्यति"—साधक परमात्मा भिन्न अन्य किसी वस्तु को नहीं देखते, इस अवस्थाप्राप्ति का नाम प्रकृत अद्वैतज्ञान है। इस अवस्था में साधक सर्वत्र ब्रह्मदर्शन किया करते हैं एवं स्पष्ट देख पाते हैं कि द्वैतवस्तु जो कुछ है, वह समस्त ही एक ब्रह्मशक्ति का प्रतिबिम्ब मात्र है। वस्तुतः साधक की उस अवस्था का वर्णन करना अत्यन्त कठिन है। इसके अतिरिक्त जो लोग (द्वैत या अद्वैत) एक पक्ष का अवलम्बन कर विराट् तर्कजाल का विस्तार करते हैं, उनका ज्ञान मिथ्या प्रलाप मात्र है।

अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते।
तेषामुभयथा द्वैतं तेनायं न विरुद्ध्यते॥

—माण्डूक्यकारिका, अद्वैत प्रः १८

नानाविध श्रुतिप्रमाणों से जाना जाता है कि अद्वैत ही परमार्थ एवं द्वैत उस अद्वैत का कार्य है। जब समाधि उपस्थित होती है, तब द्वैतबुद्धि नहीं

रहती। जो द्वैतवादी हैं, वे भ्रान्त हैं ; क्योंकि, श्रुति में उक्त है कि "एकमेवाद्वितीयम्"—वह परमात्मा एक और अद्वितीय है, अतः अद्वैत वैदिक मत सर्वथा अविरुद्ध है।

कर्मफल और जन्मान्तरवाद

परमेश्वर और परलोक को लेकर ही धर्म है। जन्मान्तर और परलोक में विश्वास नहीं रहने से मनुष्य किसके लिए धर्म करेगा ? इहलोक के साथ-साथ ही यदि मनुष्य के सारे सम्बन्ध मिट जाते, मनुष्य की सारी ज्वालाएँ शान्त हो जाती, तब यम, नियम, उपासनादि की क्या आवश्यकता रहती ? कठोर संयम-तपस्या विधान का क्या प्रयोजन होता ? एतद्देशवासी आबालवृद्धवनिता सबके सब जन्मान्तर और जन्मान्तरीय कर्मफल स्वीकार करते हैं। इस विश्वास में हृदय बाँधकर ही हिन्दुसतीकुल पतिप्रेम को हृदय में धारण कर परलोक या परजन्म में पति संग मिलन के लिए ज्वलन्त चिता में मृत पति के साथ जल मरती थी। इस विश्वास के बल पर ही भारतीय मनुष्य विपन्नार्तिहर हैं ; अपनी जड़देह की बलि देकर शरणागतरक्षण को प्रस्तुत हुआ करते थे। किन्तु वर्तमान में एक वर्ग के शिक्षित लोगों के निकट वे सब कवि-कल्पना और काव्य के अलङ्कार हैं। वर्तमान शिक्षाविभ्राट् के साथ-साथ हमारे शिक्षित समाज से मानों यह विश्वास कर्पूर के समान उड़ता जा रहा है। यदि जन्मान्तर, जन्मान्तरीय कर्मफलभोग प्रभृति हमारे हृदय में दृढ़ विश्वास के साथ जागरूक रहते, यदि हम अध्यात्म-जीवन की बातें, परलोक की बातें, कर्मफलजनित अदृष्ट की बातें क्रमशः विस्मृति के नीचे नहीं दबा देते, तो कभी भी इहजीवन में पाप की अग्नि जलाकर, दानवी-दीप्तिपूर्ण दृष्टि से वासना की वसाहुति लेकर खड़े न होते।

फिर ईसाई और मुसलमान धर्म भी जन्मान्तर स्वीकार नहीं करते, किन्तु स्वर्गादि लोकान्तर स्वीकार किया करते हैं। वे कहते हैं, "मनुष्य मृत्यु के

पश्चात् पाप या पुण्यानुसार अनन्त नरकों या अनन्त स्वर्गों में गमन करता है। तब ऐसा हो सकता है कि पाप और पुण्य के तारतम्य अनुसार जिसका परिमाण अल्प होगा, पहले उसी लोक में निवास कर तत्पश्चात् अनन्त नरकों या अनन्त स्वर्गों में जायेगा।'' किन्तु इससे ईश्वर के प्रति घोरतर निष्ठुरता और अविचार का आरोप प्राप्त होता है। क्योंकि, परिमित काल, कोटि कोटि युग होकर भी अनन्त काल की तुलना में कुछ भी नहीं है। जिन्हें ''दया का सागर'' कहते हैं, वे ही जो इस अल्पकालपरिमित मनुष्य जीवन में कृत पापों के लिए अनन्तकालस्थायी दण्डविधान करेंगे, इसकी अपेक्षा अविचार और निष्ठुरता और क्या है ?

अतएव अवश्य स्वीकार करना होगा, कि अनन्तकाल के लिए स्वर्ग-नरक-भोग विहित नहीं हो सकता। परब्रह्म में लीन होना भी सम्भव नहीं, क्योंकि स्वर्ग-नरक में ज्ञान-कर्मादि की साधना नहीं होती। तब आत्मा कहाँ जाती है ? फिर संसार की ओर देखो, तो देखोगे कि जगत् में कहीं भी समता नहीं है। विविध विषय-वासना-विजड़ित अनन्त सुख-दुःखपूर्ण संसार में असंख्य लोग इहलोक में कोई नाना सुख भोग कर रहा है, कोई दुःख-दुर्दशा से कष्ट पा रहा है, कोई आजीवन सुख के क्रोड़ में लालित-पालित और परिवर्धित होकर आनन्द-उत्साह से उज्जीवित होकर आमोद-सम्भोग कर रहा है, कोई रोग-शोक से जर्जरित होकर मनोदुःख से कालयापन कर रहा है। कोई धनी के घर में सुखी परिवार में जन्मग्रहण कर महासुख से बाल्य-जीवन का अतिक्रमण कर वार्द्धक्य में संसार-सागर की उत्ताल तरङ्गमाला के घात-प्रतिघात से हर क्षण विध्वस्त हो रहा है। कोई आमरण वृक्षतलवासी होकर द्वार-द्वार भ्रमण कर भिक्षालब्ध अन्नद्वारा उदरपूर्ति कर रहा है। किसी के दूध में चिनी, किसी के शाकान्न में बालू, इस प्रकार के विविध अवस्थावैषम्य का कारण क्या है ? अनन्त करुणानिधान न्यायवान् भगवान् पक्षपातशून्य हैं। वे छोटे-बड़े, राजा-प्रजा, धनी-निर्धन, पण्डित-मूर्ख, सुखी-

दुःखी सभी को समान दृष्टि से देखा करते हैं एवं समान स्नेह वितरण किया करते हैं, उनके लिए अपना-पराया नहीं है। उनकी सृष्टि में वैषम्य नहीं है—पक्षपात नहीं है। फिर सृष्टिराज्य में इस वैषम्य का कारण क्या है? कारण है—अदृष्ट। यह अ-दृष्टपूर्ण अदृष्ट क्या है ? अदृष्ट और कुछ भी नहीं, स्व-स्व पूर्वजन्मार्जित कर्मफल है। महामति चाणक्य ने कहा है, "कर्मदोषेण दरिद्रता।" इस कर्मक्षेत्र में मनुष्य सम्पूर्णरूप से कर्म के अधीन है। पिछले जन्म में मनुष्य ने जैसा कर्म किया था, वर्तमान जन्म में वही कर्म अदृष्टरूप से प्रतिभात होकर फल प्रदान कर रहा है। शास्त्र में कहा गया है कि—

कर्मणा सुखमश्नन्ति दुःखमश्नन्ति कर्मणा।
जायन्ते च प्रलीयन्ते वर्तन्ते कर्मणो वशात्॥

—महानिर्वाणतन्त्र, १४।१०४

—मनुष्य कर्मद्वारा सुखभोग करते हैं, कर्मद्वारा ही दुःखभोग करते हैं, कर्म के वश में ही वे जन्मग्रहण करते हैं, कर्मद्वारा शरीर धारण करते एवं कर्म के वश में ही मृत्यु के मुख में समा जाते हैं। दो वर्ष के किसी एक शिशु को रोग-यन्त्रणा से विकृताङ्ग देख उसे कर्मफल भिन्न कौन निर्बोध पाषण्डी कहेगा, कि भगवान् उसे कष्ट दे रहे हैं ? इन्हीं समस्त कारणों से आर्यजाति को जन्मजन्मान्तरवाद के प्रति दृढ़ विश्वास है। फलतः इस पूर्वजन्म के प्रति प्रगाढ़ विश्वासहेतु क्या परलोक, क्या आत्मा, क्या ईश्वर—हिन्दुओं के निकट ये सारे विषय स्वतःसिद्ध हैं। हिन्दुधर्म का यह बड़े सामान्य गौरव का विषय नहीं है। पाश्चात्य वैज्ञानिकगण स्वीकार करते हैं कि इस जगत् के किसी भी पदार्थ का पूर्ण विनाश नहीं होता है। हिन्दुधर्म की भी यही मीमांसा है। यदि स्थूलदेह का ध्वंस नहीं होता है, तो कामनामय सूक्ष्म मानस-शरीर का ध्वंस क्यों होगा ? स्थूलदेह के सारे पदार्थ मृत्यु के बाद समजातीय पदार्थों में मिल जाते हैं मात्र। प्राकृतिक नियमानुसार मनुष्य की

मृत्यु होने पर जब स्थूलदेह का विनाश होता रहता है, तब सूक्ष्मदेह भी स्थूलदेह से विच्छिन्न होकर समजातीय जीवों से समाकृष्ट एवं नवजीवन में समुद्भूत होता है। तभी भगवान् ने कहा है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, २।२२

—जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्र का परित्याग कर नूतन वस्त्र ग्रहण करता है, उसी प्रकार जीव जलौका (जोंक) के समान उत्तरदेह का अवलम्बन कर पूर्व की जीर्ण देह का परित्याग कर दिया करता है।

जो जिस जाति का पदार्थ है, वह उस जाति के पदार्थ में मिल जाता है—यही भगवान् के 'सङ्कर्षण'-शक्ति का नियम है। अन्यान्य धर्मों के समान हिन्दुधर्म ने ईश्वर को जीवों के पाप-पुण्य का विचार करने के लिए विचारासन पर स्थापित नहीं किया, यह भी हिन्दुओं के यथेष्ट गौरव का कारण है।

मनुष्य इसी देह में नानारूप देहान्तर को प्राप्त हो रहा है। तुम्हारे बाल्यकाल में जो देह रहती है, क्या यौवन में उस देह का कुछ रहता है, या यौवन में एक नयी देह की सृष्टि होती है ? बाह्य-विज्ञानमतानुसार प्रतिक्षण देहाभ्यन्तर की सृष्टि, स्थिति और लयकार्य चल रहे हैं। वही नित्य सृष्टि, स्थिति और लयकार्य के प्रभाव से प्रति दस वर्ष के अन्तर पर मनुष्य में नया-नया देहान्तर क्या नहीं हो रहा है ? यदि हो रहा है, तो कौमार्य के पश्चात् यौवन आने पर मनुष्य में जो देहान्तर होता है, यौवन के पश्चात् प्रौढ़ावस्था में भी वह देहान्तर एवं प्रौढ़ावस्था के पश्चात् जरा में भी उसी प्रकार का देहान्तर है ; फलतः इस कौमार्य, यौवन और जरा में मनुष्य की कौमार्य-मृत्यु, यौवन-मृत्यु एवं प्रौढ़ता-मृत्यु घटित हो रही है, क्योंकि उस-उस काल में उसके

पूर्व शरीर का सम्पूर्ण ध्वंस हो रहा है। जीव यदि इतनी बार मृत्यु के बाद भी जीवित रहता है, तब जरा मृत्यु के पश्चात्, जिस जरा से शरीर का ध्वंस होता है, उस शरीर के ध्वंस के बाद वह जीव जीवित क्यों नहीं रहेगा? अतएव मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा विद्यमान रहकर जो नूतन शरीर धारण करता है, यह युक्तिसिद्ध है। अतः इस युक्ति के अनुसार जीव जीवित रहता है जानकर बुद्धियुक्त ज्ञानी जीव की मृत्यु देखकर मुह्यमान नहीं होते हैं। मृत्यु के पश्चात् जीव को जो देहान्तर प्राप्त होता है, उस देह का भी कौमार्य, यौवन, जरा एवं मृत्यु है। फिर उसकी पर देह की भी उसी प्रकार उत्पत्ति और लयक्रम से जीव का जन्मजन्मान्तर अनादिकाल से चला आ रहा है। तभी भगवान् ने अर्जुन को उपदेश दिया था—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, २।१३

अतएव हिन्दुधर्ममतानुसार जीवात्मा की मुक्ति नहीं होने तक पृथ्वी पर आवागमन समाप्त नहीं होता है। जीवात्मा स्थूलदेह का परित्याग करने के पहले लिङ्गदेह में अन्वित रहती है; लिङ्गदेह का आश्रय कर स्थूलदेह का परित्याग करती है एवं उस लिङ्गदेह से भूर्लोक अर्थात् हमारी इस पृथ्वीलोक से अन्तरिक्षलोक तक गमन करती है। इस स्थान को ही प्रेतलोक कहते हैं। प्रेतलोक में जाकर पाप का फल भोगना पड़ता है। तत्पश्चात् पुण्यकर्म का फलभोग समाप्त होने पर, तब कर्मक्षय होकर उनका जो संस्कार रहता है, उस संस्कार को अदृष्ट कहते हैं। यह अदृष्ट को लेकर जीव फिर उस पथ से जगत् में आकर गर्भ-कटाह में प्रविष्ट होकर स्थूलदेह का धारण करता है। यह एक विचित्र लीला है—अद्भुत काण्ड है! संस्कारसूत्र में ग्रथित होकर वे सारी वासनाविदग्ध जीवात्माएँ जिस प्रकार मातृगर्भ में प्रवेश करती हैं एवं जिस प्रकार से देहत्याग करती हैं, वह योगियों के लिए नित्यप्रत्यक्ष

घटनाएँ हैं। साधना के बिना सामान्य जड़चक्षु से उसे देखा या व्यावहारिक ज्ञान से उसका अनुभव नहीं किया जा सकता।

ईश्वर दयामय, तो पाप-प्रणोदक कौन ?

संसार में ज्ञानी-अज्ञानी, सुखी-दुःखी, हिन्दू-मुसलमान, राजा-प्रजा, सभी परमेश्वर को "दया का सागर" आदि विशेषणों से आप्यायित किया करते हैं। किन्तु वास्तव में वे "दयामय" हैं या नहीं, ऐसा एकबार भी सोचकर देखा है क्या ? जो लोग दुःखी हैं, दिवा-रात्र रोग, शोक और दारिद्र्यपीड़न से मुह्यमान हैं, वे भी सकातर भगवान् को "दयामय" कहकर पुकार रहे हैं। बालक जिस प्रकार माँ से मार खाकर भी "माँ" "माँ" कहकर रोता है, उसी प्रकार क्या दुःखीगण का "दयामय" सम्बोधन है ? और नीरोग, बलशाली व्यक्तिगण क्या सुखैश्वर्यवश ईश्वर को "दयामय" कहकर कृतज्ञता प्रकट कर रहे हैं ? इस प्रकार का "दयामय" शब्द खुशामदी का नामान्तर मात्र है। जिसने जैसी मेहनत की है, प्रभु ने उसे उसी प्रकार का पारिश्रमिक दिया है, ऐसी अवस्था में उस प्रभु को "दयामय" कहने से व्यर्थ की खुशामद ही प्रकट होती है। संसार में सुख-दुःख जीव का स्वोपार्जित है ; क्योंकि जिसने जैसा कर्म किया है, वह तदनुरूप फल भोग कर रहा है। इसमें भगवान् की दया और निष्ठुरता का परिचय कहाँ है ? विशेषतः संसार में सुख-दुःख क्षणस्थायी हैं, मुहूर्त में नष्ट हो जाते हैं। उसके लिए ज्ञानी कभी भी ईश्वर की खुशामद नहीं करते हैं। मैं जानता हूँ, जिन्होंने विषयसुख में भगवान् को विस्मृत कर दिया है, उनके समान दुःखी, हतभाग्य जीव दूसरा नहीं है। वरं दुःखी-दरिद्र व्यक्तिगण ही ईश्वर के निकट अवस्थान करते हैं। भगवान् सर्वभूतों पर समानरूप से दया करते हैं एवं समदृष्टि से सभी को देखा करते हैं ; अतः सभी पूर्वजन्म के कर्मफल को भोग रहे हैं। तब वे दयामय क्यों हैं ?

मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति ही वास्तविक उन्नति है। प्रत्येक मनुष्य की आध्यात्मिक अवस्था की थोड़ी-सी विशेषताएँ हैं ; उन विशेष अवस्थाओं के उपयोगी उपायों का अवलम्बन करने से ही तो उसकी उन्नति होगी न ? अभी उन्हीं सब उपायों का अवलम्बन करने एवं तदनुसार कार्य करने की बुद्धि न पाकर किस प्रकार उनका अवलम्बन करना हम सीखेंगे एवं किस प्रकार ही भला हमारी आध्यात्मिक उन्नति की सम्भावना हो सकती है ? और वह बुद्धि एक अन्तर्यामी भगवान् को छोड़ और कौन देंगे ? अतएव ईश्वर हमें शुभबुद्धि की प्रेरणा दे रहे हैं। भारत के घर-घर में विश्वामित्र ऋषि का प्रणीत "गायत्री मन्त्र" इस बात की घोषणा कर रहा है ; यथा—

ॐ भूर्भुवः स्वः ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ओम्। —ऋग्वेद, ३।६२।१०

ओङ्कार को प्रणव या नाद कहते हैं।* ॐ शब्द का अर्थ सृष्टिस्थितिसंहारात्मक ब्रह्मा-विष्णु-रुद्ररूप त्रिगुणात्मक परब्रह्म हैं। जो दिवाकरमण्डलाभ्यन्तर में तत्प्रकाशक आदित्यदेवस्वरूप (हृदयाकाश में द्योतमान होने के कारण उन्हें देवता कहते हैं) परमपुरुषरूप में विराजित हैं ; वे ही जीवों के हृदयकमल में जीवात्माकार में प्रकाशमान हो रहे हैं, इस अभेदज्ञानद्वारा (देवस्य) दीप्ति और क्रियाविशिष्ट, (सवितुः) सर्वभूत प्रसवकारी सूर्य की (भूर्भुवः स्वः) पृथिवी, अन्तरीक्ष और स्वर्ग ये त्रिभुवनस्वरूप (वरेण्यं) जनन-मरण-भीतिविदुरणार्थ उपास्य (तत् भर्गः) उस भर्ग नामक ब्रह्मस्वरूप जो ज्योतिः हैं, उसी का हम (धीमहि) चिन्तन करते हैं। (यो) जो भर्ग सर्वान्तर्यामी ज्योतिःरूपी परमेश्वर (नः) हम संसारी लोगों की (धियः) बुद्धिवृत्ति को (प्रचोदयात्) धर्मार्थकाममोक्षरूप चतुर्वर्गों में निरन्तर प्रेरित कर रहे हैं।

---

* प्रणव का सविशेष तत्त्व मेरे प्रणीत "योगीगुरु" ग्रन्थ के योगकल्प के "प्रणवतत्त्व" शीर्षक प्रबन्ध में देखो।

भगवान् ने अर्जुन के निकट यही कहा था—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।

—श्रीमद्भगवद्गीता, १०।१०

—जो लोग श्रद्धासहित मुझे भजते हैं, उन्हें मैं ऐसी बुद्धि प्रदान करता हूँ, जिससे वे मुझे (ईश्वर को) प्राप्त हों।

अतएव ईश्वर सुख-दुःख-दण्ड-प्रदाता होने से "दयामय" नहीं, वे तो प्रतिक्षण हमें धर्मार्थ-काम-मोक्ष-प्रयोजक समस्त बुद्धिवृत्तियों का प्रेरण कर रहे हैं, इसी कारण संन्यासी-संसारी, सुखी-दुःखी सभी एक स्वर से उन्हें "दयामय" कहकर पुकार रहे हैं ; यही उनके दयामय नाम का परिचय है।

भगवान् हर क्षण शुभबुद्धि हमें प्रदान कर तो रहे हैं, किन्तु अशुभबुद्धि का वे कदापि प्रेरण नहीं करते। फिर भी धर्मशास्त्रों में स्थान-स्थान पर ऐसी बातें हैं, जिन्हें पहले देखते ही लगता है कि ईश्वर पाप करवा रहे हैं। किन्तु थोड़ी-सी आलोचना करते ही लगंता है, कि वह प्रकृत भाव नहीं है। ऐसे विरोधाभास-स्थल पर पूर्वापर देखकर सामञ्जस्य कर लेना होता है। यदि ईश्वर पाप करा रहे हैं ऐसा होता, तो शास्त्रकारगण पापकारियों के प्रति दुर्वाक्यों का प्रयोग न करते। भगवान् ने अपने मुख से कहा है "न मां दुष्कृतिनो मूढ़ा प्रपद्यन्ते नराधमाः।" (गीता, ७।१५) तब पाप में कौन नियुक्त करता है ? ठीक यही बात अर्जुन ने भगवान् से पूछी थी। यथा—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।।

—श्रीमद्भगवद्गीता, ३।३६

—हे वार्ष्णेय ! लोग पापकर्म करने में अनिच्छुक होकर भी कौन उन्हें पापकर्म में नियोजित करता है ?

इसपर भगवान् कहते हैं—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ३।३७, ३९

इसका भावार्थ यह है, कि मनुष्य काम-क्रोध के वशीभूत होकर ही इस प्रकार का पापाचरण करता है। कामद्वारा ज्ञान आच्छादित होने से मनुष्य वास्तविक पथ नहीं देख पाता है। इस कारण से इन्द्रियसंयम का अभ्यास कर काम, क्रोध प्रभृति समस्त रिपुओं का विनाश करना होगा। अतएव देखा जाता है कि मनुष्य अपने दोषों से ही पाप-आचरण करता है। पापकर्म यदि हम उनके द्वारा ही सञ्चालित होकर करते, तब उसके लिए फिर हमें दण्डभोग क्यों करना होता है ? ईश्वर ऐसे निष्ठुर राजा नहीं हैं कि वे हमारे द्वारा अपने मनोनुकूल एक कार्य कराकर फिर उसी कार्य के लिए हमें दण्ड देंगे। फिर कौन-सा कर्म ईश्वर अनुमोदित है, और कौन-सा कर्म अननुमोदित है, वह समझने के लिए हमारी चित्तशुद्धि की आवश्यकता है, धर्म का बोध भी रहना आवश्यक है, ऐसा होने से ही अनायास ही समझ सकेंगे।

ईश्वर-उपासना का प्रयोजन

जीव की ईश्वर-उपासना का क्या प्रयोजन है ? कई लोग सोचते हैं, ईश्वर मायामुक्त पुरुष हैं, मायायुक्त जीव के हितार्थ जो कर रहे हैं, सो तो करेंगे ही ; वे सुख, दुःख, स्तव, निन्दा और पूजा प्रभृति के अतीत हैं। जो उनका करणीय है, सो वे कर रहे हैं, तब ईश्वर-उपासना का प्रयोजन क्या है ? हम मायायुक्त जीव हैं, विवेक-बुद्धि के बलपर नीतिपथ का अवलम्बन करते

हुए चलें, ईश्वर का कार्य ईश्वर करते रहें, हमारे कार्य हम करते रहें, खुशामद के द्वारा उन्हें प्रलुब्ध करने का प्रयोजन क्या है ? किन्तु उपासना का उद्देश्य वह नहीं है। उपासना का अर्थ है ईश्वरचिन्तन। ईश्वरचिन्तन किसे कहते हैं ? केवल आँखें मूँदकर ईश्वरचिन्तन करने जायें तो अन्धकार के अलावे और कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता है। बल्कि विषयचिन्ता सैकड़ों भुजाएँ सृजन कर सम्पूर्ण हृदय को जकड़ लेती है।

स्तुतिस्मरणपूजाभिर्वाङ्मनःकायकर्मभिः।
सुनिश्चला हरेर्भक्तिर्भवेदीश्वरचिन्तनम्॥

—गरुड़पुराण

—स्तव, स्मरण, पूजादि एवं कायमनोवाक्य से कर्म करने के लिए जो अचला भक्ति है, उसी को ईश्वरचिन्तन कहते हैं।

ईश्वर को तुष्ट करने के लिए उनका स्तव नहीं करते हैं, पूजा नहीं करते हैं। उनका चिन्तन कर उनके सारूप्य लाभ करने के लिए ही उनकी पूजा अर्चना और स्तवादिरूप उपासना किया करते हैं। भ्रान्त जीवों को भ्रम का नाश करने के लिए ईश्वरनिरत होना आवश्यक है। चित्तवृत्ति का निरोध कर वास्तविक भगवत्चिन्तापरायण न हो पाकर भी स्तव-पूजादि द्वारा तत्त्वज्ञान का उदय होता है ; तत्त्वज्ञान के उदय होने से, उत्कृष्ट गुणों का उदय होकर क्रमशः आत्मप्रसाद और जन्मान्तर में उन्नति होती है। किन्तु चित्तवृत्ति निरोध कर निरन्तर चिन्तनद्वारा उनका सारूप्य लाभ होता है। और ईश्वरचिन्तन न होने से, सर्वदा विषय या पदार्थों के चिन्तन में कालातिपात करने पर, अवास्तव विषयचिन्तन वास्तववत् प्रतीयमान होता है। तब जीव विषयचिन्तन में ही निरन्तर मग्न रहता है एवं संसारचिन्तन करते-करते उसकी संसारत्वप्राप्ति ही होती है। तभी भगवान् ने अपने मुख से कहा है—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥

तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम्।
हित्वा मयि समाधत्स्व मनो मद्भावभावितम्॥

—श्रीमद्भागवत, ११।१४।२७-२८

—जो व्यक्ति विषयचिन्तन करता है, उसका मन विषय में ही समासक्त होता है, और जो व्यक्ति मेरा (ईश्वर का) चिन्तन करता है, उसका मन मुझमें ही लयप्राप्त होता है; अतएव स्वप्नमनोरथ के समान असत् चिन्तन का परित्याग कर मेरे भजन द्वारा शोभित अन्तःकरण को मुझमें ही समाहित करो।

फिर अर्जुन को कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ८।१४

—जो अनन्यचित्त से सतत मुझे स्मरण करते हैं, हे पार्थ ! उसी नित्ययुक्त योगी को मैं सुलभ हूँ।

बुद्धदेव ने ईश्वरचिन्तन छोड़कर अनासक्त और कर्मफलशून्य होकर विवेक के वशीभूत होकर कर्म करने का उपदेश दिया था। इसीलिए कालानुसार बौद्धधर्म नास्तिकता और जड़त्व में परिणत हो गया था। सबकुछ ईश्वर का ही है, ईश्वर के अनुग्रह के कारण ही मेरा सबकुछ है—इस प्रकार से नहीं सोचने से अहंत्व क्योंकर जायेगा ? शिशुसन्तान के लिए उसका मातृस्तन्य जैसा है, उपासना के द्वारा जो अमृत पान किया जाता है, आत्मा के लिए वह भी ठीक उसी प्रकार का है। उपासना के द्वारा हमारी आत्माएँ क्रमशः अधिकतर द्रढ़िष्ठ और बलिष्ठ हो उठती हैं एवं असंख्य प्रकार की बाधाओं को पार करके भी उन्नति के पथ पर जाने में समर्थ होती हैं। उन्नति के पथ पर अग्रसर होने के लिए आत्मा को जिन चीजों का प्रयोजन होता है, उपासनाद्वारा अतिसहज ही उन सबको पाया जा सकता है। अधिक क्या

कहूँ, उपासना ही आत्मा का सर्वस्व है। जिससे हम सर्वदा उपासना करने का अधिकार पायें, उसके लिए परमेश्वर के निकट सर्वदा हमें प्रार्थना करनी आवश्यक है। शास्त्र में उक्त है—

उपासनस्य सामर्थ्याद्विद्योत्पत्तिर्भवेत्ततः।
नान्यः पन्था इति ह्येतच्छास्त्रं नैव विरुध्यते॥

—पञ्चदशी, ९।१४२

—उपासना के सामर्थ्यवशतः मुक्ति का कारण ज्ञान उत्पन्न होता है, उपासना के बिना यथार्थ तत्त्वज्ञान उत्पत्ति का अन्य पथ नहीं है।

एवमात्माऽरणौ ध्यानमथने सततं कृते।
उदितावगतिर्ज्वाला सर्वाज्ञानेन्धनं दहेत्॥

—आत्मबोधः, ४२

—आत्मरूप अरणिकाष्ठ में सर्वदा ध्यानरूप मन्थन-क्रिया करने से ज्ञानरूप अग्नि उदित होकर समस्त अज्ञानरूप काष्ठ को दग्ध करती है।

इसके अतिरिक्त ईश्वर की उपासनाद्वारा हमारा चित्त जिस प्रकार निर्मलभाव धारण करता है, और किसी से भी वैसा नहीं होता है। यथा—

यथा हेम्नि स्थितो वह्निर्दुर्वर्णं हन्ति धातुजम्।
एवमात्मगतो विष्णुर्योगिनामशुभाशयम्॥

—श्रीमद्भागवत, १२।३।४७

—अग्नि जिस प्रकार सुवर्ण में प्रविष्ट होकर सुवर्ण को विशुद्ध करती है (अर्थात् खादमिश्रणजनित सुवर्ण की मलिनता का विनाश करती है), परमेश्वर भी उसी प्रकार योगियों के हृदय में आविर्भूत होकर उनके हृदय की समस्त मलिनता (अशुभ वासनादि) को विदूरित करते हैं।

कोई-कोई दुर्बलाधिकारी (मगर निराकार-परब्रह्म-उपासक) व्यक्तियों के मुख से, "जिनका रूप नहीं, आकार नहीं, उनका क्या ध्यान करूँगा" इस

प्रकार की उक्ति सुनने को मिलती है। उनके प्रति मुझे यही कहना है कि, पितामह ब्रह्मा ने इस प्रकार से परब्रह्म का स्तव किया था। यथा—

स्थितं सर्वत्र निर्लिप्तमात्मरूपं परात्परम्।
निरीहमवितर्क्यञ्च तेजोरूपं नमाम्यहम्॥

—ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, ५।९६

—जो आत्मरूप में अलिप्तभाव से सर्वत्र विद्यमान हैं, जिनके समान तुल्य वस्तु और कहीं कुछ भी नहीं है; उस निरीह, तर्क के अतीत, तेजोरूप में विद्यमान पुरुष को नमस्कार करता हूँ।

फिर परब्रह्म का ज्ञान और शक्ति का ध्यान किया जा सकता है। यथा—

तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।*

—गायत्री

—हम जगत्प्रसविता परमदेवता के उत्कृष्ट ज्ञान और शक्ति का चिन्तन करते हैं।

सामान्य उपासना करने से मुक्ति नहीं होती। क्योंकि उस उपासना से मुक्ति का कारण तत्त्वज्ञान लाभ नहीं होता है। जिस प्रकार मृदु आघात से मर्मभेद नहीं होने के कारण मृत्यु नहीं होती, किन्तु दृढ़ आघात से मर्मभेद होकर मृत्यु होती है, उसी प्रकार दृढ़ उपासना से ज्ञान उत्पन्न होकर मुक्ति होती है।† समस्त दिवस अन्यमनस्क रहकर केवलमात्र एकबार या दो-बार माला-झोला लेकर बैठने से उसके द्वारा मुक्ति का होना असम्भव है। पुनःपुनः उपासना करने की जरूरत है एवं समस्त दिन उपासना के भाव में मग्न रहना आवश्यक है। एक सिद्ध महापुरुष ने गाया है—

---

* यह मन्त्र त्रिपुरातापिन्युपनिषद् १।१ में भी है।—अनुवादक

† न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः। (वेदान्तसूत्र ३।३।५१)

उठिते बसिते खाइते शुइते उपासना करा चाइ।

भोजन आमार आहुति प्रदान,
शयन आमार साष्टाङ्ग प्रणाम,
भ्रमण आमार प्रदक्षिण ताँर,
प्रति कथा मोर मन्त्र।
प्रति अङ्गभङ्गी मुद्रा विरचन,
जे भाबेइ बसि सेइ त आसन,
जे चिन्ताइ करि, ताँरि ध्यान करि,
ए जीवन ताँर यन्त्र।

[उठते बैठते खाते सोते (हर हालत में) उपासना करनी चाहिए।

भोजन है मेरा आहुति-प्रदान,
शयन है मेरा साष्टाङ्ग प्रणाम,
भ्रमण है मेरा प्रदक्षिणा उनकी,
हर वाक्य मेरा मन्त्र।
हर अङ्गभङ्गी मुद्रा विरचन,
जैसे मैं बैठूँ वही तो आसन,
जो चिन्तन करूँ उनका ध्यान धरूँ,
यह जिन्दगी उन्हींका यन्त्र।]

भोजन में, भ्रमण में, शयन में, उपवेशन में—अष्टप्रहर उपासना में नहीं रहने से सिद्धि का उपाय नहीं है। इस प्रकार की उपासना से जीवात्मा के महत्तम कार्य का परमात्मा के साथ सम्मिलन होता है। जीवात्मा और परमात्मा के सम्मिलन का नाम योग है। इस योगसाधना के तीन प्रधान उपाय हैं—**कर्म**, **ज्ञान** और **भक्ति**।

कर्मयोग

जो किया जाता है, वही कर्म है (कृ+मन्)। कायद्वारा, मनद्वारा और वाक्यद्वारा जो भी किया जाता है, वही कर्म है।

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।

—पातञ्जलयोगदर्शन, २।१

—तपस्या, अध्यात्मशास्त्रादि का पाठ, ईश्वरप्रणिधान अर्थात् ईश्वर में दृढ़ विश्वास या समुदाय कर्मों के फल का ईश्वर में समर्पण, इसी को क्रियायोग कहते हैं।

कर्मों का त्याग सहज नहीं है। कायद्वारा कर्म का परित्याग करने पर भी मन की कर्मनिवृत्ति यथार्थ ज्ञानलाभ के न होने से नहीं होती है। कर्म से ज्ञान श्रेष्ठ है। कर्म ही बन्धन का कारण है, यह स्वीकार करता हूँ। किन्तु कर्म परित्याग करने पर भी कर्म हमारा परित्याग करना नहीं चाहता है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ३।५

—कोई कभी भी कर्म का त्याग कर क्षणमात्र के लिए भी अवस्थान करने में समर्थ नहीं होता है, कोई इच्छा न करने पर भी प्राकृतिक गुणसमुदाय ही उसे कर्म में प्रवर्तित करता है।

अतएव गुण जबतक है, हमारे कर्म भी तबतक हैं ; गुण के नहीं जाने पर, कर्म क्योंकर जाएँगे ? अतः कर्म करके ही गुणों का क्षय करना होगा, ऐसा होने से क्रमशः ज्ञान प्रकाशित होगा। किन्तु कर्म करने से पुनः कर्मफल सञ्चय होगा, उस फल से पुनः गुण होंगे, गुण होने से फिर कर्म करना होगा। यह गुण-कर्म लेकर ही मनुष्य के जन्म-जन्मान्तरों का आवागमन लगा रहता है। अतएव कर्म नहीं करने के अतिरिक्त जब दूसरा उपाय नहीं है,

तब कर्म करना ही होगा, किन्तु वह कर्म सम्पूर्ण आसक्तिशून्य होकर ही करेंगे। समस्त कर्मफल ईश्वर में समर्पण कर अनासक्तचित्त होकर कर्म करने को ही कर्मयोग कहते हैं। भगवान् ने कहा है—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, २।४८

—हे धनञ्जय ! आसक्ति परित्याग कर सिद्धि और असिद्धि में समचित्त होकर युक्तभाव से कर्मानुष्ठान करो।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ३।१९-२०

—पुरुष अगर आसक्तिशून्य होकर कर्मानुष्ठान करे, तो मोक्षलाभ करता है, अतएव आसक्ति परित्याग कर कर्मानुष्ठान करो। जनक आदि महात्माओं ने कर्मद्वारा ही सिद्धिलाभ किया था ; लोगों को स्वधर्मप्रवर्तन के प्रति दृष्टि रखकर कर्म करना उचित है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, २।४७

—कर्म करने का ही अधिकार तुम्हें है, कर्मफल का नहीं।

यह निष्काम कर्म भी भगवद्भक्तिवर्जित होने से शोभा नहीं पाता है। चावल पाने की इच्छा से तुष पर आघात करना जिस प्रकार निष्फल होता है, भगवद्भक्तिशून्य होकर कर्म के लिए प्रयास करना भी उसी प्रकार विफल हो जाता है। तभी श्रीकृष्ण ने कहा है—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ३।९

—भगवदाराधनार्थ कर्म के अतिरिक्त अन्य कर्म करने से, लोग कर्मबद्ध होते हैं; अतएव हे कौन्तेय! भगवान् के प्रीत्यर्थ निष्काम होकर कर्मों का अनुष्ठान करो।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ९।२७

—अर्थात् तुम जो कुछ भी करोगे, वह ईश्वर को अर्पित करो। इस प्रकार कर्मयोग का अभ्यास कर कर्मबन्धन अर्थात् फलकामनाविशिष्ट कर्मसमूह के सुदृढ़ पाश से मुक्त होकर योगसाधना के पथपर अग्रसर होओगे। किन्तु पाठकगण! देखिए—"अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः" (गीता, ६।१)—"कार्य कर्म"—कर्तव्य कर्म है अर्थात् जिन कर्मों को न करने से प्रत्यवाय होता है, इस प्रकार के कर्म करने का शास्त्रकारों ने उपदेश दिया है। याद रहे, फलाफल के प्रति ध्यान न देकर मन्द कर्मों को करने से, वे कर्म कर्मयोग नहीं कहला सकते।*

कार्य अनेक रहें, मगर मन भगवान् में अर्पित हुए रहे, इस प्रकार से इन्द्रियों को संयम के द्वारा बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् से स्ववश में लाना ही कर्मयोग है एवं उन सबका एकमात्र ईश्वरोद्देश्य होना कर्तव्य है। हिन्दुधर्म के कर्मकाण्ड में यही शिक्षा दी जाती है, कर्मयोग में सिद्धिलाभ करने से ज्ञान का उदय होता है।

---

* निष्काम कर्मसाधना के प्रायः उपदेश मेरे प्रणीत "योगीगुरु" ग्रन्थ के "साधनाकल्प" में "साधकगणों के प्रति उपदेश" शीर्षक प्रबन्ध में देखें।

ज्ञानयोग

ज्ञानयोग का सबसे पहला सोपान है आत्मज्ञान। जो लोग कर्मयोगानुष्ठान से चित्तशुद्धि लाभ कर निर्मलचित्त हुए हैं, शम-दमादि चतुर्विध साधनशक्तिसम्पन्न हैं, इस प्रकार के सर्वसद्गुणशाली व्यक्ति ज्ञानयोग के अधिकारी होते हैं।

एकत्वं बुद्धिमनसोरिन्द्रियाणाञ्च सर्वशः।
आत्मनो व्यापिनस्तात ज्ञानमेतदनुत्तमम्॥

—महाभारत, शान्तिपर्व, २४०।२

—बहिर्मुखी मन, बुद्धि और इन्द्रियगणों को समस्त बाह्य विषयों से निवृत्त कर अन्तर्मुखी करते हुए सर्वव्यापी परमात्मा में संयोजना करने का नाम ज्ञान है।

यह जीवजगत् केवलमात्र एक ब्रह्म है—और कुछ नहीं। समस्त ही ब्रह्ममय है—तुम-मैं, चन्दन-विष्ठा, शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, भेदाभेद, धर्माधर्म, कुछ भी नहीं है—सबकुछ ब्रह्म हैं—इस प्रकार के भाव को ही ज्ञानयोग कहते हैं। इस ग्रन्थ में ज्ञान और उसकी साधना को ही लिखूँगा, अतः यहाँ अधिक कुछ नहीं कहा।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ४।३७

—जिस प्रकार प्रज्वलित हुताशन समस्त काठ को भस्मसात् कर देता है, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि में सारे कर्म भस्मसात् हो जाते हैं।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ४।३३

—द्रव्यमय यागयज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है; ज्ञान में सभी कर्मों की परिसमाप्ति होती है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

—श्रीमद्भगवद्गीता, ४।३८

—इहलोक में ज्ञान के समान पवित्र वस्तु दूसरी नहीं है।

किन्तु इस ज्ञानयोगसाधना के लिए इन्द्रियसंयम की आवश्यकता है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।

—श्रीमद्भगवद्गीता, ४।३९

—ज्ञानलाभ में तत्पर व्यक्ति संयतेन्द्रिय और श्रद्धावान् होने से ज्ञानलाभ करते हैं।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, २।५८

—कूर्म जिस प्रकार अपने सारे अङ्ग अपने शरीर के अभ्यन्तर में संहरण करता है, उसी प्रकार योगीव्यक्ति जब इन्द्रियों के विषय से इन्द्रियों को अनायास ही निवर्तन करने में सक्षम होते हैं, तब उनकी बुद्धि ईश्वर में प्रतिष्ठालाभ करती है।

यथार्थ ज्ञानयोगी इच्छा करते ही बहिर्विषयों से मन को हटाकर परमात्मा में संयुक्त कर सकते हैं।

तज्जयात्प्रज्ञालोकः।

—पातञ्जलयोगदर्शन, ३।५

—धारणा, ध्यान और समाधि इन त्रिविध मानसव्यापार को एकत्र संयुक्त कर पाने से संयम नामक प्रक्रिया उपस्थित होती है। इस संयम से प्रज्ञा नामक आलोक अर्थात् उत्कृष्ट बुद्धि-ज्योतिः प्रकाशित होती है।

उसी ज्योति को या प्रज्ञा को ज्ञान कहते हैं। प्रज्ञा कहने से जिस ज्ञान का बोध होता है, वह साधारण ज्ञान के समान नहीं है, वह योगयुक्त ज्ञान है। ज्ञानयोगसिद्ध होने पर साधक समझ सकते हैं—मैं हीं जगत् में था, मन या शरीर के साथ मेरा कोई सम्पर्क नहीं था। अज्ञान में पड़कर प्रकृति को साथ में चिपकाकर मोह में आबद्ध हो गया था। मैं तो पूर्ण, पवित्र और चिद्घन हूँ, अपने सुख के लिए प्रकृति की सेवा करता था—वह तो एक महाभूल थी। क्योंकि मैं ही तो सुखस्वरूप हूँ, मैं ही सर्वव्यापी हूँ, सर्वशक्तिमान् और सदानन्दस्वरूप हूँ। यह अवस्था उपस्थित होने पर साधक शान्त, सदानन्द और जीवन्मुक्त हो जाते हैं।

भक्तियोग

जब कर्मयोग के द्वारा चित्त शुद्ध हुआ, ज्ञानयोग के द्वारा आत्मज्ञान और परमात्मज्ञान हुआ, तब फिर भक्ति हृदय पर अधिकार किये बिना रहेगी किस प्रकार ? किन्तु नीरस ज्ञान अथवा नीरस कर्म कर किसी-किसी का हृदय इतना कठोर हो उठता है कि भक्ति की कोमलता उनके हृदय में स्थान नहीं पाती है। जो लोग कर्म द्वारा चित्तशुद्धि का उपाय कर ज्ञानयोग में आरोहण करते हैं एवं और एक पग अग्रसर होकर भक्तियोग पर आरूढ़ हो सकते हैं, वे ही श्रेष्ठ योगी हैं। यथा—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, १२।२

—जो लोग मुझ में निष्ठा रख कर अत्यन्त श्रद्धा के साथ मेरी उपासना करते हैं, वे ही श्रेष्ठतम योगी हैं।

ईश्वर उन्हें शीघ्र ही संसारसागर के पार ले जाते हैं। यथा—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, १२।६-७

—जो लोग मुझे समस्त कर्म समर्पणपूर्वक मत्परायण होकर अनन्य पराभक्ति द्वारा मेरा ही ध्यान और उपासना करते हैं, मैं उन्हीं सारे व्यक्तियों को अचिरकाल में ही मरणशील संसार-सागर से उद्धार कर देता हूँ।

जिसके द्वारा परमपुरुष भगवान् की कृपा आकृष्ट होती है और सारी वासनाएँ पूर्ण होती है, वही भक्ति है।

सा परानुरक्तिरीश्वरे।

—शाण्डिल्यसूत्र, २

परमेश्वर में परम अनुरक्ति को ही भक्ति कहते हैं। ज्ञान-कर्म भूलकर, वासना-कामना भूलकर, सुख-दुःख भूलकर, धर्माधर्म भूलकर, धनैश्वर्य भूलकर, स्त्री-पुत्र यहाँ तक कि अपने को भी भूलकर ईश्वर में जो ऐकान्तिक अनुरक्ति है, उसी का नाम भक्ति है। केवल आँखें मूँदकर "तुम करुणामय दया के सागर हो" कहने से ही भक्ति नहीं होती।

लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते॥

—श्रीमद्भागवत, ३।२९।१२-१४

—माँ ! निर्गुण भक्तियोग कैसा होता है श्रवण कीजिए। मेरे गुणश्रवण मात्र से सर्वान्तर्यामी जो मैं हूँ, मुझमें समुद्रगामी गङ्गासलिल के समान अविच्छिन्ना और फलानुसन्धानरहिता एवं भेददर्शनवर्जिता मन की गतिरूप जो भक्ति है, वही निर्गुण भक्तियोग का लक्षण है। इस प्रकार के भक्तियोगी की कोई भी कामना नहीं रहती। अधिक क्या, उन्हें सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य एवं एकत्व (सायुज्य)—ये समस्त प्रकार की मुक्ति अगर देना चाहूँ भी, तो वे मेरी सेवा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहते। इस प्रकार के भक्तियोग को आत्यन्तिक कहा जाता है, इससे परमपुरुषार्थ और नहीं है। मानव त्रैगुण्य का त्याग कर ब्रह्मप्राप्तिरूप परमधन लाभ करता है, यह प्रसिद्धि तो है अवश्य, किन्तु वह मेरी उस भक्ति का आनुषङ्गिक धन है, भक्तियोग से ही त्रिगुण का अतिक्रमण कर ब्रह्मत्व प्राप्ति हुआ करती है।

भक्ति की साधना रागमार्ग है ; अतः जिसका जैसा अनुराग है, वे भगवान् को वैसे ही हृदय में धारण कर मनोनुकूल सजाकर भगवान् में तन्मयता प्राप्त किया करते हैं। उस अवस्था में विधि-निषेध, शास्त्र-उपदेश समस्त ही बह जाते हैं। रागमार्ग की साधना और साधकों की अवस्था को भाषा में व्यक्त करने की कोशिश विडम्बना मात्र है।*

भक्ति की साधना से क्रमशः प्रेमभक्ति का उदय होता है। तब साधक शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, कान्ता या मधुर प्रभृति प्रेम के उच्चस्तर की माधुरी-लीलाओं में विभोर हो जाते हैं। साधक सर्वत्र भगवान् के ही अस्तित्व दर्शन किया करते हैं। वे जानते हैं—

---

* मेरे रचित "प्रेमिकगुरु" ग्रन्थ में प्रेमभक्ति प्रभृति का स्वरूप और साधनाप्रणाली अतिविस्तृतरूप में वर्णित हैं।

विस्तारः सर्वभूतस्य विष्णोर्विश्वमिदं जगत्।†
द्रष्टव्यमात्मवत्तस्मादभेदेन विचक्षणैः॥

—विष्णुपुराण, १।१७।८४

विश्वजगत् सर्वभूत विष्णु का विस्तार मात्र है। विचक्षण व्यक्ति इसीलिए सबको अपने से अभेद देखें।

किन्तु स्त्री-पुरुष का भेदज्ञान रहने से साधक प्रेम का अधिकारी नहीं हो सकता। पुराण में हरगौरीमूर्ति इस ज्ञान और प्रेम की जाज्वल्यमान दृष्टान्त हैं। आलोक यदि फानुस (चिम्नी) द्वारा आच्छादित न हो, तो किञ्चित् कर्कश और अनुज्ज्वल बोध होता है, किन्तु फानुस से आच्छादित होने पर कितना स्निग्ध और उज्ज्वल आलोक बाहर निकलता है। ज्ञान भी उसी प्रकार किञ्चित् कर्कश होता है, किन्तु प्रेम के फानुस से आच्छादित होने से वह ज्ञानालोक स्निग्ध मधुरोज्ज्वल ज्योतिः विकीर्ण कर तृप्त करता है।

भक्तियोग के सिद्ध हो जाने पर उस समय साधक भक्ति के बल से, प्रेम के बल से, जगद्रूपी जगन्नाथ को अपने में लय कर लिया करते हैं।

धर्म के सम्बन्ध में शिक्षितों का अभिमत*

हिन्दुधर्म जाग्रत हो रहा है। अब हिन्दुसन्तानें हिन्दुशास्त्रों में विश्वास करती हैं, हिन्दुधर्म को मानती हैं, हिन्दुमत से उपासना करती हैं। सभी श्रेणियों—विशेषतः शिक्षित सम्प्रदायों की धर्मपथ में मति और साधनकार्यों में प्रवृत्ति हुई है। सुदूर यूरोप-अमेरिकावासियों में भी अनेक लोग ही कितना कुछ हिन्दुधर्म के महत्त्व को समझ पा रहे हैं। किन्तु हमारे देश के शिक्षित-

† 'विष्णोः सर्वमिदं जगत्' इति पाठान्तरम्। —अनुवादक

* "शिक्षित" शब्द मैं अंग्रेजी विद्यालयों में शिक्षाप्राप्त व्यक्तियों को लक्ष्य कर व्यवहार कर रहा हूँ।

सम्प्रदायों में एक श्रेणी के लोग और एक भ्रम में पतित हुए हैं। दुःख का विषय यह है कि वे वास्तविक पथपर नहीं चलते। वे अपनी-अपनी विवेक-बुद्धि के मुंसियाना चाल से हिन्दुशास्त्रों की कुछ बातों को प्रक्षिप्त, कुछ को अतिरञ्जित कहकर छाँट देते हैं और चुन-चुनकर मनोनुकूल बातों को मिलाकर एक धर्म खड़ा कर रहे हैं। उससे अपने तो प्रवञ्चित होते ही हैं, फिर दूसरों को भी प्रतारित कर रहे हैं। स्वर्गीय बङ्किमबाबू के धर्ममत से इस सम्बन्ध में आलोचना की जाय।

बङ्किमबाबू ने अपनी 'कृष्णचरित' और 'धर्मतत्त्व' नामधेय दो पुस्तकों में हिन्दुधर्म के सम्बन्ध में गहन गवेषणापूर्ण आलोचना की है। हमारे इन दुर्दिनों में इस प्रकार के ग्रन्थ और ग्रन्थकार का आविर्भाव निस्सन्देह गौरव का विषय है। विशेषतः शिक्षित समाज में इन दो पुस्तकों का प्रचारित होना विशेष मङ्गल का कारण हुआ है। इसके लिए शिक्षित समाज उनके निकट ऋणी है। किन्तु उनके प्रति उपयुक्त सम्मान प्रदर्शनपूर्वक यह भी कहने को बाध्य हो रहा हूँ, कि उनके समान विद्याबुद्धिसम्पन्न स्वदेशी व्यक्ति भी अपने मत के समर्थन के लिए हिन्दुधर्म के गौरव की रक्षा नहीं कर सके हैं। बङ्किमबाबू ने बहुत दिनों से स्वर्गारोहण किया है। विशेषतः वे इस देश के सर्वसाधारण के श्रद्धाभाजन हैं, अतः इस सम्बन्ध में विस्तृत आलोचना करने की इच्छा नहीं करता हूँ। जानता हूँ, उनकी धर्ममत की आलोचना में अनेक शिक्षित व्यक्तियों की सहानुभूति लाभ से वञ्चित होऊँगा ; तथापि न्याय की मर्यादा के लिए, सत्य के अनुरोध से दो-चार बातें लिखने को बाध्य हुआ।*

---

* लेखक वर्तमान (इसी) प्रबन्ध को लिखकर अन्तर में कुछ अशान्ति अनुभव कर रहे थे, इसीलिए जिस दिन प्रबन्ध का छपना शुरू हुआ, उसी दिन (१३१४ बङ्गाब्द [१९०८ ई०] के १९ वें चैत्र, बुधवार रात्रि डेढ़ बजे) योगनिद्रा (Hypnosis) की सहायता से स्वर्गीय वङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय महाशय की "आत्मा" को बुलाये थे। इस

बङ्किमबाबू ने कृष्णचरित्र में जो भूल की है, सो अब अनेक लोग ही समझ सके हैं। प्रक्षिप्त विचारों के विषय में भी वे स्वाधीनता की रक्षा नहीं कर सके हैं। इस सम्बन्ध में दो-एक व्यक्तियों ने प्रतिवाद भी किया है, परन्तु मैं सभी बातों की आलोचना करनी नहीं चाहता। विशेषतः इस ग्रन्थ में ऐसा स्थान नहीं है। बङ्किमबाबू बङ्गला के साहित्यगुरु और प्रतिभापरायण व्यक्ति थे। उनकी प्रतिभामयी बुद्धि से कृष्ण-अनुराग में ऐश्वर्यत्व की अनुभूति हुई थी। मानवीय बुद्धिबल से श्रीकृष्ण को समझने की उन्होंने चेष्टा की थी,—तभी श्रीकृष्ण को मनुष्य में गढ़ा है। वे मानवचरित्र विश्लेषण और

प्रबन्ध के सम्बन्ध में उनके साथ जो बातचीत हुई, सर्वसाधारण की जानकारी के लिए नीचे उसे उद्धृत कर दिया जाता है।

प्रः। आप कैसे हैं ?

उः। सुख से हूँ। पौराणिक भाषा में स्वर्गभोग कर रहा हूँ।

प्रः। आपका फिर जन्म होगा क्या ?

उः। भोग के अन्त में जन्म अवश्यम्भावी है।

प्रः। आपकी लिखित "धर्मतत्त्व" पुस्तक पढ़कर आपके स्वयं का धर्मज्ञान ठीक कर सकता हूँ क्या ?

उः। नहीं-नहीं, मैं धर्मोपदेष्टा गुरु या धर्मप्रचारक नहीं हूँ। अतः किसी प्रकार के धर्ममत का प्रचार भी मेरा उद्देश्य नहीं था। केवल एक श्रेणी के लोगों की हिन्दुधर्म के प्रति दृष्टि आकर्षण करना ही मेरा उद्देश्य था। मैंने अंग्रेजीभाव से मुग्ध, अंग्रेजी अनुकरण-लुब्ध, अप्रबुद्ध एवं परप्रबोधन-प्रयोजन से स्वयं-सिद्ध जयढक्कावाहक के समान अंग्रेजी-शिक्षाक्षिप्त और पाश्चात्यसभ्यतादृप्त हिन्दुओं को जातीय धर्म में तृप्त रहने को उपदेश दिया है, शिक्षित गर्दभों के अभिमान का बोझ उतारने की चेष्टा मात्र की है।

प्रः। वे लोग तो फिर नये भ्रम में पतित हो रहे हैं।

उः। हाँ। जातीय धर्म में अवस्थित हैं, जातीय आचारनिष्ठ हिन्दू यदि गलत भी समझें, तो भी नास्तिक, पाषण्डी या असम्पूर्ण परधर्मलोलुप हिन्दुओं की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। मैं भी जानता था तत्त्वज्ञ हिन्दू मेरे रचित "धर्मतत्त्व" को तृण के समान परित्याग करेगा। केवल उच्छृङ्खल म्लेच्छपदानुसरणकारी शिक्षित-आख्याधारी हिन्दुगण ही मेरी बातों का

अङ्कन में भी सिद्धहस्त थे। इसीलिए भगवान् को आदर्श मानवरूप में चित्रित करने में उन्होंने असीम कृतित्व दिखाया है। असल बात तो यह है कि वे अवतार के सम्यक् तत्त्व को समझ नहीं सके थे। किस देश के किस अवतार के अलौकिक कार्यों का उल्लेख नहीं है ? साधना-ज्ञानहीन स्थूल मानवी बुद्धि से उनका चरित्र समझने चलें तो मानवचरित्र के अतिरिक्त अन्य अवस्था कैसे समझ सकते ? भगवान् का भाव साधना-ज्ञान-ज्ञेय है ; ऋषियों ने साधनाबल से वह अवगत होकर शास्त्र में वर्णन किया है। हम वह नहीं समझ सकते हैं, धारणा नहीं कर पाते हैं, जो मानवीय क्षुद्र धारणाओं के अतीत है, जो योगियों के योगलब्ध ज्ञान के गोचरीभूत है, उसी को आषाढ़ का गल्प

विश्वास कर सकते हैं। मुझे विश्वास है, जो कोई हिन्दू एक बार जातीय धर्म में प्रतिष्ठित हो जाये, तो एक दिन ऐसा समय आयेगा, कि अपनी-आप ही उसकी भ्रान्त धारणा तिरोहित हो जायेगी। क्योंकि विश्वास रहने पर सत्य स्वयं ही आलोक के समान प्रकाशित होता है।

प्रः। यद्यपि समयसापेक्ष है, तथापि अनुशीलनधर्म शास्त्रसम्मत है। किन्तु शारीरिकी वृत्ति, ज्ञानार्जनी वृत्ति, कार्यकारिणी वृत्ति, चित्तरञ्जिनी वृत्ति प्रभृतियाँ इन सबका अनुशीलन करने हम क्यों जायें ? जो सारी वृत्तियाँ नित्य हैं, उनका अनुशीलन आवश्यक तो है, किन्तु जो अनित्य है, उसके अनुशीलन में जीवनयापन कर वास्तविक पथ की दूरता की वृद्धि हम क्यों करने जायें ?

उः। धर्मतत्त्व के शिष्यरत्न का स्मरण करते ही उत्तर सहज हो जायेगा। जो परकाल नहीं मानता, जन्मान्तर को स्वीकार नहीं करता, उसे नित्यता समझाने जाना बिडम्बना मात्र है। इसीलिए मैंने परकाल को छोड़कर इहकाल के सुख का उपाय जो धर्म है, वही समझाने की चेष्टा की थी, मनुष्य जिससे पाशव प्रकृति परित्याग कर वास्तविक मनुष्य हो सके, मैंने उसी के लिए प्रयत्न किया था। शिक्षित व्यक्ति की प्रकृति पर्यालोचना में मुझे प्रतीत होता है, कि इनके मनोनुकूल धर्म की व्याख्या नहीं की गई तो कोई भी हिन्दुधर्म के प्रति आकृष्ट नहीं होगा। धर्म को उनके लिए मुखरोचक करते जाकर ही मुझे श्लोकों का अङ्ग कर्तन, कुसंस्कार खण्डन या स्थलविशेष पर शास्त्रभाग को अग्राह्य करना पड़ा है।

(फुरसत की गप) समझकर हम सिद्धान्त पर पहुँचना चाहते हैं। इसी से बङ्किमबाबू ने जो अलौकिक है, जो ऐश्वरिक है, जो नूतन है, जो ज्ञानातीत है, वही या तो प्रक्षिप्त है, नहीं तो अतिरञ्जित ऐसा समझकर उसे उड़ा दिया है ; श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व को विदूरित कर उनकी मानवी मूर्ति की मानवसमाज में प्रतिष्ठा की है—परिणामतः शिव गढ़ते जाकर बंदर गढ़ दिया है। पाश्चात्य शिक्षादृप्त साधनाज्ञानहीन व्यक्तियों के निकट ही कृष्णचरित्र आदर्श ईश्वर-चरित्र हो सकता है, किन्तु विषयवितृष्ण योगज्ञानशाली भक्तों के निकट वह मानवचरित्र मात्र है।

प्रः। आपने चैतन्य, बुद्ध, ईसा प्रभृति अवतारों के प्रचारित धर्मों को भी असम्पूर्ण कहा है।

उः। देश काल पात्र विचार कर मुझे धर्म की व्याख्या करनी पड़ी थी। तमःप्रधान जड़वादी हिन्दुओं के हृदय में रजोगुण का उद्रेक करना ही मेरा उद्देश्य था ; तभी बुद्ध, चैतन्य के सात्त्विक धर्म को दूर रख राजसिक धर्म की व्याख्या की है। जिस बालक ने चलना नहीं सीखा हो, उसे दौड़ने का उपदेश देना समीचीन नहीं है। यद्यपि मैं प्रत्यक्ष ज्ञानलाभ नहीं कर सका हूँ, तथापि व्यावहारिक ज्ञान से धर्म का स्थूलभाव जहाँ तक समझ सका था, उसे भी "धर्मतत्त्व" में ठीक से व्यक्त नहीं किया है। मैं ऋषि-मुनियों के प्रचारित शास्त्रों को भगवद्वाक्य के रूप में विश्वास करता हूँ। साधारण शिक्षित व्यक्तियों के समान मेरा धर्मबल अगर हीन होता, तो मैं कभी भी विधवाविवाह का तीव्र प्रतिवाद नहीं करता। मेरा उद्देश्य "येन तेन प्रकारेण" अनुकरणप्रिय शिक्षित व्यक्तियों को हिन्दुधर्म में आकृष्ट करना था। इसीलिए मुझे उनका मन समझकर, कार्य देखकर, उनके मनोनुकूल काट-छाँटकर धर्म को बाहर करना पड़ा है। जो अध्यात्मजगत् को स्वीकार नहीं करता है, उसे आध्यात्मिक उपदेश क्या दूँगा ? इसी कारण शारीरिक और मानसिक धर्म का चित्र दिखलाया था।

प्रः। मैंने आपका उद्देश्य नहीं समझकर तीव्र प्रतिवाद किया है, अब प्रतिवाद-प्रबन्ध को छापना बन्द कर देना चाहता हूँ।

उः। प्रतिवाद-प्रबन्ध का प्रचार होने से समाज का उपकार होगा, जो लोग हिन्दुधर्म में विश्वास करके भी भ्रान्त धारणा से यथार्थ पथ नहीं देख पा रहे हैं, उनका सविशेष

बङ्किमबाबू ने कृष्णचरित्र के आरम्भ करने के पूर्व लिखा है, जो प्रक्षिप्त है, जो अतिप्राकृत और जो मिथ्यालक्षणाक्रान्त है, उसे परित्याग करूँगा। इसका नाम क्या न्याय है ? इतना कुछ नहीं कहकर साफ-साफ कह देना ही ठीक होता, मैं शास्त्र नहीं मानूँगा, ऋषि-मुनियों को नहीं मानूँगा, साधक-सिद्धों को नहीं मानूँगा, मैं अपने मनोनुकूल धर्म का पालन करूँगा। एक शास्त्र का कुछ अंश असल है, बाकी अन्य उपन्यास है, उनके मत-समर्थन का उपयोगी अंश असल है और समस्त ही प्रक्षिप्त—अतः उसे छोड़ दो। इस प्रकार शरीर के जोर पर बात करना नितान्त अश्रद्धेय है। और भी गहरे परिताप के साथ कहना पड़ता है कि, उन्होंने अपना मत प्रचारार्थ अनेक स्थलों पर श्लोकों का पाठान्तर संयोजन कर शास्त्र की मर्यादा लङ्घन किया है ; फिर अनेक स्थलों पर शास्त्रभाग को अग्राह्य किया है। यथा—

उपकार होगा। जो लोग संशयी, अविश्वासी हैं, वे कृष्णचरित्र और धर्मतत्त्व के पाठ से हिन्दुधर्म में विश्वास करेंगे। बाद में धर्मतत्त्व और कृष्णचरित्र की भूलें जान पाकर यथार्थ पथ पर चलने को प्रवृत्त होंगे। हिन्दू अभी बाह्यसम्पद में मुग्ध हैं, तभी मैंने षडैश्वर्यशाली विष्णु को सामने कर जयदेव के प्रेममय कृष्ण को दूर रखा है ; निवृत्तिमार्ग को तृणाच्छादित कर प्रवृत्तिमार्ग प्रशस्त कर दिया है। इस प्रतिवाद से वह जीर्ण तृण उड़ जायेगा। हिन्दू तब तृप्ति के अमल-धवल-कौमुदी-विभूषित कुसुमास्तृत निवृत्रिमार्ग से परिचालित होकर मेरे उद्देश्य को सम्पूर्ण उज्जीवित और आलोकित करेगा। मेरा भ्रम को समाज में कोई प्रकट नहीं करता था, जिससे मैं अशान्ति भोग रहा था। आज तुम्हारे द्वारा वह अशान्ति दूर हुई। और भी जाना कि जीव के लिए उसकी विद्याबुद्धि प्रतिभा का अहङ्कार वृथा है। क्योंकि वे जिसके द्वारा जो कार्य करायेंगे, उसे वह शक्ति दान करके ही इस प्रकार तुम्हारे-मेरे द्वारा जगत् में कार्य करा रहे हैं। मैंने ही प्रथम तुम्हारे हृदय में धर्मबीज रोपण किया था, वही बीज से प्रकाण्ड काण्डविशिष्ट वृक्षोत्पत्ति देखकर और उसका सुस्वादु फल भक्षण कर निश्चिन्तचित्त से अब यथास्थान गमन कर रहा हूँ।

अन्यान्य बातें सर्वसाधारणों के लिए व्यक्त नहीं कर सकीं। पाठक ! इसके लिए दुःखित न हों।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ४।८

—श्लोकवाक्य का अङ्ग कर्तन कर "धर्म-संस्थापनार्थाय" इस स्थल पर "धर्म-संरक्षणार्थाय" बैठा दिया है। फिर "प्रचार" में लिखा है, "संस्कृतानभिज्ञ व्यक्ति ही—'धर्मसंस्थापनार्थाय' इस पाठ का व्यवहार करते हैं।" बड़ी ही हास्यजनक बात है! शङ्कराचार्य, श्रीधरस्वामी और मधुसूदन सरस्वती प्रभृति भारतमाता के सुपुत्रों ने एक भी बात सोचे बिना अपने कृत भाष्य और टीका में "धर्मसंस्थापनार्थाय" पाठ की व्याख्या की क्यों?* बङ्किमबाबू ने अपनी अनुवादित गीता में विलसन साहब का मजाक उड़ाते हुए लिखा है, "विलसन साहब सोचते हैं, वे शङ्कराचार्य (जिन्हें चारों वेद और समस्त शास्त्र कण्ठस्थ थे) की अपेक्षा भी संस्कृत अधिक अच्छी तरह समझते हैं।" किन्तु यहाँ इतनी दूरदृष्टि नहीं हुई है। हम दूसरों के दोष ही देख पाते हैं, और अपने बारे में अन्धे हो जाते हैं। माया की क्या ही विचित्र लीला है! —जिसे जितना समझने दिया है, उसी को चरम ज्ञान समझकर वह दूसरों के दोषों का अनुसन्धान करने में व्यस्त है। और यह बात जो समझ सकते हैं, वे प्रचुर आनन्द प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त बङ्किमबाबू ने अनेक स्थलों पर शास्त्रकारों के महान् उद्देश्य नहीं समझ पाकर उनके प्रति अनेक कटुवाक्यों का प्रयोग किया है। उसे पढ़कर भक्तों के प्राणों को बड़ी व्यथा पहुँचती है।

---

* शाङ्करभाष्यम्। धर्मसंस्थापनार्थाय धर्मस्य सम्यक् स्थापनं तदर्थं सम्भवामि युगे युगे प्रतियुगम्।

श्रीधरस्वामिकृतटीका। एवं धर्मसंस्थापनार्थाय साधुरक्षणेन दुष्टवधेन च धर्मं स्थिरीकर्तुम्। युगे युगे तत्तदवसरे सम्भवामीत्यर्थः।

धर्मतत्त्व में वर्णित अनुशीलनधर्म चरम धर्म नहीं है। वह हिन्दुधर्म का एक खण्डदेश मात्र है। उनका व्याख्यात अनुशीलनधर्म गीतोक्त कर्मयोग मात्र है। "धर्मसंस्थापनार्थाय" ठीक रखने से वे अपने मनोनुकूल अनुशीलनधर्म और श्रीकृष्ण का मानवचरित्र गठन नहीं कर पाते। उन्होंने लिखा है, "धर्म नया और क्या होगा ? धर्म अनादि और चिरकाल ही है। अतएव धर्म-संरक्षण यही बात ठीक है।" यहीं पर उन्होंने कृष्ण-अवतार के उद्देश्य-पथ का परित्याग कर मनगढ़ंत बात का प्रचार किया है। उन्होंने यह भी कहा है "कृष्ण-अवतार के पूर्व ही कर्मयोग प्रचारित हुआ था। जनक, अम्बरीष प्रभृति कर्मयोगियों ने निष्काम कर्म की साधना की थी। श्रीकृष्ण को उसका संस्थापन करने का प्रयोजन नहीं, इसीलिए मुझे संरक्षण पाठ संयोजित करना पड़ा है।" श्रीकृष्ण प्रेमभक्ति की माधुर्यलीला का संस्थापन करते हैं, बङ्किमबाबू ने उस अंश को उपन्यास समझकर उड़ा दिया है।

और कर्मयोग ही क्या चरम धर्म है ? कर्म के बाद ज्ञानयोग और भक्तियोग की साधना नहीं करने से ब्रह्म-निर्वाण लाभ नहीं हो सकता। गीता में ज्ञानयोग की भूरि-भूरि प्रशंसा है। यथा—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

—श्रीमद्भगवद्गीता, ४।३८

—ज्ञान के सदृश पवित्र वस्तु और नहीं है। तभी अर्जुन ने जिज्ञासा की—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।

—श्रीमद्भगवद्गीता, ३।१

—हे जनार्दन ! यदि तुम्हारे मतानुसार कर्म की अपेक्षा बुद्धि (ज्ञान) ही श्रेष्ठ है, तो हे केशव ! मुझे इस मायात्मक कर्म में किस निमित्त से नियोजित कर रहे हो ?

तब भगवान् ने कहा—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ३।३

—हे पार्थ ! मैंने पहले ही कहा है, कि इस लोक में निष्ठा दो प्रकार की है। शुद्धचेताओं के लिए ज्ञानयोग, कर्मयोगियों के लिए कर्मयोग। बाद में कहा—

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ३।५

लोग इच्छा नहीं करने पर भी प्राकृतिक गुणसमूह उन्हें कर्म में नियुक्त करता है। अतएव इस गुणक्षय के लिए कर्मयोग की आवश्यकता है। किन्तु जिसका गुणक्षय हुआ है, वह कर्म करेगा क्यों ? नाटोर* के महाराजा रामकृष्ण एक विख्यात साधक थे। वे विषयकार्यों में थोड़ा भी मन नहीं लगा पाते थे। वैद्यकुलतिलक रामप्रसाद भू-कैलास के जमींदार-सरकार की नौकरी करने के समय दफ्तर के खातापत्रों में स्वरचित गीत लिखते थे। एवंविध उच्च अधिकारी के निकट धर्मतत्त्व का अनुशीलनधर्म बालकों का उपदेश मात्र है। काम-कामना-विजड़ित मनुष्यों के लिए ही कर्मयोग है। यथा—

यस्मै न रोचते ज्ञानमध्यात्मं मोक्षसाधनम्।
ईशार्पितेन मनसा भजेन्निष्कामकर्मणा॥

—योगवाशिष्ठ

—मोक्ष का साधन जो निरञ्जन ज्ञान है, उसमें जिनकी रुचि न हो, वे ईश्वर में चित्त निवेश कर निष्काम कर्म का अनुष्ठान करें।

---

* वर्तमान यह बांग्लादेश के अन्तर्गत है। —प्रकाशक

श्रीकृष्ण ने उद्धव को कहा है—

यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम्।
मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्षः समाचर॥

—श्रीमद्भागवत, ११।११।२२

—यदि ब्रह्म में निश्चल मन धारण करने में असमर्थ हो, तो निरपेक्ष होकर (फलादि की कामना न कर) मुझमें समुदाय कर्मों को समर्पित करो।

पाठक! आपने देखा, किनके लिए कर्मयोग की व्यवस्था है? शिक्षित सम्प्रदाय यह न समझ पाकर उच्चश्रेणी के साधकों को समाज का "गलग्रह" और "स्वार्थी" कहकर विपरीत अभिप्राय प्रकट किया करते हैं। कर्मसाधना परित्याग कर जो लोग अविच्छिन्नरूप से ब्रह्मरसपान में नियुक्त रहते हैं, उन्हें जो लोग अस्वाभाविक दोषी समझते हैं, वे लोग नितान्त भ्रान्त हैं। क्योंकि हमारी आत्माओं का अन्तिम पुरस्कार क्या है? आत्मा की अनन्तकाल तक जो उन्नति होगी, वह उन्नति कैसी होगी? अनन्त उन्नति के पथपर अनन्त देव का चिरसहवास लाभ करना, अनन्तकाल तक अविच्छिन्नरूप से उनकी प्रेमसुधा पान करना, अनिमेष से अनन्तकाल तक उनकी गम्भीर पवित्रमूर्ति के दर्शन करना, निश्चिन्त निर्भय हृदय से उनकी जय उच्चारण करना ही क्या हमारी आत्मा का अन्तिम पुरस्कार नहीं है? इस जगत् में रहकर ही आत्मा यदि अपनी स्वाभाविक अवस्था लाभ करती है, तो तुम वह नहीं समझ अस्वाभाविक बात का प्रयोग क्यों करते हो? बङ्किमबाबू को यीशु, शाक्यसिंह और चैतन्यदेव के उदासीन गीत अच्छे नहीं लगे। किसको ही भला अच्छे लगते हैं? मद्यपायी को मद का प्याला छोड़ देने के लिए कहने पर कौन उसका प्रिय हो सकता है? संन्यासी की निन्दा गृही का नित्यकार्य है। जनकराजा की सभा में शुकदेव के कौपीन का मजाक अनेक गृहियों ने ही अपने ग्रन्थों में प्रकाशित किया है; और इक्कीस दिन जनक ने शुकदेव को

नहीं दिखाई देकर नानाविध परीक्षा ली, किन्तु उन्हें डिगा न पाकर बाद में क्षमा प्रार्थना की, ऐसी बात किसी के भी मुख से नहीं सुनी।

फिर निष्काम धर्म याजन करने के लिए भी कठोर साधना का प्रयोजन है। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं भी बदरिकाश्रम में योगाभ्यास कर चुके थे। जनकराजा भी महा हठयोगी थे ; उन्होंने अपने गुरु अष्टावक्र को कहा था—

कायकृत्यासहः पूर्वं ततो वाग्विस्तरासहः।
अथ चिन्तासहस्तस्मादेवमेवाहमास्थितः ॥

—अष्टावक्र गीता, १२।१

—पहले मैं कायिक कार्यों से विरत हुआ, तत्पश्चात् वाक्यविस्तार से विरत हुआ, अब चिन्ता से निरस्त होकर इसरूप में अवस्थान कर रहा हूँ।

पाठक ! देखिए, किस प्रकार कठोर साधना कर जनकराजा कर्मयोगी हुए थे। निष्काम कर्म का महत्त्व हमलोग भी समझते हैं, किन्तु जानते हैं कि बोलना या लिखना जितना सहज है, पालन करना उतना सहज नहीं है। कर्मसंन्यास की अपेक्षा भी कर्मयोग की साधना कठोर है। अंग्रेजीशिक्षाप्राप्त काँटाचम्मचधारी कुक्कुटभोजी एवं तदनुसरणकारी उच्छृङ्खल म्लेच्छ-दासत्व-उपजीवीगणों के मुख से निष्काम कर्मों का उपदेश श्रवण करने में किसे हँसी नहीं आयेगी ? जो लोग नियम-संयम को "आत्मपीड़न" और योगसाधना को "वेदों का जादू" कहा करते हैं, उनके द्वारा किस प्रकार निष्काम कर्म अनुष्ठित होता है—सहज ही अनुमेय है। इस श्रेणी के एक प्रसिद्ध कवि और शास्त्रप्रचारक ने सामान्य नौकरी के लोभ में किस प्रकार विश्वासघातकता से किसी राजा को राजा के हाथ में अर्पित कर निष्काम कर्म की ध्वजा उड़ायी है, वह किसी को भी अविदित नहीं है। इस प्रकार के कर्मयोगियों का चरित्र अनुसन्धान करने पर कितने से गूढ़ रहस्य प्रकाशित होंगे। पहले कोई नया

मत स्थापन होनेपर कितना हंगामा होता था। मुहम्मद, यीशु, बुद्ध, शङ्कर और चैतन्यदेव को पहले-पहले कितनी ही विपत्तियों का सामना करना पड़ा था। किन्तु वर्तमान समय में हमारा समाज मृत है; धन-जन से वर्धिष्णु व्यक्ति ही बड़े हैं, विशेषतः मुद्रायन्त्र और मुद्रा के कल्याण से अपने मत के प्रचार में कोई विघ्न नहीं होता है। केवल यथार्थ ज्ञानी हँस मरते हैं।

एक सामान्य बात का भी बङ्किमबाबू को विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने गीता के "विश्वरूपदर्शन" अध्याय को अलौकिक घटनापूर्ण कहकर प्रक्षिप्त स्थिर किया है। हम जानते हैं, आधुनिक कोई योगी महिमासिद्धि कर अपने अङ्गो को यदृच्छाक्रम से वर्धित कर सकते हैं। और जो योगेश्वर हैं, उनका विराट्मूर्ति धारण करना इतना असम्भव कैसा? एक कहानी याद आई—

एक समय नारद वैकुण्ठ जा रहे थे; रास्ते में देखा कि एक पागल भगवान् को नानाविध अपशब्दों में गाली दे रहा है। नारद को देखकर बोला, "ठाकुर! काले छोकड़े से पूछोगे, कि मैं कबतक मुक्ति पाऊँगा?"

नारद ने स्वीकार किया। किन्तु दूर में देखा कि और एक भक्त भगवान् की स्तुति कर रहा है। उसने भी कहा, "ठाकुर! प्रभु से पूछिएगा मैं कबतक मुक्ति पाऊँगा?" नारद ने स्वीकार किया।

यथासमय नारद ने वैकुण्ठ में उपनीत होकर भगवान् से दोनों की ही बातें निवेदन कीं। भगवान् ने कहा, "प्रथम व्यक्ति शीघ्र ही मुक्ति पायेगा, द्वितीय व्यक्ति को अभी भी बहुत विलम्ब है।"

नारद ने विस्मय के साथ जिज्ञासा की, "ईश्वरनिन्दक की मुक्ति, और भक्तों के लिए विलम्ब, यह कैसा न्याय है?"

भगवान् ने हँसकर कहा, "तुम सच्ची बात को गुप्त रखकर दोनों को कहोगे, कि भगवान् एक हाथी को सूई के छेद में प्रवेश कराने में व्यस्त हैं, कोई उत्तर नहीं दिया। तब रहस्य जान सकोगे।"

नारद ने विदा होकर भक्त के पास आकर भगवदाज्ञा ज्ञापन की। भक्त ने दुःखी होकर कहा, "प्रभु की कृपा नहीं हुई, तभी असम्भव कार्य में प्रवृत्त होकर मुझे प्रवञ्चित किया है।"

किन्तु पागल नारद की बात सुनकर हँसकर बेचैन हो उठा। "जिनके रोमकूप में सैकड़ों ब्रह्माण्ड विराज रहे हैं, जिनके कटाक्ष से सृष्टि-स्थिति-लय होते हैं, सूई के छेद में हाथी प्रवेश कराना उनके पास बड़ा काम है! फिर इसीलिए मेरी बात का उत्तर देना नहीं हुआ।" यह कहकर पागल और भी अकथ्य भाषा में गाली देने लगा।

नारद अब समझे, पागल यथार्थ ईश्वरतत्त्व को जान चुका है, इसीलिए भगवान् ने उसे शीघ्र ही मुक्ति देना चाही। बङ्किमबाबू ने पुनःपुनः कृष्ण को भगवान् के रूप में विश्वास किया है फिर भी उनके अलौकिक कार्यों को "उपन्यास" स्थिर किया है। इस प्रकार के भगवान् नये हैं अवश्य!

धर्मतत्त्व का अनुशीलनधर्म पालन करने से मनुष्य पशुत्व परिहारपूर्वक मनुष्यत्वलाभ कर सकता है, तभी बङ्किमबाबू ने भगवान् को आदर्श मानवरूप में खड़ा किया है। किन्तु मनुष्यत्व ही क्या हमारा चरम लक्ष्य है? मनुष्यत्व से मुक्त होकर देवत्वलाभ करना होगा। तत्पश्चात् देवत्व से ईश्वरत्व, अन्त में ब्रह्मत्वलाभ करना ही परम मोक्षपद है। परन्तु उसके लिए देवता और ईश्वर का आदर्श चाहिए। क्या उनके स्वकपोलकल्पित अनुशीलनधर्म से समाज का वह अभाव पूर्ण होगा? विशेषतः एक कर्मयोग के अवलम्बन करने से निश्चय ही पथच्युत होना होगा। एक समय निष्काम कर्म प्रबल था, किन्तु क्रमशः वह सकाम में परिणत हुआ, तभी बुद्धदेव ने कर्म का सम्प्रसारण कर ज्ञानयोग का प्रचार किया। किन्तु ईश्वर के सम्बन्ध में नीरवताप्रयुक्त बौद्धधर्म नास्तिकता और जड़त्व में परिणत हो गया। तभी शङ्कराचार्य ने बौद्धधर्म का जड़त्व मिटाकर ज्ञान का सम्प्रसारण कर स्वीय सार्वभौमिक ज्ञानवाद में विलीन कर दिया। किन्तु उसके भी शिक्षा के दोष

से और मायावाद के प्रभाव से कठोरता में परिणत होने से चैतन्यदेव ने आविर्भूत होकर उसके साथ प्रेमभक्ति मिलाकर हिन्दुधर्म को मधुर कर दिया है। अतः कर्मयोग ही एकमात्र साधक की चरम साधना नहीं है। क्रमशः ज्ञान और भक्ति की साधना चाहिए। आशा करता हूँ, धर्मपिपासु साधकगण क्रमशः कर्म, ज्ञान और भक्तियोग के आश्रय में साधना कर मानवजीवन का पूर्णत्व साधन करेंगे।

प्रतिपाद्य विषय

पाठक ! सामान्य जनगण के आचरित धर्म से लेकर निस्त्रैगुण्य साधक के निराकार ब्रह्म की उपासना तक समस्त ही हिन्दुधर्म की देह हैं। इसमें थोड़ा भी कुसंस्कार या मिथ्याचार नहीं है। एकदेशदर्शी विधर्मीगणों की बातें धर्तव्य नहीं होतीं। कारण, वे लोग बाह्य धनसम्पद या बाह्य विज्ञान में जितने भी बड़े क्यों न हो जायँ, धर्म के विषय में हिन्दुओं की अपेक्षा अनेक निम्नस्तर में हैं। अतः वे लोग हिन्दुधर्म के महान् उद्देश्य को न समझ पाकर, हिन्दुओं को कुसंस्काराच्छन्न या अन्धविश्वासी, पौत्तलिक या मूर्तिपूजक, जड़ोपासक प्रभृति जो इच्छा सो कह सकते हैं ; किन्तु आप हिन्दुधर्म को समझने की चेष्टा करें—देखेंगे ऐसा सार्वभौमिक विश्वव्यापक धर्म और नहीं है। जो हिन्दु-सन्तान घर की खबर न रख दूसरों के निकट धर्मशिक्षा लेने जाते हैं, उन्हें हतभाग्य नहीं तो और क्या कहूँ ? उन्हीं के लिए ही यह खण्ड लिखना पड़ा। कारण, हिन्दुधर्म के प्रति निम्नाधिकारी जनगणों की दृढ़ आस्था है। उच्चाधिकारी ज्ञानिगणों के निकट हिन्दुधर्म स्वतःप्रमाण के रूप में स्वीकृत है। केवल मध्यम अधिकारी जनगण—उनमें भी सभी नहीं—केवल संशयी जनगण प्रमाण चाहते हैं। पाश्चात्यविद्या की बहुल आलोचना होने के कारण समाज में इन संशयी जनगणों की संख्या बहुत बढ़ गयी है। इन

संशयी जनगणों को हिन्दुधर्म में प्रतिष्ठित करना ही इस ग्रन्थ का प्रधान उद्देश्य है।

अतएव उनके निकट सनिर्बन्ध अनुरोध है, मैंने जिस प्रकार इस खण्ड में हिन्दुधर्म का आध्यात्मिक भाव समझाने की चेष्टा की है, वे भी अवश्य इसी नियम से हिन्दुधर्म को गुरु के निकट समझने की चेष्टा करें। धर्म में अधिकार नहीं होने से शास्त्रपाठ करने जायँ तो ईशप की कहानी की तरह बोध होगा। कोई विषय समझ न सकने पर मिथ्या या कुसंस्कार कहकर उड़ा न दें। किसी तत्त्वदर्शी हिन्दू से पूछकर मीमांसा कर लें। अधिकारानुसार प्रत्येक हिंन्दू का धर्म भिन्न-भिन्न है। अतः खुद जो करते या जानते हैं, दूसरों के निकट वह न देखकर, उनकी निन्दा न करें। यहाँतक कि दूसरे धर्म की निन्दा नहीं करनी चाहिए। जब जिस देश में धर्म की ग्लानि और अधर्म का अभ्युत्थान होता है, भगवान् तब उस देश में अवतीर्ण होकर धर्म का संस्थापन करते हैं। वे जो केवल हिन्दुओं के देश में ही जन्मेंगे, ऐसा क्या शास्त्र में है ? अतएव अपर धर्मों की निन्दा से अपने धर्म की गौरव-हानि होती है। वही हिन्दुधर्म और वही हिन्दुशास्त्र सभी हैं। केवल उपयुक्त लोगों के द्वारा उपयुक्तरूप में अनुष्ठित नहीं होने से, वर्तमान में यह अवस्था आ खड़ी हुई है। हिन्दुधर्म की आलोचना कर इसके गूढ़ उद्देश्य और महान् भाव को सर्वसाधारण को बता पाने से, अल्पकाल में हिन्दुधर्म का गौरव दिग्दिगन्त में प्रतिध्वनित होने लगेगा।

साधना के तीन उपाय हैं—कर्म, ज्ञान और भक्ति। इस कर्मप्रधान धर्म में कर्मयोग को समझाना नहीं होगा। और पहले ही कह चुका हूँ, भक्ति रागमार्ग की साधना है, जिसे शब्दों में व्यक्त करना बिडम्बना मात्र है। ज्ञानयोग मेरा प्रतिपाद्य विषय है। अतएव ज्ञान और ज्ञान की साधना ही इस ग्रन्थ में प्रकाशित करूँगा। आशा है, मुसलमान, ईसाई प्रभृति सभी इस साधना में साफल्यलाभ कर सकेंगे।

जितने प्रकार की साधनाएँ हैं, उनमें मुक्तिविषयक साधना ही सर्वापेक्षा प्रधान है। यही मानवजीवन का एकमात्र लक्ष्य है। मैं प्रत्येक मनुष्य को मुक्तिलाभ के लिए यत्न करने का अनुरोध करता हूँ। दुर्भाग्यवश जो मुक्ति के पथ से दूर रहते हैं, शास्त्रकारों ने उनका वृद्ध गर्दभरूप में वर्णन किया है।

जातास्त एव जगति जन्तवः साधुजीविताः।
ये पुनर्नेह जायन्ते शेषा जरठगर्दभाः॥

—योगवाशिष्ठ, वैराग्य प्र०, १४।१२

ॐ शान्तिः ओम्
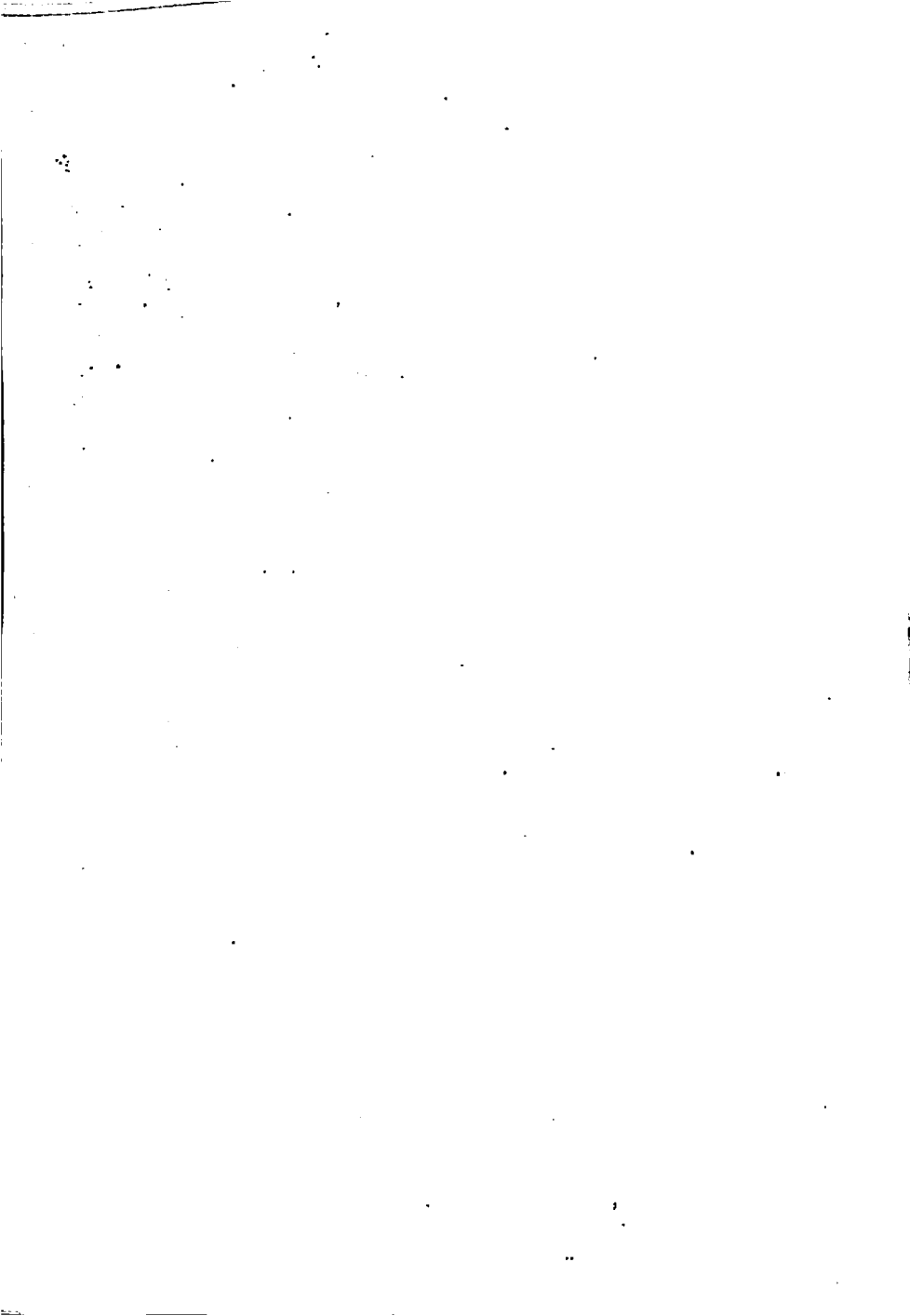
द्वितीय खण्ड

ज्ञानकाण्ड
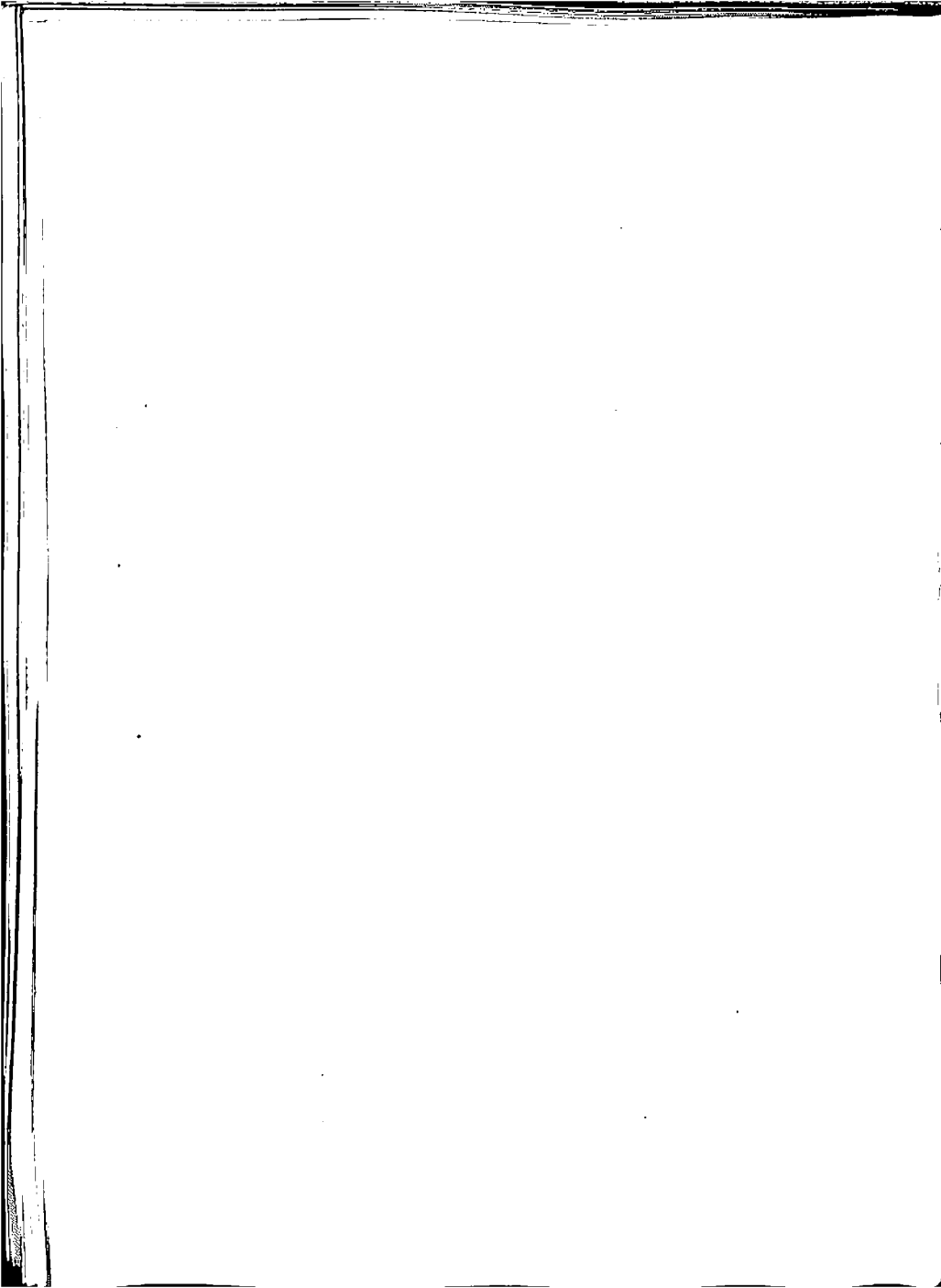
ब्रह्म-विचार

गीत

ललित-झिँझोटी—झाँपताल

कि भावे भाविवो तबे भवे भवाराध्या धने।
हरि-हर-विरिञ्चि आदि जे तत्त्व ना पान ध्याने॥
अजरा अमरा तारा, अन्तहीना निर्विकारा,
प्रणवे प्रकाश त्रयी, त्रिगुणा त्रितापहरा,
नारी कि पुरुष तिनि जानिवो बलो केमने॥

निर्गुणेते निराकारा, सगुणे हन साकारा,
लीलाते जगदाकारा, क्रियाशक्ति सृजने ;—
इच्छाशक्ति हये पालेन ज्ञानेते ज्योतिः केवल,
त्रिगुणेते ब्रह्मा विष्णु शिवादि जाँहारे बलो,
भिन्न भावे भावे केवल तत्त्वज्ञानहीने॥

शुद्ध सत्त्वे महत्तत्त्व, मलिनेते अहंतत्त्व,
क्रमे पञ्च-तन्मात्रतत्त्व, प्रकाश भुवने,
(सेइ) सूक्ष्मभूत पञ्चदेव, प्रपञ्चे जगदुद्भव,
प्रलये विलय सब हबे कारणे ;—

ताँर मायाते जगत् बाँधा, रूप-रसादि लागाय धाँधा,
'सोऽहं' भुले 'अहं' ज्ञाने सुख-दुःखेते हाँसा-काँदा,
मुदले आँखि सकल फाँकि, ठिक रे'ख मने॥

विराजे से सर्वघटे, धार्मिके शठे कपटे,
केह वा चित्रिया पटे रत साधने,
केह देश-देशान्तरे, ताँहारे खुँजिया मरे,
भावे ना आपन अन्तरे, बसि योगासने ;—
स्थूल सूक्ष्म जतो देखो—एक भिन्न दुइ नाइ,
स्वप्नेते जीव जगत् वृथा खेटे मरो भाई,
सर्वं खलु इदं ब्रह्म जेनो नलिने॥

—पुष्कर, ८-५-१३०९ बङ्गाब्द (१९०२ ई०)

अयि संसार वासियों की आराध्या-धने भवे! तो फिर मैं किसरूप से तुम्हारा चिन्तन करूँ, क्योंकि जिस तत्त्व को ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि ध्यान से भी नहीं जान पातें हैं। वे तारा (देवी) अजर हैं, अमर हैं, अन्तहीन अर्थात् अनन्त और निर्विकार स्वरूप हैं। प्रणव में उनका त्रिरूप प्रकाशित होने से वे त्रयी हैं, वे त्रिगुणात्मिका और आध्यात्मिकादि त्रितापों को हरने वाली हैं, वे नारी हैं या पुरुष यह मैं कैसे जानूँ, बोलो तो सही।

वे निर्गुण में निराकार स्वरूप और सगुण में साकाररूप धारण करती हैं, वे लीला के लिए जगदाकार में विवर्तित होती हैं। वे अपनी क्रियाशक्ति से जगत्-सृजन करती हैं, इच्छाशक्ति से सृष्ट-जगत् का पालन करती हैं और ज्ञानशक्ति से केवल ज्योतिःस्वरूप में अवस्थान करती हैं। त्रिगुण के कारण जिन्हें ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि कहते हो, परन्तु यह सब भिन्न भिन्न रूप से भावना केवल तत्त्वज्ञानहीन व्यक्ति ही करता है।

प्रकृति जब शुद्धसत्त्व-प्रधाना होती है, तो महत्तत्त्व कहलाती है, परन्तु जब मलिनसत्त्व-प्रधाना होती है, तो अहंतत्त्व कहलाती है। क्रमशः वह पञ्चतन्मात्रा-तत्त्व रूप में जगत् में प्रकाशित होती है। (वे ही) पञ्च तन्मात्राएँ अर्थात् सूक्ष्मभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी) पञ्चदेव (विष्णु,

सूर्य, दुर्गा, गणेश और शिव) भी कहलाते हैं। और उक्त सूक्ष्मभूतों के पञ्चीकरण से इस स्थूल जगत् प्रपञ्च की सृष्टि होती है। प्रलय काल में ये सबकुछ अपने मूल कारण में लीन हो जायेंगे।

उन जगमोहिनी की माया से यह जीव-जगत् बन्धा (मोहित) हुआ है, इन्होंने ही इस जगत् में रूप-रसादि की चमत्कारी लगा रखी है, इसलिए जीव अपना सोऽहं (वही मैं हूँ) स्वरूप को भूलकर, अहंज्ञान से (शरीरादि में आत्मभाव कर) सुखी-दुःखी होकर कभी हँसता है तो कभी रोता है, परन्तु यह ठीक समझ रखो, कि आँखें मूँद जाने पर अर्थात् इस शरीर से प्राण निकल जाने पर कोई किसीका नहीं है।

वे क्या धार्मिक, क्या प्रवञ्चक और क्या कपटी सबके शरीररूप घट में विराजमान हैं। कोई तो उनका चित्र या मूर्ति बनाकर साधना में रत है, और कोई उन्हें देश-देशान्तर में ढूँढ़-ढूँढ़कर मरता है, परन्तु वे सब योगासन लगाकर अपने अन्दर में कभी खोज नहीं करते ;—स्थूल-सूक्ष्म जो कुछ भी देखते हो—ये सब एक भिन्न दो नहीं हैं। भाई ! यह जीव-जगत् स्वप्न के समान मिथ्या ही है, वृथा खट मरते या लढ़ाई-झगड़े में व्यस्त रहते हो। नलिनि ! तुम यों समझो कि यह सबकुछ ब्रह्म ही है।

—पुष्कर, ८-५-१३०९ बङ्गाब्द (१९०२ ई०)
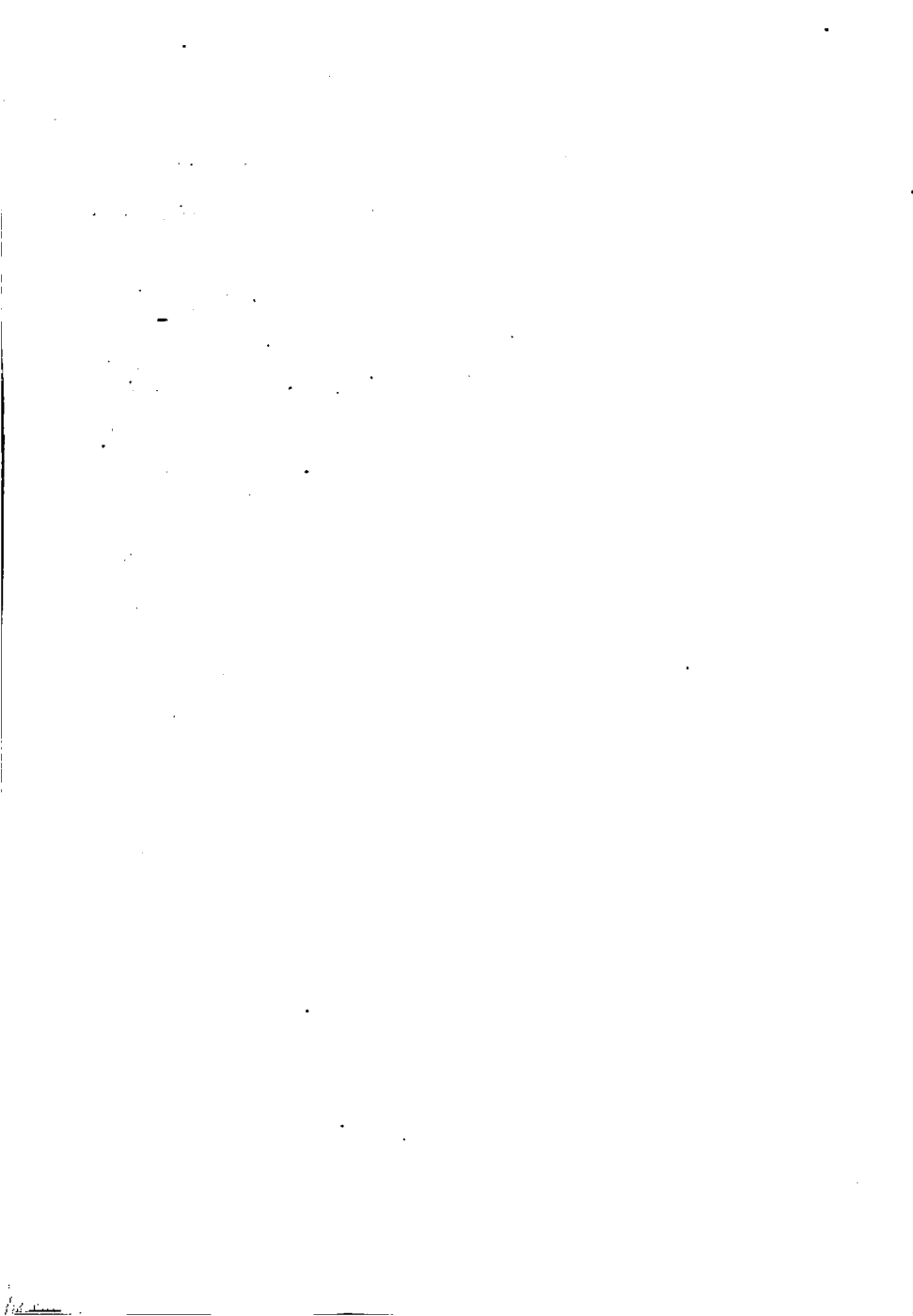
ज्ञानी गुरु

द्वितीय खण्ड—ज्ञानकाण्ड

ज्ञान क्या है?

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, १३।११[1]

—आत्मज्ञानपरायणता और तत्त्वज्ञानप्रयोजित जो मोक्ष है, उसी की जो आलोचना है; उसका नाम ज्ञान है एवं उसी की जो अन्यथाप्रतिपत्ति है, वही अज्ञान है।

अनाद्यन्तावभासात्मा परमात्मेह विद्यते।
इत्येको निश्चयः स्फारः सम्यग्ज्ञानं विदुर्बुधाः॥

—योगवाशिष्ठ, उपशम प्र०, ७९।२

—जगत् में अनादि, अनन्त, स्वप्रकाश, अद्वय परमात्मा ही वर्तमान हैं एवं यह जगत् उस परमात्मा का आभासस्वरूप यानी यह सबकुछ परमात्मा ही हैं—इस प्रकार का निश्चयात्मक जो ज्ञान है, उसी को बुधगण समीचीन ज्ञान के रूप में जानते हैं।

शास्त्रकारों ने एकमात्र तत्त्वज्ञान को ही ज्ञान शब्द से उल्लेख किया है। नहीं तो वेद-वेदान्तादि शास्त्रपाठ करके भी जो लोग नानाप्रकार सांसारिक बद्धभाव में अवस्थिति करते हैं, बहुप्रकार विद्या उपार्जन करके भी जो लोग ब्रह्मतत्त्वविद्या उपार्जन करने में सक्षम नहीं होते हैं, विज्ञ होकर भी जो लोग

अपनी आत्मा के मुक्तिसाधन में मूढ़ के समान अवस्थिति करते हैं, शास्त्रकारों ने उनका मूढ़ भिन्न पण्डितरूप में कहीं भी वर्णन नहीं किया है। "मणिरत्नमाला" नामक ग्रन्थ में महात्मा शङ्कराचार्य ने प्रश्नोत्तररूप में लिखा है—

बोधो हि को यस्तु विमुक्तिहेतुः। ११

—ज्ञान क्या है ? जो विमुक्ति का कारण है।

पशोः पशुः को न करोति धर्मं
प्राधीतशास्त्रोऽपि न चात्मबोधः। २९

—पशु की अपेक्षा भी पशु कौन है ? जो शास्त्राध्ययन करके भी धर्माचरण और आत्मज्ञानलाभ नहीं करता।

ज्ञान ही मुक्ति का एकमात्र साक्षात् कारण है। भगवान् शिव ने कहा है—

आत्मज्ञानमिदं देवि परं मोक्षैकसाधनम्।
सुकृतैर्मानवो भूत्वा ज्ञानी चेन्मोक्षमाप्नुयात्॥

—कुलार्णवतन्त्र

—हे देवि ! यह आत्मज्ञान ही मोक्ष का एकमात्र श्रेष्ठ कारण है। इसके अतिरिक्त मुक्तिलाभ का और अन्य कोई उपाय नहीं है।* सौभाग्यवशतः मनुष्यजन्म प्राप्त कर जो लोग ज्ञानी होते हैं, वे ही मोक्षसुखलाभ कर कृतार्थ हो सकते हैं, दूसरे लोग नहीं हो सकते।

---

* क्षितिं विना यथा नास्ति संस्थितेः कारणं सदा।
तोयं विना यथा नास्ति पिपासानाशकारणम्॥
तमोहन्ता यथा नास्ति भास्करेण विना प्रिये।
विना अग्निप्रयोगेन यथा किञ्चिन्न पच्यते॥
मातृगर्भं विना कान्ते उत्पत्तिर्न यथा भवेत्।
तत्त्वज्ञानं विना देवि तथा मुक्तिर्न जायते॥

—तन्त्रवचनम्

अरुणेनेव बोधेन पूर्वं सन्तमसे हृते।
तत आविर्भवेदात्मा स्वयमेवांशुमानिव॥

—आत्मबोधः, ४३

—रात के घना अन्धकार पहले अरुणोदय के द्वारा अपनीत होने से जिस प्रकार सूर्य स्वयं ही उदित होता है, उसी प्रकार ज्ञान के द्वारा अज्ञान अपनीत होने से परमात्मा स्वयं प्रकाशित हुआ करते हैं। भृगु ने कहा है,—

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्।
तपसा किल्विषं हन्ति विद्ययामृतमश्नुते॥

—मनुसंहिता, १२।१०४

—तपस्या एवं आत्मज्ञान—एतदुभयमात्र ब्राह्मणों के मोक्षलाभ के हेतु हैं। उनमें तपस्याद्वारा पाप-आसक्ति जाती है एवं ज्ञानद्वारा मुक्तिलाभ होता है।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ७।१६-१७

—हे अर्जुन! पूर्वजन्मकृत अपेक्षाकृत पुण्यभेद से चार प्रकार के व्यक्ति मुझे भजते हैं। प्रथम आर्त, द्वितीय जिज्ञासु, तृतीय अर्थार्थी, चतुर्थ ज्ञानी। इन चार प्रकार के भक्तों में आत्मज्ञानी सर्वापेक्षा प्रधान हैं, क्योंकि आत्मज्ञानसम्पन्न व्यक्ति सर्वदा ईश्वरनिष्ठ एवं एक परमेश्वर में ही उनकी अचला भक्ति रहती है। अतएव आत्मज्ञानियों को एकमात्र मैं ही प्रिय हूँ एवं वे भी मेरे परमप्रियपात्र हैं।

यहाँ तक जो भी लिखा गया, उससे स्पष्ट प्रमाणित हो रहा है कि आत्मतत्त्वज्ञान ही मुख्य है, और समस्त गौण हैं। आत्मा क्या है, ईश्वर क्या

है, जगत् क्या है—इस मोक्षोपयोगी प्रश्नत्रय के तत्त्व जिस ज्ञान के विषय हैं, वही ज्ञान है एवं उसका निर्णायक शास्त्र ही ज्ञानशास्त्र है।

ज्ञान के विषय

आत्मा क्या है, ईश्वर क्या है, जगत् क्या है—यह जानना ही ज्ञानालोचना है और मुक्ति उसका प्रयोजन है। उसी प्रयोजन-साधन के लिए हमें दर्शनशास्त्रों का मनोयोगपूर्वक पाठ करना कर्तव्य है। दर्शनशास्त्र को ही ज्ञानशास्त्र कहते हैं। कारण, ज्ञानार्थक दृश् धातुनिस्पन्न "दर्शन" शब्द का साक्षात् अर्थ ज्ञान का करण या द्वार है। अतएव ज्ञानशास्त्र कहने से दर्शनशास्त्र समझना होगा।

छः मूल दर्शनशास्त्र प्रचलित हैं। यथा—

गौतमस्य कणादस्य कपिलस्य पतञ्जलेः।
व्यासस्य जैमिनेश्चापि दर्शनानि षडेव हि॥

गौतम का न्याय, कणाद का वैशेषिक, कपिल का सांख्य, पतञ्जलि का योग, व्यास का वेदान्त एवं जैमिनि का मीमांसा—इन छः ऋषियों के छः मूल दर्शनशास्त्र हैं। फिर उनके रचयितागणों के शिष्योपशिष्यगण-विरचित अनेक दर्शन विद्यमान हैं, वे भी उक्त नामधेय शास्त्रान्तर्गत हैं। किन्तु जितने या जितने प्रकार के दर्शनशास्त्र हैं, वे सब एक प्रकार के नहीं होने पर भी उनमें प्रतिपाद्य "मुक्ति" अंश में किसी को भी कोई विवाद नहीं है। केवल मुक्ति का स्वरूप और उपाय निर्धारण करने जाकर जो थोड़ी-बहुत स्वतन्त्रता दृष्टिगोचर होती है।

इन षड्दर्शनों में सांख्यदर्शन का प्रभाव इस देश में अधिक है। चिकित्साशास्त्र जिस प्रकार चतुर्व्यूह है, सांख्यशास्त्र भी उसी प्रकार चार व्यूहों में अवस्थित है। चिकित्साशास्त्र जिस प्रकार रोग, रोग का कारण, रोग के आरोग्य और भैषज्य इन चार भागों में विभक्त है, सांख्यशास्त्र भी

उसी प्रकार दुःख, दुःख का कारण, दुःखनिवृत्ति और दुःखनिवृत्ति का उपाय इन चतुर्व्यूहों में प्रतिष्ठित है। संक्षेप में जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र मानवदेह के रोग और उसके आरोग्य को लेकर व्यस्त है, सांख्यशास्त्र भी उसी प्रकार मानवात्मा के दुःख और उनकी निवृत्ति में यत्नवान् है। क्योंकि—"अज्ञातज्ञापकं हि शास्त्रम्"। जो लौकिक प्रमाणों से अगोचर है, उसे बतलाना या उसका बोध उत्पन्न कराना ही शास्त्र है। अतः दुःख क्या है, एवं वास्तविक दुःख नामक कुछ होता है या नहीं—सांख्यकार इस विषय के विशेष विचार को बड़ा नहीं किया, क्योंकि दुःख है या नहीं, यह शास्त्रविचारद्वारा नहीं समझना होता है ; दुःख सर्वदा ही सभी मनुष्यों के अन्तःकरण में चेतनाशक्ति के प्रतिकूल अनुभव में उपस्थित हुआ रहता है। उसके बाद, दुःखनिवारण का कोई उपाय है या नहीं, यह भी सांख्यशास्त्र में सम्यक् आलोचित नहीं हुआ है, क्योंकि सभी जानते हैं, जो क्षणमात्र के लिए जाता है, वह स्थायीरूप से भी जा सकता है। अतः जो सभी समझते हैं, सभी जानते हैं, उसे लेकर आलोचना करना सांख्यशास्त्रकार का उद्देश्य नहीं है। सांख्यकार जो समझाना चाहते हैं, वह दूसरों के लिए अगोचर है। जिसका उपदेश मानव को कहीं से भी प्राप्त नहीं हुआ है, उसीका उपदेश सांख्य ने प्रदान किया है। सांख्यशास्त्र का उद्देश्य है, दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का उपाय मनुष्य को बतलाना। मनुष्य निरवच्छिन्न दुःख भोग रहा है, फिर भी उसका स्वरूप और अवस्थान नहीं जान रहा है। वही समझा देकर मनुष्य को कृतार्थ करना सांख्यशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। किन्तु यह मानवीय ज्ञान से परे है—यह ज्ञान लौकिक नहीं, अलौकिक है। साधारण ज्ञान से यह सत्य आविष्कृत नहीं होता है।

वास्तविक लगता है, दुःखनिरोध होने से ही मनुष्य मुक्त होता है। दुःखनिवारण के लिए मनुष्य की आकुल आकाङ्क्षा से दौड़धूप है। ऐकान्तिक दुःखनिरोध का नाम ही मुक्ति है। यह एक अस्वाभाविक तर्कजालजड़ित

अद्भूत बात नहीं है, प्राणों के अति निकट की बात है। जैमिनि ने भी कहा है—

यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतञ्च तत् सुखं स्वःपदास्पदम्॥

निरवच्छिन्न सुखसम्भोग ही स्वर्ग है एवं वही मनुष्य की सुखतृष्णा की विश्रामभूमि है, वही परमपुरुषार्थ एवं वही मुक्ति और अमृत है। यह मोक्ष या स्वर्गसुख वेदोक्त यागयज्ञादिद्वारा प्राप्त होता है ; किन्तु उसका क्षय है। परिमितकाल सुखसम्भोग हो सकता है, किन्तु उस परिमितकाल के अन्त में फिर दुःख उपस्थित हो जाता है। अतएव ये सब दुःखनिवृत्ति के उपाय नहीं हैं ; रोग आरोग्य होकर फिर हो जाने से उसे वास्तविक आरोग्य नहीं कहते। सांख्यमतानुसार आत्यन्तिक दुःखमोचन या स्वरूपप्रतिष्ठा (मुक्ति) का उपाय तत्त्वज्ञान है। "मैं महत्, अहङ्कार, इन्द्रिय प्रभृति नहीं हूँ—इन सब में मैं कुछ भी नहीं हूँ एवं ये सब मेरे नहीं हैं, मैं इन सब से भिन्न हूँ—चित् और आनन्दस्वरूप हूँ।" इस प्रकार के ज्ञान का नाम ही तत्त्वज्ञान है।

इस तत्त्वज्ञान को प्राप्त करने के लिए आत्मा और जगत् इस वस्तुद्वय के यथार्थ स्वरूप का अन्वेषण करना होता है। आत्मा और प्रकृति (जगद्भावापन्न) इन दोनों का प्रकृत तथ्य अनुसन्धानपूर्वक पुनःपुनः बुद्ध्यारोह करने का नाम तत्त्वाभ्यास है। श्रद्धा और भक्ति के साथ दीर्घकाल तक तत्त्वाभ्यास कर सकने से तत्त्वज्ञान जन्मता है।

तत्त्वज्ञानलाभ के लिए आत्मा और जगत् उभय का ही विचार करना आवश्यक है। आत्मा के सम्बन्ध में आलोचना करने के पहले, जगत्-सम्बन्ध में विचार करना कर्तव्य है ; क्योंकि जगत् हमारी आँखों के सामने है। जगत् के स्वरूप के बारे में सोचने पर आत्मा के बारे में चिन्तन करना सहज हो जायेगा। इस जगत् के मूल तत्त्व चौबीस हैं। उनसे भिन्न आत्मा भी एक है। समुदाय पचीस तत्त्व हैं। उनमें जिन चौबीस तत्त्वों का नाम जगत्

है, उसकी व्यष्टि—मूल प्रकृति, महत्, अहङ्कार, शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र, गन्धतन्मात्र, ग्यारह इन्द्रियाँ और क्षिति, अप्, तेज, मरुत् एवं व्योम ये पञ्चमहाभूत—इन्हीं नामों से ख्यात हैं। आत्मा और चैतन्यपुरुष के अतिरिक्त यह समुदाय विश्व इन चौबीस तत्त्वों के अन्तर्गत है। आधुनिक विज्ञान इन तत्त्वों को मौलिक पदार्थ एवं बौद्धशास्त्र धातु कहते हैं। तत्त्व शब्द का साधारण अर्थ यह है कि जो जिसकी योनि या मूल है, वही उसका तत्त्व है। यथा—घट का तत्त्व मृत्तिका, कुण्डल का तत्त्व सुवर्ण आदि।

अतएव तत्त्वज्ञान लाभ करने के लिए भक्ति और श्रद्धा के साथ दीर्घकाल तक दृढ़ता के साथ तत्त्वाभ्यास करना होता है।

साधन-चतुष्टय

तत्त्वाभ्यास की धारणा करनी सहज नहीं है। प्रकृत अधिकारी हुए बिना तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं होता। आहारशुद्धि, त्रिविध संघातशुद्धि, देश काल और सत्पात्रादि का लाभ, सङ्कल्पत्याग, इन्द्रियसंयम, व्रतचर्या एवं गुरुसेवा प्रभृति से यह अधिकार प्राप्त होता है। इन्द्रियगण चपलता-वृत्ति परित्याग कर स्थिरभाव अगर धारण न करें, तो ज्ञान कभी भी प्रकट नहीं होता है। ज्ञानी व्यक्ति अगर इन्द्रियों को संयत कर ब्रह्मपद का आश्रय कर सकें, तो अतिसहज ही सिद्धिलाभ हो सकता है। भगवान् भवानीपति ने कहा है—

यावत् कामादि दीप्येत यावत् संसारवासना।
यावदिन्द्रियचापल्यं तावत्तत्त्वकथा कुतः॥

—कुलार्णवतन्त्र, १।११३

अतएव इन्द्रियचापल्य के रहते तत्त्वज्ञान की सम्भावना नहीं होती। पुष्करिणी प्रभृति का जल स्थिरभाव से रहने पर उसमें प्रतिबिम्ब जिस प्रकार सुस्पष्ट नयनगोचर होता है, उसी प्रकार दुर्वृत्त इन्द्रियों के स्थिरभाव धारण करने से

ज्ञानद्वारा ज्ञेय पदार्थ का स्थायीभाव से दर्शन किया जा सकता है। हमारी मृत्यु के कर्ता ने स्वयं ही कहा है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

—कठोपनिषद्, १।२।२४

—जो दुश्चरित से विरत नहीं हुए हैं, शान्त और समाहित नहीं हुए हैं, शान्तमानस नहीं हुए हैं, वे केवल प्रज्ञामात्रद्वारा इसे प्राप्त नहीं होते।

इन सबकी विवेचना कर शास्त्रकारों ने उपदेश दिया है कि साधनचतुष्टयसम्पन्न व्यक्ति श्रवण-मनन-निदिध्यासन की सहायता से तत्त्वज्ञानलाभार्थ ब्रह्मतत्त्व का विचार करें। प्रथम साधन-चतुष्टय क्या-क्या हैं, यह देखा जाय।

(१) नित्यानित्यवस्तुविवेकः

नित्यानित्यवस्तु-विवेक किसे कहते हैं ? **नित्यं वस्त्वेकं ब्रह्म तद्व्यतिरिक्तं सर्वमनित्यम्, अयमेव नित्यानित्यवस्तुविवेकः**—एकमात्र परमेश्वर नित्यवस्तु हैं, उनसे भिन्न और समस्त ही क्षणस्थायी और अनित्य हैं ; इस प्रकार का जो निश्चयज्ञान है, उसीका नाम नित्यानित्यवस्तुविवेक है।

(२) इहामुत्रार्थफलभोगविरागः

इहामुत्रार्थफलभोगविराग किसका नाम है ?—**इहस्वर्गभोगेषु इच्छाराहित्यम्**—ऐहिक विषयसुख या मृत्यु के बाद स्वर्गभोग, इन उभय प्रकारों के स्वर्गभोग में बिन्दुमात्र भी आस्था या इच्छा न रहने का नाम इहामुत्रार्थफलभोगविराग है।

(३) षट्-सम्पत्तिः

शमदमादि षट्-सम्पत्ति किसे कहते हैं ? —**शमदमोपरतितितिक्षा-श्रद्धासमाधानश्चेति**—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान इन छः को षट्-सम्पत्ति कहते हैं।

शम किसे कहते हैं ?—"मनोनिग्रहः"—अन्तरिन्द्रिय जो मन है, उसी के निग्रह का नाम शम है। श्रीकृष्ण ने कहा है, शमो मन्निष्ठिता बुद्धिः—ईश्वरनिष्ठ जो बुद्धि है, उसी का नाम शम है।

दम किसे कहते हैं ?—"दमो नाम चक्षुरादि-बाह्येन्द्रियनिग्रहः"—चक्षु प्रभृति बाह्य इन्द्रियों के दमन का नाम दम है।

उपरति किसे कहते हैं ?—"उपरतिर्नाम विहितानां कर्मणां विधिना त्यागः।" —विहित कर्मसकल का संन्यासविधान के द्वारा जो परित्याग है, उसी का नाम उपरति है। "श्रवणादिषु वर्तमानस्य मनसः श्रवणादिष्वेव वर्तनं वोपरतिः।"—किंवा शब्दादि-विषयश्रवणादि से वर्तमान मन को प्रत्याहारपूर्वक ब्रह्म-विषयक श्रवणादि में जो वर्तन है, उसी का नाम उपरति है।

तितिक्षा किसे कहते हैं ?—"तितिक्षा नाम शीतोष्णसुखदुःखादिद्वन्द्वसहनं देहविच्छेदव्यतिरिक्तम्।"—जिससे शरीरविच्छेद न हो अर्थात् जिससे मृत्यु न हो, इस प्रकार शीतोष्णसुखदुःखादि परस्पर विपरीत विषयसकल सहन करना, उसीका नाम तितिक्षा है।

श्रद्धा किसे कहते हैं ?—"गुरुवेदान्तवाक्येषु विश्वासः।"—गुरु और वेदान्तशास्त्रों के वाक्यों में विश्वास करने का नाम श्रद्धा है।

समाधान किसे कहते हैं ?—"चित्तैकाग्रता।"—परमेश्वर में मन की जो एकाग्रता है, उसी का नाम समाधान है।

(४) मुमुक्षुत्वम्

मुमुक्षुत्व किसे कहते हैं ?—**मुमुक्षुत्वं नाम मोक्षेऽतितीव्रेच्छा-वत्त्वम्।**—मुंक्ति में अति तीक्ष्ण इच्छावत्ता का नाम मुमुक्षुत्व है।

ये सब साधनचतुष्टयसम्पत्ति हैं। इन से विशिष्ट व्यक्ति ही साधनचतुष्टयसम्पन्न कहलाता है। इन साधनचतुष्टयसम्पन्न व्यक्तियों से ही आत्मानात्म-विवेक-विचार प्रशस्त समझो। किन्तु इस साधनचतुष्टयसम्पत्ति

का अभाव रहने पर भी यद्यपि कोई व्यक्ति यह आत्म-अनात्म का विचार करते हैं, तो उसमें उनका कोई प्रत्यवाय नहीं है ; अधिकन्तु उससे उनके मङ्गल की ही सम्भावना रहती है।*

श्रवण, मनन और निदिध्यासन

साधनचतुष्टयसम्पन्न व्यक्ति श्रवण, मनन और निदिध्यासन की सहायता से आत्मानात्मविवेक विचार करेंगे। अतएव साधक को श्रवण, मनन और निदिध्यासन जानना आवश्यक है।

(क) श्रवण

षड्विधलिङ्गैरशेषवेदान्तानामद्वितीयवस्तुनि तात्पर्यावधारणम्।

—वेदान्तसार, १८२

—षट्प्रकार लिङ्गों द्वारा अद्वितीय वस्तु में—या ब्रह्म में समस्त वेदान्तों के तात्पर्य अवधारण का नाम श्रवण है।

षट्प्रकार के लिङ्ग हैं, यथा—(१) 'उपक्रमोपसंहार' (२) 'अभ्यास' (३) 'अपूर्वता' (४) 'फल' (५) 'अर्थवाद' (६) 'उपपत्ति'।

उपक्रमोपसंहार—जिस शास्त्र का जो वस्तु प्रतिपाद्य है, उसके आदि में और अन्त में उसी वस्तु के प्रतिपादन करने को ही उपक्रमोपसंहार कहते हैं।

अभ्यास—जिस प्रकरण में जो वस्तु प्रतिपाद्य है, उसी प्रकरण में उस वस्तु के पुनःपुनः प्रतिपादन का नाम अभ्यास है।

अपूर्वता—प्रतिपाद्य वस्तु के प्रमाणातिरिक्त प्रमाण के अविषयरूप में उसी वस्तु का प्रतिपादन करना ही अपूर्वता है।

---

* साधनचतुष्टयसम्पत्त्यभावेऽपि गृहस्थानामात्मानात्मविचारे क्रियमाणे सति तेन प्रत्यवायो नास्ति किन्त्वतीव श्रेयो भवति।

फल—प्रतिपाद्य वस्तु के प्रयोजन श्रवण का नाम फल है।

अर्थवाद—प्रतिपाद्य वस्तु की प्रशंसा करने को अर्थवाद कहते हैं।

उपपत्ति—प्रतिपाद्य विषय के प्रतिपादन की युक्ति का नाम उपपत्ति है।

इन छः प्रकार के लिङ्गों के द्वारा समस्त वेदान्त वाक्यों का एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म में ही तात्पर्यनिरूपण का नाम श्रवण है।

(ख) मनन

श्रुत अद्वितीय ब्रह्मवस्तु के वेदान्त के अविरोधी युक्तियों द्वारा सर्वदा चिन्तन का नाम मनन है।

(ग) निदिध्यासन

तत्त्वज्ञानविरोधी देहादि जड़पदार्थों के ज्ञान का परिहार करते हुए अद्वितीय ब्रह्मवस्तुविषयक चित्तवृत्ति की धाराएँ प्रवाहित करने को निदिध्यासन कहते हैं।

साधनचतुष्टयसम्पन्न तत्त्वज्ञान के साधक श्रवण-मनन-निदिध्यासन के साथ चिन्तन करेंगे, "मैं नित्य शुद्ध बुद्ध हूँ—प्रकृति मेरी दासीस्वरूपा है—मेरे ही सेवार्थ उसका समस्त आयोजन है। मैं ज्ञानस्वरूप, मैं आनन्दस्वरूप, मैं अस्तिस्वरूप—किन्तु मेरे ऊपर प्रकृति प्रतिबिम्बित होकर अपने गुणों (सत्त्व रजः तमः) का विकास मात्र कर रही है। अतएव सुख-दुःखादि गुणों के धर्म हो सकते हैं—उससे मेरा क्या ?"

दुःख का कारण और मुक्ति का उपाय

ज्ञान के द्वारा समय-समयपर अवश्य ही उपलब्धि की जा सकती है कि यह समस्त ही मिथ्या है—ब्रह्म ही सब है, भेदकल्पना मूढ़ता मात्र है। इस ज्ञान को स्थायी करने के लिए ज्ञानसाधना का प्रयोजन है। सांख्यकारों ने दुःख को "हेय" शब्द से अभिहित किया है।

त्रिविधं दुःखं हेयम्।

—सांख्यदर्शन

—त्रिविध दुःख का नाम "हेय" है। त्रिविध दुःख क्या है?—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। इन तीन प्रकार के दुःखों का नाम "हेय" है।

प्रकृतिपुरुषसंयोगेन चाविवेको हेयहेतुः।

—सांख्यदर्शन

—प्रकृति-पुरुष के संयोगद्वारा जो अविवेक जनमता है, वही हेय का हेतु है। संयोग किसे कहते हैं?

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः।

—पातञ्जलयोगदर्शन, २।२३

—दृश्य और द्रष्टा के भोग्यत्व और भोक्तृत्वरूप में उपलब्धि को संयोग कहते हैं।

आत्मा प्रकृति के साथ संयुक्त होने पर, उस संयोगवशतः द्रष्टृत्व और दृश्यत्व उभय शक्तियाँ प्रकाशित होती हैं एवं उसी कारण से यह जगत्-प्रपञ्च विभिन्न प्रकारों से व्यक्त हुआ करता है। इस प्रकार संयुक्त होने का एकमात्र कारण अज्ञान है। जीव में जन्म-जन्मान्तरों के अविद्यासम्भूत भ्रमज्ञान का संस्कार रहता है। यह सूक्ष्मसंस्कारज्ञान परमाणुजात जगत् में गन्धादि मनोहर विषयों को नानारूपों में प्रकटित करता है। उनके साथ मन प्रभृति इन्द्रियों के संयोग होने से सुख-दुःख का अनुभव होता है, उससे सुखतृष्णा जन्मती है। सुखतृष्णा से चेष्टा आती है। मानसिक और शारीरिक चेष्टाओं से कर्मफल उत्पन्न होता है। कर्मफल से जीव का जन्म होता है। अतएव जन्म ही दुःख का कारण है। यह दुःख प्रकृति-पुरुष के संयोग से उत्पन्न होता है। अज्ञान ही इसका हेतु है।

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।

—पातञ्जलयोगदर्शन, २।२५

—इस अज्ञान का अभाव होते ही पुरुष-प्रकृति का संयोग नष्ट हो जाता है।

साधनाद्वारा इस संयोग को नष्ट करना ही प्रयोजन है, वही आत्मा के कैवल्यपद में अवस्थिति है। प्रकृति-पुरुष के संयोग से जिस विषयज्ञान का जन्म होता है, वही त्रिविध दुःखों के प्रति कारण है।

तदत्यन्तनिवृत्तिर्हानम्।

—सांख्यदर्शन

—दुःखत्रय की अत्यन्त निवृत्ति को 'हान' अर्थात् मुक्ति कहते हैं। उस आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति का उपाय क्या है ?

विवेकख्यातिस्तु हानोपायः।

—सांख्यदर्शन

विवेकख्याति ही हानोपाय है। अर्थात् विवेक ही मुक्ति का उपाय है, क्योंकि प्रकृति-पुरुष के संयोग से अविवेक उपस्थित होकर दुःखोत्पादन करता है एवं प्रकृति-पुरुष के वियोग से दुःखों की निवृत्ति होती है। प्रकृति-पुरुष का वियोग या पार्थक्य विवेकद्वारा सम्पन्न हुआ करता है, उसी विवेकद्वारा ही दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति होकर मुक्तिपद की प्राप्ति होती है। इसलिए जिससे पुरुष का विवेक उत्पन्न हो, ऐसे कार्यानुष्ठान का प्रयोजन है।

न प्रमादादनर्थोऽन्यो ज्ञानिनः स्वस्वरूपतः।
ततो मोहस्ततोऽहंधीस्ततो बन्धस्ततो व्यथा॥

—विवेकचूड़ामणि, ३२३

—साधक के स्वकीय ब्रह्मभाव में जो अनवधानता रहती है, उसकी अपेक्षा अनिष्टकर और कुछ भी नहीं है। क्योंकि अनवधानता से मोह उत्पन्न

होता है, मोह से ही अहं-बुद्धि, अहं-बुद्धि से बन्धन एवं बन्धन से दुःख उपस्थित होता है।

अतएव साधक सावधानी के साथ तत्त्वविचार करें। सम्यक् तत्त्वदर्शन से आवरण की निवृत्ति होती है, आवरण की निवृत्ति होने से भ्रमज्ञान का नाश होता है एवं मिथ्याज्ञान के नाश होने से विक्षेपजनित दुःखों की निवृत्ति होती है।

एतत्त्रितयं दृष्टं सम्यग्रज्जुस्वरूपविज्ञानात्।
तस्माद्वस्तु सतत्त्वं ज्ञातव्यं बन्धमुक्तये विदुषा॥

—विवेकचूड़ामणि, ३४९

—रज्जुस्वरूप-ज्ञान से आवरण, विक्षेप एवं मिथ्याज्ञान एतत्त्रय सम्यक्रूप से दृष्ट होते हैं, अतएव पण्डितव्यक्ति बन्धनविमुक्ति के निमित्त प्रकृति के साथ पुरुष से अवगत हों।

बाहर, अन्तर और बौद्ध जगत् को जीतकर ब्रह्मभाव परिस्फुट करना ही ज्ञानयोग का चरम-उद्देश्य है, यही धर्म का पूर्णाङ्ग है। महर्षि वशिष्ठदेव ने ज्ञान के सात प्रकार की अवस्था का वर्णन किया है। पूर्णज्ञान तक पहुँचने के लिए सात सोपान (सीढ़ी) हैं। इन सात प्रकार की अवस्थाओं को भूमिका कहते हैं। यथा—

ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीया तनुमानसा॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका।
पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता॥*

—योगवाशिष्ठ, उत्पत्ति प्र०, ११८।५-६

* यह श्लोक महोपनिषद्, ५।२४ में भी है।—अनुवादक

—प्रथम शुभेच्छा, द्वितीय विचारणा, तृतीय तनुमानसा, चतुर्थ सत्त्वापत्ति, पञ्चम असंसक्तिका, षष्ठ पदार्थाभावनी एवं सप्तम तुर्यगा। इन सातों में से एक-एक पर आरूढ़ होने से ज्ञान का एक-एक स्तर प्राप्त होता है।

शुभेच्छा—शम-दमादि साधना द्वारा विवेक और वैराग्य उपस्थित होकर मुक्तिलाभ की कामना जन्माने को शुभेच्छा कहते हैं। इस स्तर पर मैं ज्ञानलाभ कर रहा हूँ, यही जाना जा सकता है।

विचारणा—श्रवण-मननादि द्वारा विचारशक्ति उपस्थित होने का नाम विचारणा है। इस स्तर पर जाने पर समझा जा सकता है—जो जानना था, वह जान चुका हूँ, जानने का प्रयोजन और कुछ भी नहीं है, ऐसा समझने पर मन में किसी प्रकार के असन्तोष का कारण और नहीं रह जाता है।

तनुमानसा—विषयवासना परित्यागपूर्वक निदिध्यासनद्वारा सत्स्वरूप में अवस्थित होने का नाम तनुमानसा है। इस स्तरपर आने पर जान सकेंगे—जो सत्य है, वह बाहर नहीं है ; इतने दिन दूसरों के निकट जो सत्यानुसन्धान करते घूम चुका हूँ, वह वृथा गया ; सत्य तो हमारे भीतर है। अब निश्चय ही सत्यलाभ कर कृतार्थ हुआ हूँ।

सत्त्वापत्ति—किसी प्रकार की विषयवासना नहीं रहना, अर्थात् सभी विषयों में अनासक्ति का नाम सत्त्वापत्ति है। इस स्तरपर चित्तविमुक्ति अवस्था आती है—तब चित्त का अनेक दिशाओं में धावित होने का स्वभाव नहीं रहता है।

असंसक्तिका—"मैं ही ब्रह्म हूँ" इस प्रकार के अपरोक्ष ज्ञान उपस्थित होने को असंसक्तिका कहते हैं। इस स्तरपर उपस्थित होनेपर सर्वज्ञ हुआ जाता है।

पदार्थाभावनी—असंसक्तिका के अभ्यास में परिपक्वता आनेपर जो चिरकालावस्थायिनी अवस्था का आविर्भाव होता है, उसे पदार्थाभावनी नाम से अथवा गाढ़सुषुप्ति नाम से अभिहित किया जाता है। क्योंकि योगी व्यक्ति

इस अवस्था से स्वयं उत्थित नहीं होते, किन्तु दूसरों के प्रयत्न से उत्थित हुआ करते हैं ,अर्थात् व्यावहारिक दशा में उपस्थित होते हैं। इस प्रकार के ज्ञानी पुरुष ब्रह्मविदों में उत्कृष्टतर हैं। यह कथित भी है—''ज्ञानी व्यक्ति सुषुप्ति नाम से परिचित पञ्चमी अवस्था को प्राप्त होकर, उससे क्रमशः गाढ़ सुषुप्ति नाम से कथित षष्ठी भूमिका में अधिरूढ़ हुआ करते हैं।''

तुर्यगा—और, जिस समाधि अवस्था से योगी व्यक्ति स्वतः अथवा परतः व्युत्थित नहीं होते हैं, क्योंकि उन्हें समस्त प्रकार के भेददर्शनों का अभाव हो चुका है, किन्तु वे हमेशा केवल तन्मय ही हुए रहते हैं, अर्थात् ब्रह्ममय ही हुए रहते हैं, उनकी प्राणवायु परमेश्वर द्वारा ही प्रेरित हुआ करती है, इसलिए उनका दैहिक व्यवहारों भी दूसरों के द्वारा निर्वाहित हुआ करते हैं, परन्तु वे उसी अवस्था में हर प्रकार से परिपूर्ण आनन्दस्वरूप हुए रहते हैं ; यह अवस्था वाक्यों का अगम्य है ; इस अवस्था में उपस्थित होने से साधक शान्त, सदानन्द और जीवन्मुक्त होते हैं। उनकी यह अवस्था सप्तमी भूमिका है ; इसे तुरीय (चरम) अवस्था कहते हैं। जो व्यक्ति इसी अवस्था को प्राप्त हुए हैं, उन्हें ब्रह्मविदों में उत्कृष्टतम कहते हैं।

वशिष्ठदेव द्वारा साधक के अवस्थाभेद से ये सात प्रकार की ज्ञानभूमियाँ प्रदर्शित हुई हैं। अर्थात् जिस प्रकार की साधना करने से जिस परिमाण में ज्ञान प्रस्फुटित होता है, वही दिखाया है। योगशास्त्रानुसार जो अष्टाङ्ग योगसाधना है, वेदान्तानुसार जो साधनचतुष्टय है, दर्शनशास्त्रानुसार जो श्रवण मनन निदिध्यासन एवं तन्त्रशास्त्रानुसार जो तत्त्वसाधना है—तत्समुदाय ही इन सात प्रकार के ज्ञान-प्रस्फुरण का हेतु है। इस प्रकार से ज्ञान का विकास होनेपर और किसी विषय की अज्ञता नहीं रह जाती है, सभी विषयों में ही सम्यक् ज्ञान जन्मता है। सम्यक् ज्ञान का दूसरा नाम है ब्रह्मज्ञान। ब्रह्मज्ञान में कुछ भी अविदित नहीं रहता है, इसीलिए इसका नाम सम्यक् अर्थात् समग्र ज्ञान है। इस समग्र, सम्यक् या ब्रह्मज्ञान का भित्तिमूल योग है।

योगबल से ही यह सम्पादित होता है, अन्य और किसी प्रकार से नहीं होता है। क्योंकि शास्त्र में ही उक्त है—

योगात् संजायते ज्ञानं योगो मय्येकचित्तता।

—आदित्यपुराण

—योगाभ्यासद्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है एवं योगद्वारा ही चित्त की एकाग्रता जनमती है।

योगिपुरुष के इस प्रकार का ज्ञान ही प्रकृत ज्ञानपदवाच्य है, नामान्तर से इस ज्ञान को ही आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान या तत्त्वज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान के उदय होने से ही मुक्तिलाभ हुआ करता है।

तत्त्वज्ञान-विभाग

साधना-अनुसार ज्ञान की सात प्रकार की अवस्थाएँ होने पर भी प्रकृत ज्ञान के विभाग मात्र चार प्रकार के हैं ; यथा—आत्मज्ञान, प्रकृतिज्ञान, पुरुषज्ञान एवं ब्रह्मज्ञान। इन चार प्रकार के ज्ञान को एक शब्द में तत्त्वज्ञान कहते हैं। आत्मज्ञानद्वारा आत्मतत्त्व, प्रकृतिज्ञानद्वारा प्रकृतितत्त्व या विद्यातत्त्व, पुरुषज्ञानद्वारा परमात्मतत्त्व या शिवतत्त्व एवं ब्रह्मज्ञानद्वारा ब्रह्मतत्त्व का अवधारण किया जाता है। प्रकृत विषय में ज्ञान, ज्ञान का विषय एवं ज्ञाता इन तीनों को जो एक के रूप में अवधारण कर सके हैं, वे ही यथार्थ ज्ञानी एवं वे ही आत्मवित् हैं। यथा—

ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं भाति मायया।
विचार्यमाणे त्रितये आत्मैवैकोऽवशिष्यते।।
ज्ञानमात्मैव चिद्रूपो ज्ञेयमात्मैव चिन्मयः।
विज्ञाता स्वयमेवात्मा यो जानाति स आत्मवित्।।

—महानिर्वाणतन्त्र, १४।१३७-१३८

—ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता यह त्रितय केवल मायाद्वारा पृथक्‌रूप से प्रतिभात हो रहा है; परन्तु इस त्रितय के तत्त्व विचार करने पर एकमात्र आत्मा ही अवशिष्ट रहता है, और कुछ भी नहीं रहता। क्योंकि चिन्मय आत्मा ही ज्ञान है, चिन्मय आत्मा ही ज्ञेय है एवं चिन्मय आत्मा ही स्वयं ज्ञाता है; जो इसे ज्ञात हो सकता है, वही आत्मवित् है। क्योंकि—

ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथञ्चन।
ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्यः पूर्णः सदाशिवः॥

—विज्ञानभिक्षु

ज्ञान—आत्मा का गुण या धर्म नहीं है। आत्मा स्वयं ज्ञानरूपी, नित्य एवं पूर्ण मङ्गलमय है।

आत्मतत्त्व

पहले आत्मतत्त्व का अवधारण करना होगा।

शुक्रशोणितयोर्योगे पञ्चभूतात्मिका तनुः।
पातालस्वर्गपर्यन्तम् आत्मतत्त्वं तदुच्यते॥

—तन्त्रवचन

—शुक्र और शोणितयोग से जो पञ्चभूतात्मक स्थूलदेह है, उसके पाताल से स्वर्ग तक अर्थात् आपादमस्तक को आत्मतत्त्व कहते हैं।

पञ्चभूतात्मक स्थूलशरीर किसे कहते हैं?—

रसादिपञ्चीकृतभूतसम्भवं भोगालयं दुःखसुखादिकर्मणाम्।
शरीरमाद्यन्तवदादिकर्मजं मायामयं स्थूलमुपाधिमात्मनः॥

—रामगीता, २८

—जो क्षिति, अप्, तेजः, मरुत् और व्योम यह पञ्चीकृत पञ्चभूतात्मक है, जो सुख-दुःखादि का कारणस्वरूप है, जो कर्मभोग का आलय है, जो

उत्पत्ति और नाशयुक्त है, जो प्रारब्धकर्मज है, जो माया का विकारस्वरूप है, उसी अन्नमय शरीर को स्थूलशरीर कहते हैं।

स्थूलदेह के पदतल से मस्तक तक समग्र अवयवों को चतुर्दश भुवन अर्थात् सप्तपाताल और सप्तस्वर्ग कहते हैं। यह सप्तपाताल और सप्तस्वर्गयुक्त चतुर्दश-भुवनमय स्थूलदेह जो पञ्चभूतात्मक है, जन्म-मृत्यु एवं कौमार-यौवनादि विकारयुक्त है, जाग्रत स्वप्न और सुषुप्तिरूप अवस्थापन्न एवं प्रारब्धकर्म और सुख-दुःखादि भोग का जो आलयस्वरूप है, इन समस्त तत्त्वों के यथार्थरूप से अवगत होने का नाम आत्मतत्त्व एवं तत्त्वस्वरूप अनुभवकरणजन्य जो षट्चक्र का ज्ञान है, वही आत्मतत्त्वज्ञान के रूप में कथित है।

साधना के बिना मायाविमोहित जीव का यह आत्मज्ञान सहज में उदय नहीं होता है ; इसलिए यम-नियमादि साधनान्तर से प्राणायामद्वारा षट्चक्र का भेदन कर शमदमादि की साधना करने से, आत्मज्ञान प्रस्फुटित हुआ करता है। आत्मज्ञान का बीजसमूह सभी देहों में निहित रहता है ; किन्तु उसकी साधना या अभ्यास नहीं करने से प्रस्फुटित, वर्धित और प्रकाशित नहीं होता है, इसलिए साधना करनी पड़ती है ; साधना करने से ही आत्मज्ञान जनमता है।

प्रकृति या विद्यातत्त्व

ज्ञान का द्वितीय विभाग विद्यातत्त्व किसे कहते हैं ?

मूलाधारे च या शक्तिर्गुरुवक्त्रेण लभ्यते।
सा शक्तिर्मोक्षदा नित्या विद्यातत्त्वं तदुच्यते॥

—तन्त्रवचन

इस स्थूलशरीराभ्यन्तर में आधारकमल में जो शक्तिरूपा प्रकृति अधिष्ठिता हैं, उनका तत्त्व गुरुमुख से शिक्षा करेंगे। वे शक्तिरूपा प्रकृतिदेवी ही

मुक्तिदात्री अर्थात् उनका तत्त्व अवगत होने से ही मुक्तिलाभ हुआ करता है। इसलिए इस शक्तितत्त्व को विद्यातत्त्व कहते हैं।

विद्या का अर्थ है ज्ञान, ज्ञानोदय होने से अविद्या या अज्ञान विनाशप्राप्त होता है एवं अज्ञान के नाश होते ही मुक्तिलाभ होता है। सम्प्रति किस प्रकार वह विद्यातत्त्व लाभ होगा, वही देखें।

आत्मतत्त्व कहने से जिस प्रकार पञ्चस्थूलभूत के साथ इस स्थूलदेह का सम्बन्ध अवगत होना समझा जाता है, विद्यातत्त्व में भी उसी प्रकार सूक्ष्मदेह के साथ शक्ति का कैसा सम्बन्ध है, यह अवगत हुआ जाता है। सूक्ष्मशरीर किसे कहते हैं ?

सूक्ष्मं मनोबुद्धिदशेन्द्रियैर्युतं प्राणैरपञ्चीकृतभूतसम्भवम्।
भोक्तुः सुखादेरनुसाधनं भवेत् शरीरमन्यद्विदुरात्मनो बुधाः॥

—रामगीता, २९

—मन, बुद्धि, दशेन्द्रिय एवं पञ्चप्राण इन सप्तदशावयवयुक्त अपञ्चीकृत आकाशादि पञ्चभूतों से जात, स्थूलशरीर से भिन्न एवं सुख-दुःख भोग करने की साधनस्वरूप जो देह है, उसी को सूक्ष्मशरीर कहते हैं। "तल्लिङ्गमुच्यते" उसी को लिङ्गशरीर कहते हैं। वेदान्तशास्त्र-मतानुसार इसका नाम है "हृद्देशे अङ्गुष्ठमात्र पुरुष"।

मूलाधारस्थिता शक्ति ही जीव का जीवत्व है ; यह शक्ति ही स्थूल और सूक्ष्म शरीरोत्पत्ति का कारण एवं यह शक्ति ही ब्रह्मशक्ति है। यह कुलकुण्डलिनीरूप में सर्वजीव में अधिष्ठानपूर्वक सत्त्व, रजः और तमोगुण-भेद से इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति के रूप में प्रकाश पा चुकी है। यह महत्तत्त्व या बुद्धितत्त्वरूप में ज्ञानशक्ति, अहंतत्त्वरूप में इच्छाशक्ति एवं एकादश इन्द्रियतत्त्वरूप में क्रियाशक्ति होकर प्रकाशित हुई है। यह विद्यारूप में विशुद्ध ज्ञानप्रकाशिका मुक्तिदात्री महामाया ईश्वरप्रसविनी कुण्डलिनीशक्ति एवं अविद्यारूप में अज्ञानप्रकाशिका संसारासक्तिकारिणी जगत्प्रसविनी आवरणशक्ति और विक्षेपशक्ति के रूप में कथित होती है।

इच्छाशक्ति—मूला प्रकृतिदेवी इच्छाशक्तिरूप में वैष्णवी होकर सत्त्वगुण-अवलम्बनपूर्वक परमात्मचैतन्य को विष्णु नाम देकर लक्ष्मी-नारायणरूप में लिङ्गमूल में स्वाधिष्ठानचक्र में, भुवर्लोक में वैकुण्ठ में अवस्थित होकर क्रियाशक्तिप्रसूत जो ब्रह्माण्ड है, उसी का पालन कर रही है। यथा—

ब्रह्मार निवास हते ऊर्ध्वे सेइ स्थान।
अति भयानक पद्म षड्दल नाम॥
पद्ममध्ये बीजकोष भुवर्लोक नाम।
परम आश्चर्य स्थान अति गुणधाम॥
पद्मोपरि वामे लक्ष्मी दक्षे सरस्वती।
उभयेर मध्ये विष्णु अति शान्तमति॥
ब्रह्मार जनित सृष्टि चराचर जत।
पालन करेन विष्णु श्रीवाणीसहित॥

—शक्ति-भक्ति-तरङ्गिणी

क्रियाशक्ति—प्रकृतिदेवी क्रियाशक्तिरूप में ब्राह्मी होकर रजोगुण-अवलम्बनपूर्वक परमात्मचैतन्य को ब्रह्मा नाम देकर सावित्री-ब्रह्मारूप में मूलाधार-चक्र में भूलोक में अवस्थित होकर क्रियाशक्ति के द्वारा पृथ्वीरूप भूमण्डल की सृष्टि करती है। यथा—

वेदमाता सावित्री लइया वामभागे।
बालकेर न्याय ब्रह्मा सृष्टि-अनुरागे॥
सावित्रीर साधन करिया विधिमते।
करेन प्रजार सृष्टि शक्तिर वरेते॥
पृथिवीमण्डल एइ भूलोक नामेते।
वसति करेन ब्रह्मा सावित्री सहिते॥

—शक्ति-भक्ति-तरङ्गिणी

ज्ञानशक्ति—फिर प्रकृतिदेवी ही ज्ञानशक्तिरूप में गौरी होकर तमोगुण-अवलम्बनपूर्वक परमात्मचैतन्य को हर या महेश्वर नाम देकर हरगौरीरूप में मणिपुरचक्र में रुद्रमूर्ति धारणपूर्वक स्वर्लोक में अवस्थित होकर ज्ञानशक्तिद्वारा संसार मोचन करती है। यथा—

वैकुण्ठेर ऊर्ध्वदेशे पद्म मनोहर।
दशपत्र नीलवर्ण अग्निर आकार॥
भद्रकाली महाविद्या रुद्रेर वामेते।
संहार करेन सृष्टि एकइ ग्रासेते॥
ब्रह्मार सृजन कर्म विष्णुर पालन।
संहार करेन महारुद्र त्रिलोचन॥
पालन करेन विष्णु जत चराचर।
भोजन करिया काली करेन संहार॥

—शक्ति-भक्ति-तरङ्गिणी

इस सृष्टि-स्थिति-प्रलयसम्भूत स्थूल-सूक्ष्मदेह के समस्त तत्त्व विशदरूप में ज्ञात होने को विद्यातत्त्व एवं इस ज्ञान को विद्या-तत्त्वज्ञान कहते हैं। प्रत्याहार और धारणा के साधनाद्वारा यह विद्या-तत्त्वज्ञान उत्पन्न हुआ करता है। मतान्तर से इस शक्तित्रय को केवल एक ही प्रकृति और एक पुरुषरूप में व्याख्या की जा रही है। यथा—

ज्ञानशक्तिर्भवानीश इच्छाशक्तिरुमा स्थिता।
क्रियाशक्तिरिदं विश्वमस्य त्वं कारणं ततः॥

—स्कन्दपुराण, काशीखण्ड (पूर्वार्ध), १३।१८

परमात्मा स्वयं ज्ञानशक्ति को आश्रय कर ईश्वररूप में प्रकाशित हुए। ये ही पुरुष एवं इच्छाशक्ति को आश्रय कर उकार, मकार और अकार इन तीन वर्णात्मक (ॐकार) उमा नाम्नी प्रकृतिरूप में प्रकाशित हुए। बाद में इन्हीं

पुरुष और प्रकृति ने शिव और शक्ति उभय ने क्रियाशक्ति को आश्रयकर इस विश्व की रचना की। जो इस त्रिशक्ति का स्वरूप है, वही ब्रह्म है।

पुरुष या शिवतत्त्व

ज्ञान के तृतीय विभाग शिवतत्त्व किसे कहते हैं, यही आलोचना की जाय।

सहस्रारस्य मध्यस्थे सहस्रदलपङ्कजे।
तन्मध्ये निवसेद् यस्तु शिवतत्त्वं तदुच्यते॥

—तन्त्रवचन

शिरस्थित सहस्रदलकमल में जो परमात्मा अवस्थित हैं, वे ही परमशिव हैं। उनका विषय प्रकृष्टरूप में ज्ञात होने का नाम शिवतत्त्व है।

सहस्रारस्थित परमशिव ही परमात्मा हैं, आत्मा ही पुरुष या ईश्वर-पदवाच्य है। ये सर्वजीवदेह में अवस्थानपूर्वक माया को वशीभूत कर ईश्वर नाम से अभिहित होते हैं एवं अविद्या के वशतापन्न होकर जीवशब्द से कथित होते हैं। इस परमात्मचैतन्य ने माया और अविद्या में प्रतिबिम्बित होकर ईश्वर और जीवसंज्ञा प्राप्त किया है, इसलिए इसे कारण-शरीर के रूप में उक्त किया जाता है। कारण-शरीर किसे कहते हैं ?—

अनाद्यनिर्वाच्यमपीह कारणं मायाप्रधानन्तु परं शरीरकम्।
उपाधिभेदात्तु यतः पृथक्स्थितं स्वात्मानमात्मन्यवधारयेत् क्रमात्॥

—रामगीता, ३०

यह कारणशरीर आदिरहित, अनिर्वाच्य, मायाप्रधान, स्थूल और सूक्ष्मशरीर से भिन्न है। जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति का कारण होने से ज्ञानिगण इसे कारण-शरीर के रूप में निर्देश करते हैं।

यद्यपि अविद्या को कारण-शरीर कहते हैं, किन्तु चैतन्यसंयोग के बिना कोई भी शरीर स्थायी नहीं हो सकता, इसलिए तन्त्रशास्त्रमतानुसार शिवतत्त्व

ही कारण-शरीर है। योग का सप्तमाङ्ग जो ध्यान है, उसी ध्यानद्वारा यह कारण-शरीर अनुभूत हुआ करता है ; साधक ध्यान-निमीलितनेत्रों से आत्मसाक्षात्कार लाभ करते हैं अर्थात् मैं कौन हूँ यह फिर ज्ञात होना बाकी नहीं रह जाता है।

ब्रह्मतत्त्व

विद्यातत्त्व और शिवतत्त्व के एकत्र सम्मिलन से ही ब्रह्मतत्त्व है। यथा—

मूलाधारे वसेत् शक्तिः सहस्रारे सदाशिवः।
तयोरैक्ये महेशानि ब्रह्मतत्त्वं तदुच्यते॥

—तन्त्रवचन

—मूलाधार-कमलस्थिता कुण्डलिनीशक्ति के साथ सहस्रारस्थित परमशिव का जो सम्मिलन है, उसे ब्रह्मतत्त्व कहते हैं।

प्रकृति को स्वतन्त्र रखकर केवल पुरुषपक्ष का अवलम्बनपूर्वक कभी भी ब्रह्मज्ञान सिद्ध नहीं होगा। प्रकृति और पुरुष के एकात्मभाव का नाम ब्रह्म है। यथा—

शिवः प्रधानपुरुषः शक्तिश्च परमा शिवा।
शिवशक्त्यात्मकं ब्रह्म योगिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

—श्रीमद्भगवतीगीता, ४।११

—शिव ही परम पुरुष एवं शक्ति ही परमा प्रकृति हैं ; तत्त्वदर्शी योगिगण प्रकृति और पुरुष की एकता को ब्रह्म के रूप में समझते हैं। क्योंकि—

त्वमेको द्वित्वमापन्नः शिवशक्तिप्रभेदतः।

—स्कन्दपुराण, काशीखण्ड (पूर्वार्ध), १३।१६

—वही अद्वितीय परमात्मा ही शिव और शक्तिभेद से द्वित्वभावापन्न हुए हैं।

बाह्यजगत् के मर्म-मर्म में जो महती शक्ति निहित है, उसीका नाम प्रकृति एवं उसी बाह्यजगत् में जो चैतन्यस्फूर्ति स्वप्रकाश है, उसीका नाम शिव या पुरुष है। इस चैतन्य एवं महतीशक्ति को समष्टि कर जब एकासन पर उभय एकत्र जड़ित के रूप में अनुभव होगा अर्थात् दोनों में से एक को स्वतन्त्र करने जाने पर जब दोनों ही अदृश्य होंगे ऐसा बोधगम्य होगा, तभी ब्रह्म को पहचान पायेंगे।

समाधियोग के बिना ब्रह्म का स्वरूपबोध नहीं होता है। समाधिस्थ योगी भिन्न अन्य किसी को भी ब्रह्म का स्वरूपबोध नहीं होता है एवं ब्रह्मज्ञान भी नहीं जनमता है। यथा—

आत्मानं परमं वेत्ति योगयुक्तः समाधिना।
युक्ताहारविहारश्च युक्तचेष्टश्च कर्मसु॥

—गोरक्षसंहिता, ३।३४

परिमित आहार-विहारसम्पन्न और नित्य-नैमित्तिक समस्त कर्मों में तत्पर इस प्रकार के योगिव्यक्ति ही समाधि-योगद्वारा परमात्मा को जान पाते हैं। परमात्मा अर्थात् ब्रह्म समाधिगम्य है, समाधियोग भिन्न उसकी उपलब्धि नहीं की जा सकती। प्रकृति और पुरुष का एकात्मता-भाव केवल समाधि-अवस्था में ही अनुभूत हुआ करता है। तब जाना जा सकता है कि एक ब्रह्म ही चणकवत् (चने के समान) द्विधा विभक्त होकर प्रकृति-पुरुषरूप में परिदृश्यमान हो रहा है। इन सारे तत्त्वों को सम्यक्रूप में समझने के लिए सृष्टि और स्रष्टा या जगत् और ब्रह्म के सम्बन्ध में आलोचना करनी चाहिए।

ब्रह्मविचार

भगवान् वशिष्ठदेव ने ब्रह्मविचार को मोक्षद्वार के अन्यतम द्वारपालस्वरूप में वर्णित किया है। वस्तुतः जो प्रकृत तत्त्व से अवगत होने के लिए यथार्थ यत्नशील होते हैं एवं शुभ इच्छा के साथ धीरभाव से अपने अन्तर में सर्वदा

तद्विषयक विचार करते रहते हैं, वे अचिर में ही अपना अभिलषित पदार्थ लाभ कर कृतार्थ होते हैं।

समुद्रस्येव गाम्भीर्यं धैर्यं मेरोरिव स्थिरम्।
अन्तःशीतलता चेन्दोरिवोदेति विचारिणः॥

—योगवाशिष्ठ, मुमुक्षुव्यवहार प्र०, १८।१८

—जो व्यक्ति ब्रह्मविचार करते हैं, उनके अन्तःकरण में समुद्र के समान गाम्भीर्यगुण, सुमेरु के समान स्थिरता एवं चन्द्रमा के समान शीतलता समुदित होती है।

अतएव प्रतिनियत श्रद्धा और यत्न के साथ ब्रह्मविचार करें। यह विषय-सुख के समान आशुप्रीतिजनक नहीं होने पर भी दृढ़ता के साथ अभ्यास करना कर्तव्य है। महामति व्यासदेव ने कहा है,—

स्यात् कृष्णनामचरितादिसिताप्यविद्या-
पित्तोपतप्तरसनस्य न रोचिकैव।
किन्त्वादरादनुदिनं खलु सेवयैव
स्वाद्वी पुनर्भवति तद्गदमूलहन्त्री॥

—पित्त दुष्ट होने से जिह्वा में सिता, अर्थात् चीनी भी अच्छी नहीं लगती है, तिक्त लगती है, किन्तु आदरपूर्वक औषध के समान प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा कर उसका भक्षण करने से, उसके द्वारा वह पित्तदोष निवारित होकर क्रमशः उसी में रुचि होने लगती है एवं तब उसकी सम्यक् स्वादुता अनुभूत होती है।

इसी प्रकार अविद्या अर्थात् अज्ञान या मायामोह से समाच्छन्न व्यक्ति को ब्रह्मविचार अच्छा नहीं लगता है, किन्तु तादृश मनुष्य यदि (अच्छा नहीं लगने पर भी) यत्नपूर्वक थोड़ा-थोड़ा कर उसका सेवन करे, तो वही अच्छा नहीं लगने का कारण जो अज्ञान या मायामोह है, वह विध्वस्त होकर क्रमशः उसके मन में ब्रह्मविचार की स्वादुता का अनुभव होने लगता है।

गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा।
न विचारमयं चेतो यस्यासौ मृत उच्यते॥

—योगवाशिष्ठ, उपशम प्र०, ९३।१५

—जिसका चित्त गमनकाल में, स्थितिकाल में, जाग्रत अवस्था में एवं स्वप्न अवस्था में सर्वदा ब्रह्मविचारासक्त नहीं होता है, उसी व्यक्ति को पण्डितजन मृत के रूप में अभिहित करते हैं।

जिनका मन यथार्थ चिन्तनशील नहीं है, जो सभी विषयों का अपने मन में सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार नहीं कर पाते हैं, उनके समान दुर्बल हृदय में कोई गम्भीर विषय कभी भी दीर्घ समय तक स्थायी नहीं रह पाता है। उनके विश्वास की दृढ़ता अतिसामान्य आघात से ही बिल्कुल ही नष्ट हो जाया करती है। अतः साधक के लिए चिन्तनशील होना विशेष प्रयोजनीय है। नहीं तो जिनका मन यथार्थ चिन्तनशील नहीं है, जो अपने अन्तर में गम्भीर विषयों का विचार नहीं कर पाते हैं (अथवा करते ही नहीं है), वे लोग राशि राशि पुस्तकें पठन करने पर भी प्रकृत तत्त्वज्ञान लाभ से वञ्चित रह जाते हैं।

यदि विशेषरूप से अपने अन्तर में विचार न कर केवलमात्र शास्त्रीय उपदेश या बड़े-बड़े लोगों के मत जानकर किसी सत्य को हृदय में प्रतिष्ठित किया जाय, तो परीक्षा की घड़ी में आँधी आने पर वह सत्य कभी भी हृदय में स्थान प्राप्त नहीं कर पाता है। अनेक लघुचित्त व्यक्तियों का, जिन्हें प्रतिदिन नूतन-नूतन मतों के वशीभूत होते देखा जाता है, उसका एकमात्र कारण यह है कि वे अपने अन्तर में उस गम्भीर विषय का सम्यक् चिन्तन करने में अक्षम हैं। ज्ञानगरिष्ठ ऋषिश्रेष्ठ वशिष्ठदेव ने कहा है—

अगृहीतमहापीठं विचारकुसुमद्रुमम्।
चिन्तावात्या विधुन्वन्ति नास्थिरस्थितिसुस्थितम्॥

—योगवाशिष्ठ, उपशम प्र०, ९३।१४

—जो ब्रह्मविचाररूप पुष्प के वृक्ष्य अकृतजट अर्थात् अबद्धमूल होने के कारण चञ्चल अवस्था में स्थित है, उसे चिन्तारूपी वायुसमूह अनायास ही कम्पित करता रहता है।

विचाराज्जायते बोधोऽनिच्छा यं न निवर्तयेत्।
स्वोत्पत्तिमात्रात् संसारे दहत्यखिलसत्यताम्॥

—पञ्चदशी, ९।७५

—विचार से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे एकबार दृढ़ता प्राप्त होनेपर तद्विषय में इच्छा न रहनेपर भी वह कभी भी निवारित नहीं होनेवाला है। वह ज्ञान उत्पन्न होने मात्र से ही समस्त सांसारिक अनित्यवस्तुविषयक सत्यभ्रम का विनाश कर दिया करता है।

अतएव जो परब्रह्म की साधना द्वारा मुक्तिलाभ की इच्छा करते हैं, वे किसी शास्त्र के, किसी विशेष व्यक्ति के, अथवा किसी विशेष सम्प्रदाय के मत को अभ्रान्त समझकर अन्धविश्वासी न हों। सद्‌युक्ति के साथ सभी विषयों का सर्वाङ्गरूपेण विचार करने पर जो सत्य के रूप में बोध होगा, उसे ही यत्न के साथ ग्रहण करें। यथा—

अणुभ्यश्च महद्‌भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः।
सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः॥

—श्रीमद्भागवत, ११।८।१०

—मधुकर जिस प्रकार सकल पुष्पों से सार ग्रहण करता है, उसी प्रकार धीर व्यक्ति क्षुद्र और महत् सभी शास्त्रों से सार ग्रहण करें।

यदि पुराकाल से सभी लोग विचारों का परित्याग कर अन्धविश्वास के वशीभूत होकर शास्त्रोपदेशमात्र के ही अनुगामी होते, तो ऋषिमुनियों के बीच परस्पर मतों की इतनी विभिन्नता नहीं होती। इस विषय में व्यासदेव ने कहा है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः
नासावृषिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥*

—गारुड़पुराण, पूर्वखण्ड, १०९।५१

अष्टावक्र ने कहा है—

नाना मतं महर्षीणां साधूनां योगिनां तथा।
दृष्ट्वा निर्वेदमापन्नः को न शाम्यति मानवः॥ ९।५

अतएव केवलमात्र शास्त्र का अवलम्बन कर कर्तव्य का निर्णय न करें। युक्ति का भी अवलम्बन करना चाहिए, क्योंकि युक्तिहीन विचार से धर्म नष्ट होता है।

युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि।
अन्यत्तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना॥

—योगवाशिष्ठ, मुमुक्षुव्यवहार प्र०, १८।३

—बालक यद्यपि युक्तियुक्त वाक्य कहता है, उसे भी आदरपूर्वक अवश्य ग्रहण करना उचित है ; और अयुक्तिकर वचन ब्रह्मा भी कहें, तो उसे तृण के समान त्याग देना कर्तव्य है।

किन्तु ब्रह्मविचार कर्तव्य जानकर कोई भी कुतार्किकता का अवलम्बन न करें। कारण उससे बिन्दुमात्र उपकार न होकर केवलमात्र अनिष्टसंघटन ही हुआ करता है। शास्त्रकारगण भी इस विषय में हमें सावधान कर गये हैं। यथा—

---

* यह श्लोक महाभारत, वनपर्व में निम्न प्रकार है।—अनुवादक

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नानैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥ ३२३।११७

स्वानुभूतावविश्वासे तर्कस्याप्यनवस्थितेः।
कथं वा तार्किकम्मन्यस्तत्त्वनिश्चयमाप्नुयात्॥
बुद्ध्यारोहाय तर्कश्चेदपेक्षेत तथा सति।
स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम्॥

—पञ्चदशी, ६।२९-३०

—यदि स्वीय अनुभव में विश्वास नहीं होता है, तो केवल तर्कद्वारा तार्किकगण किस प्रकार से तर्कनिरूपण कर सकेंगे ? जबकि तर्क की सीमा नहीं है ; अर्थात् एक व्यक्ति तर्कद्वारा एक प्रकार निश्चय करता है, उससे अधिक बुद्धिमान् और एक व्यक्ति उसका खण्डन कर अन्य प्रकार से निरूपण कर सकता है। अतएव साधक अपने हृदय से स्वयं विचार करेंगे एवं जो विषय स्वयं सिद्धान्त नहीं कर सकेंगे, अथवा जिनमें उन्हें सन्देह होगा, उनके मीमांसाकरणार्थ ज्ञानी व्यक्ति के साथ उस विषय की आलोचना में प्रवृत्त होंगे मात्र। वस्तुतः कुतर्क में प्रवृत्त न हों, क्योंकि कुतर्क के द्वारा तत्त्वनिश्चय तो दूर रहे, बल्कि अनिष्ट समूह संसाधित होता है। अतएव तत्त्वज्ञानलाभार्थी साधक भक्ति और श्रद्धा के साथ नियत सत् युक्ति के साथ ब्रह्मविचार करें।

परोक्षा चापरोक्षेति विद्या द्वेधा विचारजा।
तत्रापरोक्षविद्याप्तौ विचारोऽयं समाप्यते॥

—पञ्चदशी, ६।१५

—विचारद्वारा परमात्मविषयक दो प्रकार के ज्ञान उत्पन्न होते हैं, यथा—परोक्षज्ञान और अपरोक्षज्ञान ; उसमें परोक्षज्ञान होनेपर भी जितने दिन तक अपरोक्षज्ञान नहीं होगा, उतने दिन तक विचार करेंगे ; बाद में अपरोक्षज्ञान होनेपर स्वयं ही विचार की समाप्ति हो जायेगी।

विचारयन्नामरणं नैवात्मानं लभेत चेत्।
जन्मान्तरे लभेतैव प्रतिबन्धक्षये सति॥

—पञ्चदशी, ९।३३

—यदि मृत्यु तक विचार करके भी आत्मलाभ नहीं होता है, तथापि वह निरर्थक नहीं होता है। कारण इस जीवन काल में नहीं होनेपर भी, दूसरे जन्म में वह सम्पन्न होता है।

प्रकृत भक्तियोग से जो लोग तत्त्वज्ञान लाभ करते हैं, स्वाभाविक नियमानुसार उनके हृदय में यथासमय ब्रह्मविचार आकर उपस्थित हो जाता है।

ब्रह्मवाद

पहले ब्रह्म क्या है, यही अवधारण करना होगा।

यतो विश्वं समुद्भूतं येन जातञ्च तिष्ठति।
यस्मिन् सर्वाणि लीयन्ते ज्ञेयं तद्ब्रह्म लक्षणैः॥

—महानिर्वाणतन्त्र, ३।८

—जिससे विश्व उत्पन्न हुआ है, जिसका अवलम्बन कर यह अवस्थिति कर रहा है एवं सृष्टि की अव्यक्त अवस्था में ये समस्त ही जिसमें लीन हुए रहते हैं, उसे ही ब्रह्म समझो।

इस अपरिच्छिन्न ब्रह्म का स्वरूपतः देशकालादि से परिच्छेद नहीं है। वही पूर्णपुरुष पूर्णरूप से सर्वदा विराजित है।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥

—कठोपनिषद्, २।३।१२

—इस परमात्मस्वरूप परब्रह्म को वाक्यद्वारा, मनद्वारा अथवा चक्षु प्रभृति इन्द्रियों द्वारा प्राप्त नहीं किया जाता। केवल जगत् के मूल अस्तिस्वरूप में उसे जाना जाता है मात्र। अतएव अस्तिस्वरूप में उसे जो व्यक्ति देख नहीं पाता है, उसका ज्ञानगोचर वह किस प्रकार होगा ?

यहूदियों के धर्मशास्त्र पुरातन बाइबल में इस विषय पर एक सुन्दर युक्ति है। यथा—

And God said unto Moses, I AM THAT I AM ; and He said, Thus shalt thou say unto the children of Israel I AM hath sent me unto you.

—*EXODUS III. 14*

एक समय राजर्षि जनक ने उपवन में भ्रमण करते-करते सुना था— तमालवन में अदृश्य सिद्धगण इस प्रकार की गाथा गा रहे हैं—

अशिरस्कं हकारान्तमशेषाकारसंस्थितम्।
अजस्रमुच्चरन्तं स्वं तमात्मानमुपास्महे॥

—योगवाशिष्ठ, उपशम प्र०, ८।१३

—अकार है मस्तक की तरह आदि और हकार है अन्त में जिसका, अर्थात् अहं शब्द के लक्ष्यभूत और जो अनन्त आकार में प्रत्येक वस्तु में समभाव से अवस्थित है, जो "मैं हूँ" यह शब्द अजस्र बार उच्चारण कर रहा है, हम उसी अहं-उपाधिक निर्गुण परमात्मा की उपासना करते हैं।

जिन्हें सुनने की शक्ति है, वास्तव में ही उन्हें परमेश्वर प्रत्येक स्थान से अविरत उच्चैःस्वर में कह रहे हैं कि "मैं हूँ" "मैं हूँ"। वे और भी सुन रहे हैं कि वृक्षलताएँ निःशब्द से उन्हीं की बात कह रहे हैं, चन्द्रसूर्यादि ग्रहगण घोररव में महागगन में उन्हीं के अस्तित्व के प्रचार में घूम रहे हैं, गर्भस्थ शिशु भी हाथों जोड़कर समस्त जगद्वासियों को उस परमेश्वर की महान् सत्ता में विश्वास करने के लिए अनुरोध कर रहा है। अतएव उन समस्त ज्ञानाभिमानी अज्ञानान्ध जीवों की विद्या, बुद्धि और बाह्य सभ्यता को धिक्कार है, जिनके अपवित्र कर्ण इस प्रकार के पवित्रतम गम्भीर शब्दों का श्रवण करने से वञ्चित रहते हैं।

हिन्दुधर्म जो वेदान्तमूलक है, उस वेदान्तमत से ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—कुछ हो ही नहीं सकता। वह अनादि और अनन्त है। यह ब्रह्म ही यदि एकमात्र अद्वितीय नित्यवस्तु हो, तो उसका स्वरूप क्या है ? वह एकमात्र सत्तास्वरूप है, इसी कारण वैदिक ऋषि उद्दालक ने उसे सत्स्वरूप कहा है। इस जगत् में उस सत्ता के चैतन्यरूप का परिचय सर्वत्र ही है। अतएव वह सत्ता चैतन्यस्वरूप है। तभी ऋग्वेद में वह चित्रूप में उक्त हुआ है। जो चित्स्वरूप है, वह अवश्य आनन्दमय है। सुख के अभाव में ही दुःख है। सुख का अनन्त रूप ही नित्यानन्द है। इस जगत् में जो सुख का परिचय है, वह सुख अपरिच्छिन्नरूप में अनन्त होने से ही नित्यानन्दमय होता है। तभी परम-ऋषि सनत्कुमार ने ब्रह्म को आनन्दस्वरूप कहकर स्थिर किया है। अतएव ब्रह्म का स्वरूप "**सच्चिदानन्द**" है।

ब्रह्म यदि एकमात्र नित्यवस्तु हो, तो हम जो परिवर्तनशील जगत् देख रहे हैं, यह जगत् क्या है ?—यह समस्त उसी का रूप है।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्।

—छान्दोग्योपनिषद्, ३।१४।१

यह समस्त जगत् ही ब्रह्म है, क्योंकि—तज्ज—उसी से जन्मता है, तल्ल—उसी में लीन होता है, एवं तदन्—उसी में स्थिति करता या चेष्टित होता है। अतः इस परिवर्तनशील जगत् के साथ अनन्त ब्रह्मसत्ता का सामञ्जस्य यह है कि जगत् यदि ब्रह्म में लीन होता है, तो वह उसकी जगत् की लीनावस्था है। यह लीनावस्था ही निर्गुण बीजावस्था है। जिस प्रकार बीज वृक्ष में लीन रहता है, उसी प्रकार यह जगत् एक समय ब्रह्मरूप अनन्त बीजसत्ता में लीन रहता है।

यदि ऐसा ही है, तो ब्रह्म की वह बीजावस्था अवश्य जगत्-रूप व्यक्त और बिराट् अवस्था से स्वतन्त्र है, वह स्वराट् अव्यक्त अवस्था है, और यह जगत् उसकी उस बीजावस्था का व्यक्त रूप है। यह व्यक्त रूप ही चेष्टित

अवस्था है, फलतः अव्यक्त अवस्था निश्चेष्ट है। चेष्टा—सत्त्व, रजः और तमोगुण से युक्त है। अतः निश्चेष्ट अवस्था में यह त्रिविध चेष्टा यदि लीन रहती है, तब उस अव्यक्त और बीजावस्था में निश्चेष्ट-भाववशतः वह निर्गुण है। अतएव जब वेदान्त ने कहा है, ब्रह्म निर्गुण है, तब समझना होगा, कि उस निर्गुण शब्द का अर्थ निष्क्रिय एवं सगुण शब्द का अर्थ सचेष्ट या सक्रिय है। अतः निर्गुण ब्रह्म कहने से ऐसा नहीं समझाता है कि उसमें गुण का बिल्कुल ही अभाव है ; उसमें उस त्रिगुण का बिल्कुल ही अभाव नहीं है, गुण उसमें **अन्तर्लीन मात्र** है।

अतएव वेदान्त ने जैसा कि कहा है, यह जगत् एक समय ब्रह्म में लीन होता है, वैसे ही फिर कहा है, यह जगत् उसीसे उत्पन्न होकर उसी में अवस्थित रहता है ; इस उत्पन्न शब्द का अर्थ ऐसा नहीं है कि पहले जो वस्तु नहीं थी, वह वस्तु सहसा उद्भूत हुई ; इसका अर्थ यह है कि वह अनन्त ब्रह्म अपनी बीजावस्था से व्यक्तावस्था में आया। पहले वह अनन्त निर्गुणसत्ता एक अनन्तगुणमात्रव्यञ्जक सगुण सत्तारूप में दिखाई देती है। उसी का नाम महत्तत्त्व है। यह महत्तत्त्व क्रमशः विश्वविकाशिनी या सृष्टिकारिणी सूक्ष्म शक्तिसमूह में विवृद्ध होता है। अतः निर्गुण ब्रह्मसत्ता की सात्त्विक क्रियाशीलता का नाम ही सगुण महत्तत्त्व है। यह शुद्धसत्त्व सगुण महत्तत्त्व ही ईश्वर नाम से अभिहित होता है। किन्तु यह सगुण होकर भी गुणातीत है ; क्योंकि गुणों के द्वारा यह क्रियाशील नहीं होता है ; गुण उसमें रहकर स्व स्व कार्य कर रहे हैं मात्र। निर्गुण ब्रह्म से सगुण ईश्वर—जिस प्रकार एक अग्नि से अग्न्यन्तर। दीपशलाका में जिस प्रकार अव्यक्त आलोक निहित रहता है, उसे जलाते ही वह जिस प्रकार आलोक पैदा करता है, उसी प्रकार ब्रह्म अव्यक्त एवं ईश्वर व्यक्त हैं। किन्तु दीपशलाकास्थ अव्यक्त आलोक स्वयं ही व्यक्त आलोकरूप में प्रकट होता है, अर्थात् वह जलकर आलोक होता है ; ब्रह्म नित्यवस्तु है, वह रहता है, उससे ईश्वर होते हैं।

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥

—मनुसंहिता, १।५

—विश्वसृष्टि के पूर्व ब्रह्म की जो अवस्था थी, वह अप्रज्ञात, अप्रतर्क्य, अलक्षण (जो लक्षणों से निरूपित न हो) एवं वाक्य-मन से अतीत है।

सृष्टि के अतीत उस अवस्था को निर्गुण कहा जाता है। इस निर्गुण निराकार वाक्य मन के अतीत उस ब्रह्म ने जब सिसृक्षु अर्थात् सृष्टि के लिए इच्छा की, तभी उसने विकारवान् और सगुण हुआ। क्योंकि, इच्छा होने से गुण हुआ एवं जिस अवस्था में था, उसकी विकृति हुई। यह जो अवस्था है, यही ईश्वर है।—अर्थात् सृष्टि का अतीत होकर जो निर्गुण और निराकारभाव से अवस्थित था, सृष्टिकरणेच्छा से युक्त होने से वही सगुण साकार हो गया। तथापि वह नित्य है, यही अवस्था भावज्ञेय है। फिर निर्गुण ही सगुण हुआ—यह भी भावज्ञेय है।

योऽसावतीन्द्रियोऽग्राह्यः* सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ॥

—मनुसंहिता, १।७

—जो पहले सूक्ष्म अतीन्द्रिय रहकर अव्यक्त और अचिन्त्यभाव में अवस्थित था, वही व्यक्तीकृत होकर स्वयं प्रकाशित हुआ।

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः।

—बृहदारण्यकोपनिषद्, १।४।१

—यह आत्मा ही पहले था, यह पुरुषविध अर्थात् पुरुष के समान शिरःपाण्यादि अवयवविशिष्ट होकर उत्पन्न हुआ।

तो क्या ईश्वर हमारे समान अवयवविशिष्ट हैं? शास्त्र कहते हैं—

* 'योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः' इति पाठान्तरम्।—अनुवादक

कर्तृत्वसिद्धौ परमेश्वरस्य, शरीरसिद्धिः स्वत एव जाता।
घटस्य कर्ता खलु कुम्भकारः, कर्ता शरीरी न च नाशरीरी॥

—शतदूषणी

जब सृष्टिकार्य में कर्ता पुरुष को माना जाता है, तब उन्हें शरीरसिद्धि सहज ही उपलब्ध होती है। उन्हें सगुण मान लेने से गुणों का आश्रय न मानें तो चलेगा कैसे ? लिङ्गशरीर, स्थूलशरीर या कारणशरीर कह सकते हैं। आश्रय-स्थान को ही शरीर कहते हैं।

पूर्वावस्थोत्तरावस्थायाः कारणमभ्युपगमात्।

—शाङ्करभाष्य

पूर्वावस्था जैसी होती है, उत्तरावस्था भी वैसी ही हुआ करती है। नामरूपमय जगत् जिससे प्रसूत हुआ है, उसका नाम-रूप नहीं होने से—रूपमय जगत् किस प्रकार रूप धारण कर सकता था ? ब्रह्म सगुण होकर पहले सत्त्व, रजः तमः इन तीन गुणों से तीन विग्रहरूपों में दिखाई पड़ा था। यथा—

एकं ब्रह्म त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।

एक ब्रह्म ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर यह त्रिमूर्ति धारण किया था। केवलमात्र जो इस त्रिमूर्ति को ही उसने धारणा किया, ऐसी बात नहीं।

सोऽकामयत (अहं) बहु स्यां प्रजायेयेति।

—तैत्तिरीयोपनिषद्, २।६।१

—उसने कामना की, "मैं बहु प्रजा होऊँगा।" इसीसे ही उसने बहुविग्रह धारण किये।

सर्वान् पापान् औषत्।

—बृहदारण्यकोपनिषद्, १।४।१

भयारतिसंयोगश्रवणाच्च।

—बृ० शाङ्करभाष्य, १।४।६

—शरीरधारी के समान काम-क्रोध-भय सभी को ग्रहण किया। किन्तु केवल सृष्टि के रक्षार्थ, पालनार्थ और संहारार्थ।

एकस्वरूपभेदश्च बाह्यकर्मप्रवृत्तिजः।
देवादिभेदेऽपध्वस्ते नास्त्येवावरणे हि सः॥

—विष्णुपुराण, २।१४।३३

—उस एक ही देव ने बाह्यकार्य सम्पादन करने के लिए भिन्न-भिन्न रूपों में देवादि आवरणों से आवृत हुआ एवं देवता होकर उसने देवान्तर भाव को ग्रहण किया। तदनन्तर साधकभावापन्न जीव को जिससे सर्वसिद्धि लाभ हो सके, जिससे सृष्ट जीव का जन्म साफल्यलाभ हो सके, सो किया। उसके लिए "**ब्रह्मणो रूपकल्पना**"। ब्रह्म ने स्वयं को बहुविधरूपों में कल्पित किया।*

अग्निर्यथैको भुवनम्प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

—कठोपनिषद्, २।२।९

—अग्नि जिस प्रकार भुवन में प्रविष्ट होकर नाना रूप ग्रहण की है, उसी प्रकार वह एक और सर्वभूतात्मा बहिर्भाव से नाना रूप ग्रहण किया है।

अतएव इच्छामय ने इच्छाकृत सृष्टि और सृष्ट पदार्थों के लिए निर्गुण होकर भी सगुण एवं निराकार होकर भी साकार हुआ है। वस्तुतः यह महत्तत्त्व ही ईश्वरचैतन्य की उपाधि है ; यह उपाधि निर्मल ज्ञानमय सत्ता है। यह निर्मल महत्तत्त्व कभी-कभी मन या बुद्धि नाम से भी अभिहित होता है। जिस प्रकार ब्रह्म महत्तत्त्व ईश्वरचैतन्यरूप में विवर्तित होता है, उसी प्रकार उसी महत्तत्त्व

---

* कृदन्त कल्पना शब्द के योग से कर्ताकारक की षष्ठी विभक्ति से 'ब्रह्मणः' ऐसा शब्द हुआ। अतएव ब्रह्म की रूपकल्पना इस प्रकार न होकर, ब्रह्म ने स्वयं को अनेक रूपों में कल्पना की है, ऐसा समझना होगा।

से जब फिर विश्वशक्ति का परिणाम घटित होता है, वही ईश्वरचैतन्य फिर उन समस्त शक्तियों के चैतन्य या आत्मारूप में दिखाई देता है।

इसी महत्तत्त्व से ब्रह्माण्ड का विकास होता है। यह ब्रह्माण्ड ही विश्व का शक्तिमय अखण्डस्वरूप है। इस ब्रह्माण्ड में ही अविशेष महत्तत्त्व से विशेष विशेष जातीय बीजोत्पत्ति है। यह विशेष जातीय बीजसत्ता ही वैशेषिक का विशेष पदार्थ है, परमाणुवादी का विशेष-विशेष परमाणु-जगत् है, वेदान्ती का हिरण्यगर्भ है, पौराणिक का ब्रह्मा है, जातिवादी जातिसमष्टिसम्पन्न ब्रह्मा की काया है। इस ब्रह्माण्ड से लेकर जीव तक नैयायिकों के आरम्भवादान्तर्भुक्त हैं। ईश्वरचैतन्य इसी शक्तिसमूह की आत्मारूप में अवस्थित होने से उसे कूटस्थचैतन्य कहते हैं। इस ब्रह्माण्ड से जब विराट् विश्व प्रसूत होता है, तब इस कूटस्थचैतन्य चेतन-अचेतन जीव के सूक्ष्म और स्थूल शरीर के आत्मरूप में दिखाई देता है। प्रत्येक जीव के अन्तर-अन्तर में कूटस्थचैतन्य आत्मारूप में अवस्थिति करता है। ब्रह्माण्ड की शक्तिमय सत्ता की विकासावस्था ही यह अनन्त चेतनाचेतन जीवपूर्ण जगत् है। जो शक्ति का आत्मस्वरूप था, इस विराट् विश्व के विकसित होने पर, वह कूटस्थचैतन्य प्रत्येक चेतन जीव के आत्मरूप में एवं अचेतन जीव के भी आत्मरूप में अवस्थित रहता है। जो इस जीव-चैतन्य की उपाधि है, वही जीव नाम से अभिहित है।

वैदिक सृष्टिकाण्ड से हम यही जान सकते हैं, कि प्रथमतः सच्चिदानन्दविग्रह सर्वशक्ति निर्गुण परमब्रह्म ही उल्लेखयोग्य है। वह सर्वशक्तिपूर्ण है ; अतः उसमें ज्ञानशक्ति और अज्ञानशक्ति दोनों पदार्थ एवं सद्भाव और असद्भाव दोनों ही हैं। लीला करने की इच्छा भी है, अनिच्छा भी है। एक है और एक नहीं, परिपूर्ण ब्रह्म में यह बात नहीं हो सकती, अतः उसकी जो अज्ञानशक्ति है, वह उसका विकास करता है ; यह अनुपपन्न बात नहीं है। उसे अज्ञानशक्ति नहीं है या वह अज्ञानशक्ति का विकास नहीं कर सकता है, यह कहने से

उसे अपूर्ण कहना होगा। अतएव लीलामय लीला के लिए ही असद्भावमय अज्ञानशक्ति का विकास करता है। परब्रह्म अनादि और अनन्त है ; अतः अज्ञानशक्ति उसमें सर्वांश व्याप्त कर आविर्भूत नहीं होती है, कियदंश व्याप्त कर ही आविर्भूत होती है। श्रुति ने यही बात कही है,—

पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतन्दिवि।

—छान्दोग्योपनिषद्, ३।१२।६

—यह समस्त भूत उसका एकपाद है, अवशिष्ट त्रिपाद अमृत हैं, नित्यमुक्त और स्वर्ग में अवस्थित हैं।

भगवान् वासुदेव ने अर्जुन के निकट—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, १०।४१-४२

—यही कहकर उक्त श्रुतिवाक्य का समर्थन किया है। अतएव सृष्टिकाल में उसका समस्त ब्रह्मसत्तांश व्याप्त कर अज्ञानशक्ति आविर्भूत नहीं होती, उसके अमृत त्रिपाद सुरक्षित रहते हैं। केवल जो सदा सगुण हो रहा है, वही अंशमात्र सगुणभाव को प्राप्त होता है। वह सगुणभावप्राप्त अंश ही या सगुणब्रह्म ही परमेश्वरपदवाच्य है।

वह आकाशादि पञ्च सूक्ष्मभूतों की सृष्टि करता है एवं उन सूक्ष्मभूत-पञ्चकों के प्रत्येक के सात्त्विकांश से श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रिय-इन्द्रियपञ्चकों और समस्त सात्त्विकांशों को मिलाकर अहङ्कार, चित्त, मन और बुद्धि या अन्तःकरण की सृष्टि करता है ; और उन भूतों के प्रत्येक के राजसांश द्वारा वागादि कर्मेन्द्रियपञ्चकों तथा समस्त राजसांश को मिलाकर प्राण-अपानादि पञ्चवृत्तिक प्राणों की सृष्टि करता है।

उन्हीं ज्ञानेन्द्रियपञ्चकों, कर्मेन्द्रियपञ्चकों, प्राणपञ्चकों और साहङ्कार अन्तःकरण, ये सब सूक्ष्म भूतपञ्चकों के आश्रय में रहते हैं। उससे यही होता है कि, ये सप्तदश पदार्थ मिलकर देह के समान अर्थात् सूक्ष्मभावापन्न देह प्रस्तुत होती है। इस देह में परमेश्वर की हिरण्मय ज्योति प्रतिबिम्बित होती है, कारण वह देह अतीव स्वच्छ है। उससे वह देह चेतयमान होती है एवं हिरण्यगर्भ नाम को प्राप्त होती है। हिरण्यगर्भ का व्यावहारिक नाम साधारणतः ईश्वर या नारायण है। इसका अंश ही मुक्तजीव या व्यष्टि में यह तैजस नाम को प्राप्त करता है।

फिर यही स्थूल शरीर में प्रविष्ट होकर विराट् मूर्ति या गीतोक्त विश्वरूप नाम को प्राप्त करता है। विराट् का अंश ही विश्व या व्यष्टि में स्थूलदेहाभिमानी बद्धजीव है। यह विराट् प्रजापति या चतुर्मुख ब्रह्मा ही हमारे सृष्टिकर्ता हैं। यह कहना ही काफी है कि सूक्ष्म के सृष्टिकर्ता परमेश्वर एवं स्थूल के सृष्टिकर्ता विराट् पुरुष या पितामह ब्रह्मा हैं।

चैतन्य तब चतुर्विध है—ब्रह्मचैतन्य, ईश्वरचैतन्य, कूटस्थचैतन्य और जीवचैतन्य। चैतन्य इन चतुर्विध आकारों में ही अनन्त है। वह अनन्त रूपों में इस विश्व में अवस्थिति कर रहा है। विश्व तो खण्डित जीवपूर्ण है, तो फिर ब्रह्मचैतन्य अनन्तरूप में है किस प्रकार ? विश्व वह खण्डित जीवपूर्ण होकर भी अनन्त है, इसलिए अनन्त ब्रह्म ही विश्वव्यापी हुआ है। केवल स्थूलदर्शी के निकट विश्व का खण्डित रूप है। किन्तु ब्रह्मवित् तत्त्वदर्शी के निकट इस विश्व का जीवरूप समस्त खण्डिताकार धारण करके भी वह ब्रह्म के सिवा अन्य रूप में प्रतीत नहीं होता। वे कहते हैं, ब्रह्म में सभी हैं एवं ब्रह्म सबमें हैं ; वह सबका सबकुछ है और सबकुछ का सब है। सर्वत्रव्यापी चैतन्यरूप परमेश्वर सर्वभूतों में वर्तमान रहा है एवं उसी के प्रकाण्ड उदर में अर्थात् इस महा-चिद्गगन में असंख्य ब्रह्माण्डों की अवस्थिति है।—

तत्र ब्रह्माण्डलक्षाणि सन्त्यसंख्यानि भूरिशः।
तान्यन्योन्यमदृष्टानि फलानीव महावने॥

—योगवाशिष्ठ, उत्पत्ति प्र०, ५३।१४

—महावन में जिस प्रकार असंख्य फल हैं, गिनकर उनकी संख्या मालूम करना सम्भव नहीं है, उसके समान इस महा-चिद्‌गगन में असंख्य ब्रह्माण्ड हैं, किन्तु ये सारे ब्रह्माण्ड एक दूसरे के दृष्टिगोचर नहीं होते।

तथा विस्तीर्णसंसारः परमेश्वरतां गतः।

—योगवाशिष्ठसार, १०।१६

—यह जो परिदृश्यमान जगत् देख रहे हो, वही अखण्डित ब्रह्म का रूप है। यह समस्त विश्व उस विराट् पुरुष का अवयव मात्र है।

चैतन्यात् सर्वमुत्पन्नं जगदेतच्चराचरम्।
अस्ति चेत् कल्पनेयं स्यान्नास्ति चेदस्ति चिन्मयः॥

—शिवसंहिता, १।८२

—यदि जगत् के वास्तविक अस्तित्व को स्वीकार किया जाय, तो विवेचना करनी होगी कि एकमात्र चित्स्वरूप ब्रह्म से यह चराचर जगत् उत्पन्न हुआ है ; परन्तु यदि जगत् का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाय, तो वे ही एकमात्र चिन्मय ब्रह्म ही हैं, अपर कुछ भी नहीं, यही प्रतिपन्न होता है।

अब विवेचना करनी होगी कि वास्तव में जगत् का कोई अस्तित्व है या नहीं ? इस सम्बन्ध में वेदान्त कहता है,—

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः॥

—माण्डूक्यकारिका, वैतथ्य प्र०, ३१

स्वप्नावस्था में जिस प्रकार असत्य वस्तु सत्य के समान बोध होता है, एवं मैं स्वप्न देख रहा हूँ, इस प्रकार कभी भी बोध नहीं होता, उसी प्रकार

माया के बल से यह असत्य जगत् सत्य के समान बोध होता है एवं मैं तो माया-विमोहित होकर इस प्रकार देख रहा हूँ, यह कभी भी बोध नहीं होता। स्वप्नकाल में जिस प्रकार सुन्दर प्रासादसन्निवेश और अतिशय सुशृङ्खलासम्पन्न असत्य गन्धर्वनगर सत्यरूप में दृष्ट होता है एवं निद्रा भङ्ग होनेपर वह अलीकवशतः तिरोहित हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञानावस्था में यह जगत् सत्यवत् प्रतीत होता है एवं ज्ञानोदय होने पर इस जगत् का अस्तित्व विनाशप्राप्त होता है। इसीलिए वेदान्तविचक्षण व्यक्तिगण इस जगत् को स्वप्न के समान अनित्य, मिथ्या, भ्रमात्मक और अलीक जैसा समझते हैं। फिर वेदान्तशास्त्र में है कि—

पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।

—मुण्डकोपनिषद्, २।१।१

—जिस प्रकार अग्निस्फुलिङ्ग-सकल अग्नि के ही स्वरूप हैं, उसी प्रकार सहस्र-सहस्र प्रकार जीवसंयुक्त यह अपरिसीम जगत् उसी का स्वरूप है।

कोई कह सकते हैं, तब इस जगत् को किस प्रकार से अलीक और भ्रमात्मक कहा जा सकता है? इसकी मीमांसा यह है कि—

मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदिताऽन्यथा।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन॥

—माण्डूक्यकारिका, अद्वैत प्र०, १५

—मृत्तिका, लौह, विस्फुलिङ्गादि दृष्टान्तद्वारा जो सृष्टि-प्रकार श्रुति में उक्त हुए हैं, वे सब जगत्, जीव और आत्मा के एकत्व प्रतिपादनार्थ हैं—किसी द्वैतवाद के प्रतिपादनार्थ नहीं।

जिस प्रकार एक अपरिच्छिन्न आकाश में घटाकाश, पटाकाश और महाकाश इत्यादि नानारूपों में द्वैतकल्पना की जाती है, किन्तु वास्तविक आकाश एक ही अद्वैत मात्र है, यह जगत्, जीव और परमात्मा का भेद भी वैसा ही जानो। अतएव,—

इदं सर्वं परमात्मेति श्रुतेः।

—श्रुतिप्रमाणों से जाना जाता है, कि परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है ; यह जगत् समस्त ही ब्रह्ममय है।

नात्मभावेन नानेदं न स्वेनापि कथञ्चन।
न पृथङ् नापृथक्किञ्चिदिति तत्त्वविदो विदुः॥

—माण्डूक्यकारिका, वैतथ्य प्र०, ३४

—तत्त्ववित् पण्डितगण कहा करते हैं, कि आत्मा आत्मरूप है, नाना प्रकार का नहीं है, किन्तु नाना वस्तुओं के अन्तवर्तीरूप में विद्यमान है। जिस प्रकार रज्जु अपने आकार में अवस्थित रहकर भी सर्वप्रकार से सर्परूप में कल्पित होती है, आत्मा भी उसी प्रकार अपने रूप में अवस्थानपूर्वक अनन्त प्रकार से कल्पित हुआ करता है। इसलिए आत्मा से कल्पित पदार्थ किसी भी प्रकार भिन्न वस्तु नहीं है।

अभेदप्रत्ययो यस्तु जगतां परमात्मना।
सैव तत्त्वमतिर्ज्ञेया देवानामपि दुर्लभा॥

—वेदान्त

—परमात्मा के साथ जगत् का अभेदज्ञान अर्थात् घट-पटादि यावद्वस्तु में परमात्मज्ञान ही तत्त्वज्ञान है। यह ज्ञान देवताओं को भी दुष्प्राप्य है। अतएव—

तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्त्वं दृष्ट्वा तु बाह्यतः।
तत्त्वीभूतस्तदारामस्तत्त्वादप्रच्युतो भवेत्॥

—माण्डूक्यकारिका, वैतथ्य प्र०, ३८

पृथिव्यादि बाह्य तत्त्व और मनोबुद्धि प्रभृति आध्यात्मिक तत्त्व परिज्ञात होकर आत्मपरायण होंगे। समाहितचित्त से "सोऽहं" अर्थात् मैं ही वह ब्रह्म हूँ एवं "ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है" सर्वदा इस प्रकार से

अद्वैत ध्यानपरायण होकर रहो। पृथिव्यादि बाह्य पदार्थसमूह रज्जु में सर्पभ्रम के समान उस परमात्मा में रहने के कारण भ्रम हो रहा है मात्र। अनन्यचित्त से तत्त्व की पर्यालोचना करने से ही उस अद्वैत आत्मा के दर्शन का लाभ हुआ करता है एवं तभी आत्मज्ञान परिपक्व होता है।

प्रकृति और पुरुष

अनादि, अनन्त, अद्वितीय परमात्मा ने ही प्रकृति और पुरुषभेद से द्वित्वभावापन्न हुआ है। ब्रह्म स्वयं स्वप्रकाश होकर भी वह एक एवं अद्वितीयहेतु ब्रह्मानन्दरस उपभोग के लिए और अन्य कोई नहीं होने के कारण उसने अनेक होने की इच्छा की। यथा—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। ६।२।१
इत्युपक्रम्य, तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति॥ ६।२।३
—छान्दोग्योपनिषद्

आरुणि ने कहा, हे श्वेतकेतो ! सृष्टि के पूर्व यह जगत् केवल सत् मात्र था, वह एक एवं अद्वितीय था, उस एक एवं अद्वितीय ने आलोचना की, मैं प्रजारूप में अनेक होऊँगा।

ब्रह्म ने अनेक होऊँगा ऐसी आलोचना की अवश्य, किन्तु कैसी प्रणाली का अवलम्बन कर अनेक हुआ ?—

सत्यलोके निराकारा महाज्योतिःस्वरूपिणी।
माययाच्छादितात्मानं चणकाकाररूपिणी॥ १४*
मायावल्कलं सन्त्यज्य द्विधा भिन्ना यदोन्मुखी॥ १५
शिवशक्तिविभागेन जायते सृष्टिकल्पना॥ १६
—निर्वाणतन्त्र, १म पटल

* तन्त्र में परब्रह्म को मातृरूप में कल्पित किया गया है।—अनुवादक

—सत्यलोक में आकाररहित महाज्योतिःस्वरूप परब्रह्म अपनी मायाद्वारा स्वयं आवृत होकर चणकतुल्य स्वभाव में विराजित है। चणक अर्थात् चने में जिस प्रकार एक आवरण (छिलका) में अङ्कुरसह दो दलें (दाल) एकत्र एक आवरण में आबद्ध रहते हैं, प्रकृति पुरुष भी उसी प्रकार ब्रह्मचैतन्य के साथ मायारूपी आच्छादन में आवृत रहते हैं। उसी मायारूपी वल्कल (छिलका) का भेदन कर शिव-शक्तिरूप में प्रकाशित होने से, यह सृष्टिविन्यास हुआ है।

प्रकृति-पुरुष को "ब्रह्मचैतन्य के साथ" कहने का प्रयोजन यह है कि, प्रकृति-पुरुषात्मक जीवदेह ब्रह्मचैतन्यद्वारा चेतनावान् होती है, ब्रह्मचैतन्य परित्यक्त होने से जीवशरीर में केवल जड़मात्र अवशिष्ट रहता है।

"मैं अनेक होऊँगा" ब्रह्म की ऐसी वासना सञ्जात होने से, इसने प्रकट-चैतन्य या पुरुष बना और वही वासना मूलातीता मूल प्रकृति बनी।

योगेनात्मा सृष्टिविधौ द्विधारूपो बभूव सः।
पुमांश्च दक्षिणार्धाङ्गो वामाङ्गः प्रकृतिः स्मृतः॥
सा च ब्रह्मस्वरूपा च माया नित्या सनातनी।
यथात्मा च तथा शक्तिर्यथाग्नौ दाहिका स्मृता॥

—ब्रह्मवैवर्तपुराण, प्रकृतिखण्ड, १।९-१०

—परमात्मस्वरूप भगवान् ने सृष्टिकार्य के लिए योगावलम्बन कर स्वयं को दो भागों में विभक्त किया। इन दो भागों में से दक्षिण अर्धाङ्ग पुरुष और वामार्धाङ्ग प्रकृति है। वह प्रकृति ब्रह्मरूपिणी, मायामयी, नित्या और सनातनी है। जिस प्रकार अग्नि के साथ ही उसकी दाहिकाशक्ति रहती है, उसी प्रकार जहाँ आत्मा वहाँ शक्ति एवं जहाँ पुरुष वहीं प्रकृति विराज करती है।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ४।१०

—परमात्मा की माया को ही प्रकृति कहते हैं। वह परमात्मा जब मायाविशिष्ट होता है, तभी उसे मायी कहते हैं। उस मायाविशिष्ट परमात्मा के अवयवस्वरूप समस्त वस्तुओं द्वारा यह जगत् परिव्याप्त हुआ है।

प्रकृतिं पुरुषं चैवं विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥
—श्रीमद्भगवद्गीता, १३।२०

—पुरुष और प्रकृति उभय ही अनादि हैं। देह और इन्द्रियादि विकार एवं सुख-दुःख-मोह आदि सारे गुण प्रकृति से समुत्पन्न हुए हैं।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥
—श्रीमद्भगवद्गीता, ९।८

—अपनी प्रकृति को आश्रय कर मैं प्रकृति के वश में विवश ये समस्त भूतग्राम सृजन किया करता हूँ।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥
—श्रीमद्भगवद्गीता, १३।२१

—कार्य और करण अर्थात् शरीर और इन्द्रिय प्रभृतियों के कर्तृत्वविषयों में प्रकृति ही कारण एवं सुख और दुःख भोगविषयों में पुरुष ही कारणरूप में निरूपित हुआ है।

कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः।
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम्॥
—श्रीमद्भागवत, ३।२६।८

—कार्य और कारण अर्थात् देह और इन्द्रियसकल के प्रति प्रकृति ही कारण है ; और सुखदुःख-भोगविषयों में प्रकृति से भिन्न जो पुरुष है, वही कारण है।

प्रकृति और पुरुष ये उभयात्मक ब्रह्म जगत्‌रूप में विराजित है, तभी शास्त्र में "**हरगौर्यात्मकं जगत्**" यह उक्त है। अतः प्रकृति और पुरुष के योग से समस्त विश्व की सृष्टि होने के कारण उस एकमात्र परमात्मा में द्वैतारोप किया गया है ; किन्तु यह द्वैताभ्यास मिथ्या है। कारण—

शक्तिशक्तिमतोश्चापि न विभेदः कथञ्चन।

—शक्तिमान् से शक्ति कभी भी भिन्न नहीं हो सकती। यथा—

यथा शिवस्तथा देवी यथा देवी तथा शिवः।
नानयोरन्तरं विद्याच्चन्द्रचन्द्रिकयोर्यथा॥

—वायुपुराण

—चन्द्र से चन्द्र की ज्योत्स्ना जिस प्रकार पृथक् सत्ता नहीं है, शिव एवं शक्ति की भी उसी प्रकार पृथक् सत्ता नहीं है। इसीलिए जहाँ शिव हैं, वहीं शक्ति एवं जहाँ शक्ति है, वहीं शिव समझो।

योगिवर गोरक्षनाथ कहते हैं—

कटुत्वं चैव शीतत्वं मृदुत्वञ्च यथा जले।
प्रकृतिः पुरुषस्तद्वदभिन्नं प्रतिभाति मे॥

—गोरक्षसंहिता, ५।११५

—जिस प्रकार कटुत्व, शैत्य और मृदुत्व जल से भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार आत्मा और प्रकृति मेरे निकट अभिन्न के रूप में बोध हो रहे हैं।

जल और कटुत्वादि जल से भिन्न होकर भी जिस प्रकार अभिन्न हैं, आत्मा और प्रकृति उसी प्रकार भिन्न होकर भी अभिन्न हैं। फिर भी सांख्य कहता है—

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवत् उभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥

—सांख्यकारिका, २१

प्रकृति अचेतन है, फलतः अन्धस्थानीय है ; पुरुष अकर्ता है, फलतः पङ्गुस्थानीय है। उभय ही संयुक्त होकर एक अन्य का अभाव को पूर्ण करते हैं। जिस प्रकार अन्धा देख नहीं सकता एवं पङ्गु चल नहीं सकता, किन्तु अन्धे के कन्धे पर पङ्गु के सवार हो जाने से पङ्गु पथ दिखाता है, अन्धा उसे कन्धे पर चढ़ाकर ले जाता है, उसी प्रकार प्रकृति और पुरुष संयुक्त होकर एक के अभाव को अन्य पूर्ण करता है, उनके संयोग के फलस्वरूप सृष्टि साधित होती है।

अतएव प्रकृति और पुरुष अभिन्न होकर भी कार्यभेद से वे द्वित्वभावापन्न हुए हैं। इसीलिए दोनों की पृथक्-पृथक् रूप में आलोचना आवश्यक है। प्रथमतः प्रकृति के सम्बन्ध में आलोचना की जाय।

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।

—सांख्यदर्शन, १।६१

सत्त्व, रजः और तमोगुण की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। अर्थात् ये गुणत्रय जब समभाव से अन्यूनानतिरिक्तभाव से अवस्थान करते हैं, तभी वे प्रकृति-पदाभिधेय होते हैं ; फिर जब वे न्यूनाधिक होते हैं, एक प्रवृद्ध होकर अन्य को अभिभूत करता है, धीरे-धीरे तब उनका नाश-परिणाम आरम्भ होता है। प्रकृति के प्रथम परिणाम का नाम महत्तत्त्व है ; द्वितीय परिणाम का नाम अहंतत्त्व है ; तृतीय परिणाम का नाम इन्द्रिय और परमाणु हैं ; चतुर्थ परिणाम का नाम जगत् है। स्थूल बात यह है कि कृत्रिम और अकृत्रिम जो कुछ भी दिखाई पड़ता है, उन समुदाय के मूल स्थूलभूत हैं। स्थूलभूत का मूल सूक्ष्मभूत है। सूक्ष्मभूत का मूल अहंतत्त्व है। अहंतत्त्व का

मूल महत्तत्त्व है। जो महत्तत्त्व में मूल है, वही प्रकृति है। जगत् की अव्यक्तावस्था प्रकृति है, और प्रकृति की व्यक्तावस्था जगत् है।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ४।५

—प्रकृति अकेली, अजा (जन्मरहिता), लोहित-शुक्ल-कृष्णा (त्रिगुणमयी) है। प्रकृति तुल्यजातीय विविध विकारों की सृष्टिकर्त्री है।

अजा कहने का कारण यह है कि परब्रह्म की इच्छाशक्ति से उद्भूता यही मात्र है। जिस प्रकार फूल की गन्ध होती है। गन्ध फूल से नहीं जन्मती, फूल के प्राकृतिक धर्म में ही गन्ध होती है। तत्पश्चात् प्रकृति के परिणाम से रूपान्तर होती है मात्र। प्रकृति का आदि-अन्त नहीं है। क्योंकि प्रकृति नित्य सद्वस्तु है। सत्य की उत्पत्ति भी नहीं है, विनाश भी नहीं है। यथा—

नासदुत्पद्यते न सद् विनश्यति।

—सांख्यकारिका

असत् की उत्पत्ति नहीं है ; सत् का भी विनाश नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण ने यही बात कही है। यथा—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

—श्रीमद्भगवद्गीता, २।१६

अतएव जड़-जगत् का जो अपरिच्छिन्न निर्विशेष मूल उपादान है, उसे ही प्रकृति या प्रधान नाम से अभिहित किया जा सक़ता है। अंग्रेजी में इसे eternal homogeneous matter कहा जा सकता है। प्रकृति का और एक नाम अव्यक्त है। उसका कारण यह है कि सृष्टि के पूर्व जगत् अव्यक्त (unmanifest) अवस्था में रहता है। अव्यक्त की व्यक्तावस्था का नाम सृष्टि है। गीता में भगवान् ने कहा है—

अव्यक्ताद्व्यक्तय: सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।

रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके॥ ८।१८

—प्रलय के अन्त में अव्यक्त से व्यक्त जगत् का आविर्भाव होता है एवं सृष्टि के अन्त में व्यक्त जगत् का अव्यक्त प्रकृति में तिरोभाव होता है।

अतएव समस्त महाभूतों में जो अति सूक्ष्मांश है अर्थात् जिस मूल पदार्थ से महदादि अणु तक समस्त पदार्थ सृष्ट हुए हैं, वही प्रकृति है। यह प्रकृति, अविद्या और माया नामभेद से दो प्रकार की है। यथा—

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता।
तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा॥
सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते।

—पञ्चदशी, १।१५-१६

—चिदानन्दमय ब्रह्म के प्रतिविम्ब से युक्त, सत्त्व, रजः और तमः इन तीन गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति कहलाती है, वह सत्त्वगुण की शुद्धि के तारतम्य से "माया" एवं "अविद्या" ये दो प्रकार की अवस्थाएँ प्राप्त होती है।

सत्त्वगुण जब तमः और रजः इन दो गुणों द्वारा कलुषित नहीं होता, तब उसे सत्त्वगुण की शुद्धि या सत्त्वप्रधान कहते हैं एवं जब सत्त्वगुण तमः और रजः इन गुणों द्वारा कलुषित होता है, तब उसे सत्त्वगुण की अविशुद्धि या मलिनसत्त्वप्रधान कहते हैं। इसी से समझा जाता है कि व्यष्टिभूत मलिनसत्त्वप्रधान अज्ञान ही "अविद्या" एवं समष्टिभूत शुद्धसत्त्वप्रधान अज्ञान ही "माया" है। अविद्या और मायापदार्थ दोनों ही एक हैं, केवलमात्र प्रभेद व्यष्टि और समष्टि में। जिस प्रकार व्यष्टिभूत वृक्षसमूहों की समष्टि को "वन" कहकर निर्देश किया जाता है, उसी प्रकार व्यष्टिभूत अविद्या या अज्ञान की समष्टि को माया कहा जा सकता है। और जिस प्रकार वन वृक्ष से कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है ; उसी प्रकार माया भी अविद्या या अज्ञान से किसी भी रूप में स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। शास्त्र में प्रकृति का ऐसा वर्णन है। यथा—

प्रकृष्टवाचकः प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः।
सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता॥
गुणे प्रकृष्टे सत्त्वे च प्रशब्दो वर्तते श्रुतौ।
मध्यमे कृश्च रजसि तिशब्दस्तमसि स्मृतः॥
त्रिगुणात्मस्वरूपा या सर्वशक्तिसमन्विता।
प्रधाना सृष्टिकरणे प्रकृतिस्तेन कथ्यते॥
प्रथमे वर्तते प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः।
सृष्टेराद्या च या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता॥

—ब्रह्मवैवर्तपुराण, प्रकृतिखण्ड, १।५-८

अभी लगता है सभी समझ सकेंगे कि प्रकृति, माया, अविद्या एवं अज्ञान, ये चतुष्टय ही साधारणतः एकार्थप्रतिपादक हैं।

निस्तत्त्वा कार्यगम्यास्य शक्तिर्मायाग्निशक्तिवत्।
न हि शक्तिः क्वचित् कैश्चित् बुध्यते कार्यतः पुरा॥

—पञ्चदशी, २।४७

—जगत्कारण परमब्रह्म से पृथक्सत्तारहित जो परमात्मशक्ति है, उसे माया कहते हैं। जिस प्रकार दाहादि कार्योंद्वारा अग्नि की दाहिकाशक्ति अनुमित होती है, उसी प्रकार जगत्कार्य देख परमात्मशक्ति की सत्ता अनुमित होती है मात्र। वास्तविक परमात्मा से परमात्मशक्ति की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यथा—

न सद्वस्तु सतः शक्तिर्न हि वह्नेः स्वशक्तिता।
सद्विलक्षणतायान्तु शक्तेः किं तत्त्वमुच्यताम्॥

—पञ्चदशी, २।४८

—परमात्मशक्ति माया को परब्रह्म का स्वरूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आप ही आपकी शक्ति हैं, यह कहना अयुक्तिकर है, क्योंकि अग्नि

की दाहिकाशक्ति को अग्नि का स्वरूप नहीं कहा जा सकता, वैसे ही परमात्मा से उनकी शक्ति स्वतन्त्र भी नहीं है।

स्फुरत्येव जगत् कृत्स्नमखण्डितं निरन्तरम्।
अहो माया महामोहा द्वैताद्वैतविकल्पना॥

—गोरक्षसंहिता, ५।९३

—यह जगत् अखण्डित निरन्तर स्फूर्ति पा रहा है। ऐसा ज्ञान माया का कार्य है, अतः महामोहात्मिका माया आश्चर्य वस्तु है। इस माया के द्वारा द्वैत और अद्वैत कल्पना हुआ करती है। माया का नाश कर पाने पर ही अद्वैतज्ञान प्रतिपन्न होता है। यथा—

मायैव विश्वजननी नान्या तत्त्वधिया परा।
यदा नाशं समायाति विश्वं नास्ति तदा खलु॥

—शिवसंहिता, १।६६

—अघटन-घटन-पटीयसी माया ही इस मिथ्याभूत जगत् की सृष्टि करती है, तद्भिन्न अन्य कोई विश्वजननी नहीं है। आत्मज्ञानद्वारा जब माया तिरोहित होती है, तब यह मिथ्याभूत जगत् और नहीं रह जाता।

इस प्रकृति में चैतन्य अन्वित नहीं होने से प्रकृति का किसी प्रकार कार्य नहीं होता है। प्रकृति जड़ और पुरुष चैतन्य है ; प्रकृति परिणामिनी है, पुरुष निर्विकार है ; प्रकृति गुणमयी है, पुरुष निर्गुण (गुणातीत) है ; प्रकृति दृश्य है, पुरुष द्रष्टा है ; प्रकृति भोग्या है, पुरुष भोक्ता है ; प्रकृति विषय है, पुरुष विषयी है। प्रकृति के द्वारा आवृत होकर तब चैतन्य क्रियाशील होता है, फिर चैतन्य में अन्वित होकर प्रकृति प्रकाशप्राप्त होती है।

जड़त्वविपरीत चैतन्य आत्मा का या पुरुष का स्वरूप है, एवं वही जड़ का प्रकाशक है। जड़ उसका प्रकाश्य है। अतएव आत्मा या पुरुष जड़ से अतिरिक्त है एवं वही जीव के देहपुर में अधिष्ठित चैतन्य है। जो "मैं" है,

वही आत्मा है ; नवद्वारविशिष्ट देहपुर में रहने के कारण ही यह "पुरुष" नाम से अभिहित हुआ करता है।

असङ्गोह्ययं पुरुषः।

—सांख्यदर्शन, १।१५

यह पुरुष असङ्ग है। किन्तु प्रकृति जिस प्रकार जगत्-अवस्था में परिणत है, पुरुष भी उसी प्रकार अब संसारी है। प्रकृति ने अभी जिस प्रकार स्थूलास्थूल बहुविध आकार धारण किया है, उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध प्रभृति इन्द्रियग्राह्य बहुविध गुणों का उद्भव हुआ है, पुरुष भी अब इन्द्रियसहाय हुआ है—प्रकृति के आलिङ्गन में विमोहित होकर कालातिपात कर रहा है।

निर्गुण ब्रह्म के जगत्लीला करने को इच्छुक होते ही वह सगुण ब्रह्म हुआ एवं धर्म और स्वभाव के साथ स्वयं उन तीनों गुणों में प्रतिबिम्बित हुआ। अभी वह सगुण ब्रह्म है। तत्पश्चात् माया ईश्वर को अपने गर्भ में धारण कर, अपनी स्वभावशक्ति को उसमें आरोपण करने से गर्भस्थ ऐशिक तेज त्रिगुणमय हो गया। इस गुणमय ईश्वरांश को मायासंयुक्त पुरुष कहते हैं। यह गुणसंयुक्त पुरुष ही जीव, आत्मा और जीवात्मा है। माया में तीन स्वतःकारण विद्यमान हैं—द्रव्य, ज्ञान और क्रिया। जीवमाया स्वभावतः सत्त्व, रजः और तमो नामक गुणत्रय में मण्डित होने से उस गुणत्रय का प्रकाशक द्रव्य, ज्ञान और क्रिया में मण्डित हो जाती है एवं ये ही जीवन को आबद्ध कर रहे हैं। पुरुष ही जीव हुआ, तथापि माया का स्वभाव यह है कि जो ईश्वरांश जीवत्व में परिणत हुआ, वह फिर अपना प्रकाशक तथा अभिन्न ईश्वर का दर्शन नहीं कर सका। अतएव जगत् का चेतन और अचेतन सभी की आत्मा पुरुषपदवाच्य है।

पुरुष अनादि और अनन्त है। उसका स्वभाव स्वतः ही आनन्दघन है। इस पुरुष की सहायता से ही परिणामिनी प्रकृति विश्वसृष्टि करती है। पुरुष विश्वसृष्टि का बीजस्वरूप है। यथा—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, १४।३-४

भगवान् ने कहा है—हे भारत ! महत् प्रकृति है गर्भाधानस्थान, जिसमें मैं समस्त जगत् का बीज निक्षेप करता हूँ, उसीसे समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है। हे कौन्तेय ! समस्त योनियों में जो सारी स्थावर-जङ्गमात्मक मूर्तियाँ सम्भूत होती हैं, महत् प्रकृति उन मूर्तियों की योनि (मातृस्थानीया) है, मैं बीजप्रद पिता हूँ, अतएव यह विश्वसंसार प्रकृति और पुरुषयोग से समुत्पन्न हुआ है।

एषा माहेश्वरी सृष्टिर्द्वैतभावेन संस्थिता।

—विश्वसारतन्त्र

यह महेश्वरसम्बन्धिनी सृष्टि द्वैतभाव से संस्थिता है, जिससे प्रकृति-पुरुष-योग की सृष्टि को स्वीकार करना पड़ता है।

इसलिए शास्त्र की उक्ति यह है, कि प्रकृति और पुरुष परस्पर कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। ये उभयात्मक ही अद्वैत ब्रह्म है। प्रकृति-पुरुषभाव अज्ञानी द्वैतवादियों के लिए है, अद्वैत योगिपुरुषों के लिए नहीं है। शक्तिमान् से शक्ति जिस प्रकार पृथक् नहीं है, उसी प्रकार पुरुष से प्रकृति की पृथक् सत्ता नहीं है। अतएव उनकी स्त्री-पुरुष की कल्पना भ्रमात्मक है। यथा—

सृष्ट्यर्थमात्मनो रूपं मयैव स्वेच्छया पितः।
कृतं द्विधा नगश्रेष्ठ पुमान् स्त्री च विभेदतः॥

—श्रीमद्भगवतीगीता, ४।१०

—हे गिरिश्रेष्ठ ! मैंने सृष्टि करने के लिए इच्छापूर्वक अपना रूप को दो भागों में विभक्त किया है। उनमें एक भाग का नाम पुरुष एवं अपर भाग का नाम स्त्री है। यथार्थ में मैं स्त्री भी नहीं हूँ, पुरुष भी नहीं हूँ।

यद् यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ५।१०

—[आत्मा] जब जिस शरीर का आश्रय करता है, तब उसी रूप में प्रकाशित होता है।

अतएव हि योगीन्द्रः स्त्रीपुंभेदं न मन्यते।
सर्वं ब्रह्ममयं ब्रह्मञ्छश्वत् पश्यति नारद॥

—ब्रह्मवैवर्तपुराण, प्रकृतिखण्ड, १।११

—हे नारद ! योगीन्द्रगण स्त्री-पुरुषों में किसी प्रकार का विभेद नहीं करते, बल्कि, क्या पुरुष, क्या प्रकृति समस्त ही ब्रह्ममय धारणा किया करते हैं।

अतएव यही प्रतिपन्न हुआ कि प्रकृति और पुरुष का ज्ञान भ्रमात्मक है। जबतक चित्त स्थिर नहीं होता है, तबतक ऐसा ज्ञान रहता है। साधनाद्वारा चित्त स्थिर होते ही भ्रमात्मक द्वैतज्ञान तिरोहित होकर अद्वैत ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है।

चलच्चित्ते वसेच्छक्तिः स्थिरचित्ते वसेच्छिवः।
स्थिरचित्तो भवेद्देवि स देहस्थोऽपि सिध्यति॥

—ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्र, ६४

—हे देवि ! चञ्चल चित्त में शक्ति अर्थात् भ्रमज्ञान में माया, एवं स्थिर चित्त में शिव अर्थात् योगद्वारा चित्त स्थिर होने से अद्वैत ब्रह्मज्ञान अवस्थान करता है। स्थिरचित्त में योगिव्यक्ति देहस्थ होकर भी सिद्धि को प्राप्त करते हैं।

अद्वितीयब्रह्मतत्त्वे स्वप्नोऽयमखिलं जगत्।
ईशजीवादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम्॥

—पञ्चदशी, ६।२११

ईश्वर, जीव और देह आदि चेतनाचेतनात्मक यह समस्त जगत् अद्वितीयं ब्रह्मतत्त्वज्ञानानुसार मायाकल्पित स्वप्नस्वरूप है।

पञ्चीकरण

लगता है अब किसी को भी समझना बाकी नहीं रह गया कि ब्रह्म जब निर्गुण और निष्क्रिय होता है, तभी वह ब्रह्म है, और सगुण या प्रकट होते ही ईश्वर या पुरुष है। और वह इच्छा या वासनाशक्ति ही प्रकृति या आद्याशक्ति महामाया है। वह पुरुष और प्रकृति सर्वत्रगामी हैं और सर्ववस्तुओं में अवस्थिति कर रहे हैं। इहसंसार में इन दोनों से अलग होकर कोई भी वस्तु विद्यमान नहीं रह सकती। प्रकृति से सत्त्व, रजः और तमोगुणों का विकास होने से ही उसमें चैतन्य प्रतिबिम्बित होकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर हुए। वे सभी त्रिगुणसमन्वित होकर सृष्टि, स्थिति और प्रलय-कार्य सम्पादित कर रहे हैं। इस संसार की जो-जो वस्तुएँ दृश्य हुआ करती हैं, वे सभी त्रिगुणविशिष्ट हैं। दृश्य, मगर निर्गुण इस प्रकार की वस्तु जगत् में कभी भी न है, न होगी। परमात्मा निर्गुण है, वह कभी दृश्य नहीं होता ; परमा-प्रकृतिरूपिणी महामाया सृजनादि के समय सगुणा और समाधि के समय निर्गुणा हुई रहती है। प्रकृति अनादि है, अतएव वह सतत ही इस संसार के कारणरूप में विद्यमान है, कभी भी कार्यरूप नहीं होती। वह जब कारणरूपिणी होती है, तभी सगुणा और जब पुरुष के सान्निध्य में परमात्मा के साथ अभिन्नभाव से अवस्थान करती है, गुणत्रय की साम्यावस्था के कारण गुणोद्भव के अभाव होने से तभी वह निर्गुणा होती है। अहङ्कार और

शब्दस्पर्शादि गुणसमुदाय दिवारात्र ही पूर्वपूर्वक्रम से कारणरूप में और उत्तरोत्तरक्रम से कार्यरूप में परिणत होकर कार्य सम्पादन कर रहा है, कदाचित् भी उसका विराम नहीं है।

काल, चैतन्य, सदसदात्मिका शक्ति—इनके मिलन से प्रधान और महत्तत्त्वावस्था होती है। उस अवस्था में सत्त्व, रजः और तमोगुणों का विकास होता है। इन तीनों गुणों में ईश्वर प्रतिबिम्बित हैं अर्थात् आकृष्ट होने पर, अहङ्कार प्रकट होता है। इस अहङ्कार से सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेदानुसार मन, इन्द्रिय और भूतादि प्रकाशित होते हैं। इन सब कारणावस्थाओं में जब ईश्वर की वासना और स्वरूप-चैतन्य पतित नहीं होते, तभी इन्हें अजीव अण्ड कहते हैं। यही ब्रह्माण्ड है। तदनन्तर ईश्वर स्वरूप-चैतन्य और वासना के साथ मिश्रित होने से यह विश्व या विराट्देह प्रकाशित होती है। ब्रह्माण्ड और विश्व में यही प्रभेद है। ईश्वर की कारणावस्था में परिणति का नाम ब्रह्माण्ड एवं कार्यावस्था में परिणति का नाम विश्व है। सूर्य जिस प्रकार सबके प्रकाशक है, किन्तु सर्वत्र व्याप्त रहकर भी अपने मण्डल में रहता है, ईश्वर भी उसी प्रकार अपनी समस्त शक्तियों से विश्व और ब्रह्माण्ड को प्रस्तुत कर उनमें प्रकाशित होकर अपने स्वरूप में रहते हैं।

गुणत्रय में ईश्वर प्रतिबिम्बित होने पर अहङ्कार प्रकट होता है। अहङ्कार दो प्रकार का है। उनमें एक पराहन्तारूप सत्पदार्थ से उत्पन्न होता है, दूसरा महत्तत्त्व से उत्पन्न हुआ है। प्रकृति ही वह पराहन्ता सत्पदार्थरूपिणी है ; तत्त्वज्ञानी पण्डितगण उस पराहन्तारूपा प्रकृति को ही अव्यक्त शब्द से अभिहित किया करते हैं, अतएव प्रकृति ही जगत् का कारण है। अहङ्कार प्रकृति का ही कार्य है, प्रकृति उसे त्रिगुणसमन्वित कर जगत् के कार्यसाधनार्थ प्रतिष्ठित कर रखी है। उसी पराहन्ता (समष्टि बुद्धितत्त्व) से महत्तत्त्व की उत्पत्ति है, ज्ञानियों ने उसी को बुद्धि कहा है। अतएव महत्तत्त्व कार्य है,

एवं पराहङ्कार उसका कारण है। परन्तु महत्तत्त्व से उत्पन्न कार्यरूप अहङ्कार से पञ्चतन्मात्राएँ (अपञ्चीकृत-सूक्ष्म-महाभूत) उत्पन्न होती हैं, और वे पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत के प्रति कारण होती हैं। समस्त प्रपञ्चों के उत्पत्तिकाल में इन्हीं पञ्चतन्मात्राओं के प्रत्येक के सात्त्विकांश से अलग अलग पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ एवं प्रत्येक के राजसांश से अलग पञ्चकर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, और इन पञ्चतन्मात्राओं के मिलित सात्त्विकांश से मन (अन्तःकरण) उत्पन्न हुआ है। आदि पुरुष सनातन है, कार्य भी नहीं है, कारण भी नहीं है। इन समस्त प्रपञ्चों के कारण प्रकट ईश्वर या पुरुष है, एवं माया आद्याशक्ति कार्य है। इस विषय में और भी कुछ विशद् आलोचना की जाय।

ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और अर्थशक्तिभेद से अहङ्कार की शक्ति तीन प्रकार की है ; उनमें सात्त्विक अहङ्कार की ज्ञानजनिका शक्ति, राजस की क्रियाजनिका शक्ति एवं तामस की अर्थजनिका शक्ति जानने की आवश्यकता है। तामस अहङ्कारसम्बन्धिनी द्रव्यजनक शक्ति से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध एवं उन समस्त गुणों से पञ्चतन्मात्र अर्थात् सूक्ष्म पञ्चमहाभूत उत्पन्न हुए हैं। आकाश का गुण शब्द, वायु का गुण स्पर्श, अग्नि का गुण रूप, जल का गुण रस और पृथ्वी का गुण गन्ध है ; ये सूक्ष्म दस पदार्थ मिलकर पृथ्वी आदिरूप कार्यजनिका शक्तिविशिष्ट होते हैं ; बाद में पञ्चीकरण निस्पादित होनेपर द्रव्यशक्तिविशिष्ट तामस अहङ्कार के अनुवृत्तियुक्त होकर ब्रह्माण्ड का सृष्टिकार्य सम्पन्न होता है। श्रोत्र, त्वक, रसना, चक्षु और नासिका ये पञ्चज्ञानेन्द्रिय हैं ; वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पञ्चकर्मेन्द्रिय एवं प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान ये पञ्चवायु हैं—ये समस्त मिलकर जो सृष्टि होती है, उसे राजस सृष्टि कहते हैं। ये क्रियाशक्तिमय साधन हैं अर्थात् करणसंज्ञक इन्द्रियसमूह और इनके उपादानकारण हैं—इन्हें चिदनुवृत्ति कहते हैं। सात्त्विक अहङ्कार से पञ्चज्ञानेन्द्रिय हैं, ज्ञानशक्तिसमन्वित पञ्च अधिष्ठात्री देवता अर्थात् दिक्, वायु, सूर्य, वरुण और अश्विनीकुमारद्वय हैं

एवं बुद्धि प्रभृति चार प्रकार में विभक्त अन्तःकरण के चन्द्र, ब्रह्मा, रुद्र और क्षेत्रज्ञ ये चार अधिष्ठात्री देवता उत्पन्न हुए हैं। पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चवायु और क्षेत्रज्ञ अर्थात् मन—यही सात्त्विकी सृष्टि है।

पूर्व में मैंने जिस सूक्ष्मभूतरूप पञ्चतन्मात्राओं की बात कही है, पुरुष (ईश्वर) ने उन्हीं सब पञ्चीकरणक्रिया द्वारा स्थूल पञ्चभूतों का उत्पादन किया है। उदक नामक भूत सृष्टि करने के लिए पहले रसतन्मात्रा को दो भागों में विभक्त किया गया। इस प्रकार अवशिष्ट सूक्ष्मभूतरूप तन्मात्रचतुष्टय भी पृथक्-पृथक् दो-दो भागों में विभाजित हुए। अब पञ्चभूतों के प्रत्येक का अर्धभाग रखकर अवशिष्ट प्रत्येक अर्धभाग की फिर चार चार भागों में विभक्त करने से उन चार भागों का एक-एक भाग, अपने अर्धांश में योग न कर अन्य अर्ध चतुष्टय के प्रत्येक के साथ ही योग करने से जल और क्षिति आदि स्थूल पञ्चभूतों की सृष्टि होती है। इस प्रकार जलादि की सृष्टि होने से बाद में उनमें अधिष्ठातृरूप में चैतन्य प्रविष्ट होता है, तब उस पञ्चभूतात्मक देह में "मैं ही पञ्चभूतात्मक देह हूँ" इस प्रकार तादात्मभाव से संशयात्मक मनोवृत्ति का उदय होता है। आकाशादि भूतगण पञ्चीकरणद्वारा दृढ़ीभूत और स्पष्टरूप से प्रकाशित होने से आकाश में एक, वायु में दो, इस प्रकार क्रम से भूतसकल में एक-एक अधिक गुण देखे जाते हैं। तदनुसार आकाश में एक शब्दगुण भिन्न दूसरा और कुछ भी नहीं है। वायु के शब्द और स्पर्श, अग्नि के शब्द, स्पर्श और रूप ; जल के शब्द, स्पर्श, रूप और रस एवं पृथ्वी के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच गुण ही निर्दिष्ट हैं। इस प्रकार पञ्चीकृत भूत-समूह की मिलन-प्रक्रिया द्वारा इस अखिल ब्रह्माण्डरूप ब्रह्म की विराट्मूर्ति उत्पन्न हुई है। कोई ऐसा सोच सकते हैं कि ऐसा पञ्चीकरण क्या स्वयं हुआ था ? इसका उत्तर शास्त्र में ही है,—छन्दांसि वै विश्वरूपाणि। —शतपथ ब्राह्मण।

छन्द के द्वारा यह विश्वरूप प्रकाशित है। छन्द ही तो स्वरकम्पन है। अतएव ये परस्पर कम्पनाभिघात से ऐसे हुए थे और मूल में वही परमा प्रकृति थी। वेद में भी उक्त है—

पृथिवी छन्दोऽन्तरिक्षं छन्दो द्यौश्छन्दः समाश्छन्दो नक्षत्राणि छन्दो वाक्छन्दो मनश्छन्दः कृषिश्छन्दो हिरण्यं छन्दो गौश्छन्दोऽजा छन्दोऽश्वश्छन्दः॥

—शुक्लयजुर्वेदसंहिता, १४।१९

पृथ्वी, अन्तरीक्ष, स्वर्ग, वर्ष, नक्षत्र, वाक्, मन, कृषि, स्वर्ण, गाय, बकरी, अश्व—ये समुदाय क्या हैं ? छन्द या स्पन्दन के अतिरिक्त और तो कुछ भी नहीं। श्वास-प्रश्वास में स्वरकम्पन—"हंस", यही तो जीवात्मा है। श्वास जब स्पन्दित होकर देह में प्रवेश कर रहा है, तब सः, बहिर्गत होने के समय हं। मानव से लेकर समस्त पदार्थ ही यह स्वरकम्पन है ; स्वरकम्पन के रोध होते ही चूर-चूर होकर फिर गढ़कर नये स्वरकम्पन का आश्रयीभूत होता है।

स्पन्दनवादद्वारा सृष्टिरहस्य सहज ही समझा जा सकता है। योगवाशिष्ठरामायण में स्पन्दनवादद्वारा ही सृष्टिरहस्य प्रमाणीकृत हुआ है। पाश्चात्य वैज्ञानिक पण्डितगण भी अब इस कम्पनवाद को अति श्रद्धा के साथ स्वीकार और इसके द्वारा अनेक अद्भुत अद्भुत क्रियाओं का सम्पादन कर रहे हैं एवं इसी के ऊपर धर्मतत्त्व को संस्थापित करने का प्रयास कर रहे हैं।* कुम्हार दण्डद्वारा चक्र चलाकर उसे वेग से कँपाकर उसके द्वारा मिट्टी को घटादि में परिणत करता है। चक्र के अधिक वेग से कम्पनकाल में लगता है जैसे यह घूम नहीं रहा है—किन्तु वस्तुतः उस कम्पन का ही वह अधिक वेग है। जब वह रुकने लगता है, उस समय दीखता है कि वह काँप रहा है। इसी कारण वेदान्तदर्शन में "कम्पनात्" (१।३।१०।३९)

---

* *The Religion of the Star* नामक पुस्तक के *85 Page* पर देखें।

कम्पन से जगत् की उत्पत्ति कथा उक्त हुई है। इस प्रकार जगत् उत्पन्न होकर ब्रह्मा के सत्त्वगुण से सृजन, विष्णु के रजोगुण से पालन और शिव के तमोगुण से व्यष्टि और समष्टि ध्वंसकार्य होने लगा। तब उनके गुणों से हमारे इस सौरजगत् में सूक्ष्म जीव स्थूल में परिणत और अविद्यादिद्वारा आक्रान्त होकर वासनाद्वारा सञ्चालित होकर कर्म करने लगे।

जीवात्मा और स्थूलदेह

ब्रह्माण्ड की शक्तिमय सत्ता की विकासावस्था ही यह अनन्त चेतनाचेतन जीवपूर्ण जगत् है। जो शक्ति का आत्मस्वरूप था, इस विराट् विश्व के विकसित होनेपर वह कूटस्थचैतन्य प्रत्येक जीव के आत्मारूप में अवस्थित हो गया। यह जीवचैतन्य जीवात्मा नाम से अभिहित हुआ करता है। पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त एवं प्राणादि पञ्चवायु मिलकर लिङ्गशरीर नाम से अभिहित होते हैं। यह लिङ्गशरीराभिमानी अविद्योपहित चैतन्य ही व्यवहारिक जीव, क्षेत्रज्ञ या पुरुष नाम से कहा जाता है। यह जीव ही प्रवाहरूप में अनादि पुण्यपापजनित अदृष्ट का फलभोग करता है एवं लिङ्गशरीर को निमित्त कर इहलोक-परलोक में गमन और जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्त्यादि अवस्थाएँ भोग किया करता है। वह अनादि, अजर, अमर है, अतः किसी प्रकार से उसका विनाश संसाधित नहीं होता। यथा—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, २।२०

यह न जनमता और न ही मरता है, कभी भी नहीं हुआ अथवा होकर भी फिर नहीं होगा। यह अज, नित्य, शाश्वत, पुराण है ; शरीर हत होनेपर भी यह हत नहीं होता।

कठोपनिषद् में ठीक यही बात उक्त है। यथा—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ १।२।१८

सखा और शिष्य अर्जुन को आत्मा के सम्बन्ध में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है,—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।

—श्रीमद्भगवद्गीता, २।२३-२५

यह (आत्मा) अस्त्र से नहीं कटता, अग्नि में नहीं जलता, जल में नहीं भींगता एवं हवा में नहीं सूखता। यह छेदन-योग्य नहीं है, दहन-योग्य नहीं है, क्लेदन-योग्य नहीं एवं शोषण-योग्य नहीं है। यह नित्य, सर्वगत, स्थाणु (स्थिरस्वभाव), अचल (पूर्वरूप अपरित्यागी), सनातन (चिरन्तन, अनादि, अव्यक्त, चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियों का अविषय), अचिन्त्य (मन का अविषय) एवं अविकार्य (कर्मेन्द्रियों का अविषय) के रूप में कथित होता है। इस आत्मा के आश्रयस्थान को देह कहते हैं।

यह देह तीन अंशों में विभक्त है। प्रथम भौतिक आवरण को स्थूलदेह या शरीर कहते हैं। द्वितीय सूक्ष्म है ; अर्थात् इन्द्रियशक्तिपूर्ण मनोमय अवस्था है। तृतीय देह का नाम कारण है ; वहाँ केवल बुद्धि आदि चैतन्य और

कर्तव्यशक्ति के साथ जीवात्मा निवास करता है। यह जीव विश्वव्यापी परमात्मा का अंशविशेष है, उसका भोग या क्षय किंवा लय कुछ भी नहीं है। उसका जो तेज सूक्ष्मदेह के ऊपर आधिपत्य करता है, उसी मनोमय सत्ता का नाम क्षेत्रज्ञ आत्मा है ; उसी सत्ताद्वारा लिङ्गदेह सञ्चालित होती है। इसके अतिरिक्त जिन-समस्त शक्तिसमष्टिद्वारा स्थूलदेह रक्षित और सञ्चालित होती है, उसी शक्ति को स्थूल का आत्मा और भूतात्मा कहते हैं ; सांख्यमत से यही प्रकृति है। अब देखना होगा कि प्रधान चेतयिता जीव है,—यह साक्षी मात्र है ; प्रत्येक देहप्रकाश के साथ उसका प्रकाश है ; देहक्षय से अर्थात् सूक्ष्म और स्थूल आवरण के क्षय से उसका क्षय नहीं होता है। वह कारणरूप में सचल है—स्वाधीन शक्ति के साथ वर्तमान रहता है। कार्य के प्रेरक और भोगकारी क्षेत्रज्ञ आत्मा अर्थात् मनोमय भाग के वह चैतन्यसत्ता है। स्थूलशरीर का कर्ता भूतात्मा है अर्थात् इन्द्रियशक्तिगण उस क्षेत्रज्ञतेज से सचेतन होकर शरीररूपी इन्द्रियसमूह द्वारा बाह्य विषय ग्रहण कर क्षेत्रज्ञ को ही भोग कराता है। क्षेत्रज्ञ ही गुणानुसार देह के गठन के अनुसार सकल कार्य निर्वाह किया करता है। इस स्थूल और सूक्ष्म के अधिकारी क्षेत्रज्ञ उपादानरूपी महत्तत्त्व के ॐकाररूपी जीव-भावीय परमात्मा के आश्रय में प्रत्येक प्राणी की पुरी में चेतयिता और भोगकर्ताभाव से रहता है। मन, इन्द्रियशक्ति और भूतशक्ति ही इस क्षेत्रज्ञ को भोग प्रदान किया करते हैं। मन आदि यदि कुभाव से अन्वित हो जाते हैं तो वह भी कुभोग भोगता है, मन आदि यदि पुण्य कार्य करते हैं तब वह भी पुण्य सञ्चय कर पाता है। जिस प्रकार आवरणद्वारा सूर्य के उज्ज्वल आलोक को ह्रस्ववीर्य कर अन्धकार किया जा सकता है, उसी प्रकार मनादि में कुभाव पोषण करने से क्षेत्रज्ञ भी अज्ञान-आवरण से आवृत होकर परमात्मा के सान्निध्य-तेज से अलग हो जाता है। फिर जब मन आदि को पवित्र किया जाता है, तब

आवरण उन्मुक्त होनेपर परमात्मा का तेज क्षेत्रज्ञ के तेज से मिल सकता है। इस हेतु शास्त्र में उक्त है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।*

—अन्यमनस्क गीता, ५५

मन ही मनुष्य की मुक्ति एवं बन्धन का कारण है। और भी उक्त है—

मनः करोति पापानि मनो लिप्यते पातकैः।
मनश्च तन्मयं भूत्वा न पुण्यैर्न च पातकैः॥

—ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्र, ४५

इस परमात्मभाव के साथ क्षेत्रज्ञ का एकीभाव कराने के लिए जिस सकाम अनुष्ठान को किया जाता है, वही पुण्य है एवं उसके लिए जिस निष्काम अनुष्ठान को किया जाता है, वही मुक्ति का उपाय है ; और परमात्मा से जिस भोगावरण से कुभाव में उसे आवृत किया जाता है, वही पाप, अज्ञान या अधर्म है। पापाचरण करने से क्षेत्रज्ञ का परमात्मभाव आवृत हो जाता है। इस अवस्था में जो यातनाभोग होता है, उसे ही पापयातना या नरक-यन्त्रणा कहते हैं। जिस प्रकार वायु, पित्त और कफादि साधारण धर्मों का वैलक्षण्य होने से देह की धातुगत यातना होती है, उसी प्रकार मानव के स्वाभाविक सत्त्वगुण के विपक्ष में अर्थात् परमात्मभाव के प्रतिकूल कोई अनुष्ठान करने से लिङ्गदेह में भयानक यातना उपस्थित हो जाती है। यह यातना क्या इहलोक, क्या परलोक अर्थात् स्थूलदेह के स्थितिकाल में या स्थूल के विनाश होनेपर भी भोग हुआ करता है। पूर्वजन्मार्जित कुसंस्कारों के अभ्यासवश जीव पातक का अनुष्ठान किया करता है।

---

* यह श्लोक मैत्रायण्युपनिषद् में निम्न प्रकार है।—अनुवादक

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतमिति॥ ४।४(ट)

शास्त्रानुसार दस प्रकार के कुभावों के आवेश से मन का, काय और वाक्य का जो व्यभिचार और कदाचार उपस्थित होता है, उसे ही पाप या अधर्म कहते हैं। उन दस प्रकार के कुभावों में मन तीन, वाक्य चार और देह तीन कार्य करती है। यथा—मन के द्वारा (१) परद्रव्यहरणेच्छा और पर-अनिष्टचिन्तन ; (२) परलोक नहीं, विषयभोग ही सब कुछ है ; (३) ईश्वर में अविश्वास और देहाभिमान। वाक्यद्वारा—(१) दूसरे को जिससे कष्ट हो ऐसा अप्रियभाषण ; (२) असत्यकथन ; (३) परोक्ष में परदोषकीर्तन ; (४) प्रयोजन बिना कुत्साकरण। देहद्वारा—(१) वञ्चना या बलप्रयोग से परस्व अपहरण ; (२) अवैध प्राणिहिंसा ; (३) परदारादिगमन।

इन दस प्रकार के मौलिक कुभावों से कृत, कारित एवं अनुमोदित के भेदानुसार अगण्य कुकर्मों जीव के हृदय में विचरण करते हैं। किन्तु ईश्वरविषयक ज्ञान के उपस्थित होने से—सूर्य जिस प्रकार कोहरें का अपने तेज से निवारण करता है, उसी प्रकार उन्हींकी कृपा से पाप विनष्ट हो जाते हैं। जीव का उद्धार करने के लिए भगवान् की सतत चेष्टा—वे अविराम हमें उन्नति के पथ पर, उद्धार के पथ पर, सुख के पथ पर ले जाने के लिए खींच रहे हैं। किन्तु मायामुग्ध जीव हम सतत ही अनित्य विषयरस में डूब मरते हैं। लौहखण्ड को चुम्बक आकर्षित करता है, किन्तु उसके मध्यस्थल में एक ईंट रख देनें से जिस प्रकार चुम्बक लौह को आकर्षित नहीं कर पाता है, उसी प्रकार हम भी उनके आकर्षण के मध्य मायाबाँध को रखकर उनके करुणा-आकर्षण से दूर रहे हैं। पुरुषकार के बल से मायाबाँध को छिन्न कर सकने से ही उनकी करुणा आकृष्ट की जा सकती है।

अदृष्ट (सञ्चित कर्म) और पुरुषकार दोनों का सम्बन्ध बड़ा ही ओतप्रोत है। मानव ने यथाविधि परिश्रम से खेत जोता, बीज बोये ; किन्तु अदृष्टशक्ति के यथासमय वर्षणादि नहीं करने से धान की फसल नहीं हुई। फिर केवल अदृष्टशक्ति अनवरत वर्षण करके भी कुछ नहीं कर सकती—मनुष्य यदि

परिश्रम और यत्न के साथ खेत जोतकर भूमि में बीज वपन न करे। अतएव समझना होगा, अदृष्ट और पुरुषकार दोनों ही मिलकर कार्य किया करते हैं। वे ही अदृष्ट एवं पुरुषकार दोनों एकत्र होने से तभी चित्तशुद्धि होती है, चित्तशुद्धि होने पर तभी विषय-विराग जनमकर भगवद्भक्ति का उदय होता है एवं ऐसा होने से तब उनकी करुणा-बाँसुरी का मोहन सुर कर्णगोचर हुआ करता है।

स्थूलदेह का विश्लेषण

मायोपहित चैतन्य से आकाशादि पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं एवं इन पञ्चभूतों से ब्रह्माण्ड एवं स्थूलदेह की उत्पत्ति होती है। यथा—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।

—तैत्तिरीयोपनिषद्, २।१

—पहले उस ज्ञानरूप नित्य परमात्मा से आकाश प्रकट हुआ है। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधि से अन्न, अन्न से रेतः एवं रेतः से पुरुष ; अतएव यह पुरुष ही अन्न-रसमय-शरीरविशिष्ट जीवरूप में प्रतीयमान हो रहा है।

यही शुक्र और शोणितयोग से पञ्चभूतात्मक स्थूलदेह है। स्थूलदेह कहने से हम यह समझते हैं कि—

पञ्चीकृतमहाभूतकार्यं जन्मादिषड्भावविकारं स्थूलशरीरम्।

—पञ्चीकृत क्षिति, अप्, तेज, मरुत् और व्योम इन पञ्चमहाभूतों के कार्य और पुण्यापुण्य कर्महेतु जन्म प्रभृति और बाल्य, कौमार, यौवन, प्रौढ़, वार्धक्य और जरारूप विकारयुक्त जो शरीर है, उसका नाम है स्थूलदेह।

मातापिता के भुक्त अन्न से शुक्र और शोणितयोग से इस षट्कोषविशिष्ट शरीर की उत्पत्ति हुई है ; उसमें मातृज, पितृज प्रभृति षड्विध भाव हैं। यथा—

पितृभ्यामशितादन्नात् षट्कोषं जायते वपुः।
स्नायवोऽस्थीनि मज्जा च जायन्ते पितृतस्तथा॥
त्वङ्मांसशोणितानीति मातृतश्च भवन्ति हि।
भावाः स्युः षड्विधस्तस्य मातृजाः पितृजास्तथा॥
रसजाः आत्मजाः सत्त्वसंभूताः स्वात्मजास्तथा॥

—मातापिता के भुक्त अन्न से इस षट्कोषविशिष्ट शरीर की उत्पत्ति हुई है। उनमें स्नायु, अस्थि और मज्जा ये सकल पित। से उत्पन्न एवं त्वक्, मांस और रक्त माता से उत्पन्न होते हैं। इस शरीर के सम्बन्ध में मातृज, पितृज, रसज, आत्मज, सत्त्वसम्भूत और स्वात्मज ये षड्विध भाव हैं। उनमें शोणित, मेद, प्लीहा, यकृत, गुह्यदेश, हृदय, नाभि, ये समुदाय मृदु पदार्थराशि मातृज भाव हैं ; श्मश्रु, रोम, केश, स्नायु, शिरा, धमनी, नख, दन्त, शुक्र, ये सब पितृज भाव हैं ; शरीरोपचिति अर्थात् उत्पत्तिकाल में शरीर की स्थूलता, वर्ण, क्रम से शरीर में वृद्धि, अवयवों की दृढ़ता, अकार्पण्य, उत्साह, तृप्ति, बल, ये सब रसज अर्थात् सप्तधातु के अन्यतम धातुज भाव हैं ; एवं इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, धर्म, अधर्म, भावना, प्रयत्न, ज्ञान, आयु एवं इन्द्रिय, ये आत्मज अर्थात् प्रारब्धकर्मज भाव हैं। इन्द्रिय द्विविध—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय हैं। चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक् ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं ; रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय के ग्राह्य विषय हैं। वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं ; कथन, ग्रहण, गमन, मलत्याग और रमण ये पाँच कर्मेन्द्रियों की क्रियाएँ हैं।

मन कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय उभय का अन्तरेन्द्रिय है ; एवं मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त इन चारों को अन्तःकरण कहते हैं। उनमें सुख और दुःख मन के विषय एवं स्मृति, भय और कम्पनादि मन की क्रियाएँ हैं ; निश्चयात्मिका-वृत्ति को बुद्धि, अहं मम इत्याकार वृत्ति को अहङ्कार एवं अतीत विषयों की स्मरणात्मक वृत्ति को चित्त कहते हैं। यह सत्त्व नामक अन्तःकरण सत्त्व, रजः और तमोगुण-भेदानुसार तीन प्रकार का है, अतएव पूर्वोक्त सत्त्वज भाव भी तीन प्रकार के हैं। उनमें आस्तिक्य, मनोनैर्मल्य और मुख्यरूप से धर्मविषय में प्रवृत्ति इत्यादि सात्त्विक अन्तःकरण से उत्पन्न होते हैं। काम, क्रोध, लोभ और लज्जादि रजोगुण से उत्पन्न होते हैं,—ये राजस-सत्त्वज भाव हैं। निद्रा, आलस्य, अनवधानता और वञ्चना प्रभृति तमोगुण से उत्पन्न होते हैं—ये तामस-सत्त्वज भाव हैं।

देहो मात्रात्मकस्तस्मादादत्ते तद्गुणानिमान्।

यह देह मात्रात्मक है, अर्थात् यह देह इसके उपादान पञ्चभूत-तादात्म्य से ही उत्पन्न होती है, इसी कारण उपादानीभूत प्रत्येक भूत का गुण ग्रहण करती है। यथा—यह स्थूलदेह आकाश से शब्द, श्रोत्रेन्द्रिय, वक्तृत्व, कर्मकुशलता, लघुत्व, धैर्य एवं बल इन सात गुणों को ग्रहण करती है। वायु से स्पर्श, त्वगिन्द्रिय, उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, गमन, प्रसारण, कर्कशता एवं प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, धनञ्जय और देवदत्त इन वायुविकारों एवं लघुता—इन उन्नीस गुणों को ग्रहण किया करती है। अग्नि (तेजः) से चक्षुरिन्द्रिय, श्यामिकादि रूप, शुक्लरूप, भुक्त द्रव्यों की परिपाकशक्ति, स्फूर्ति, क्रोध, तीक्ष्णता, कृशता, ओजः, सन्ताप, पराक्रम ये समस्त गुण प्राप्त होते हैं। जल से षड्विध रस, रसेन्द्रिय, धारणाशक्ति, शैत्य, स्नेह, द्रवत्व, कर्म और शरीर की मृतुता ये समस्त गुण ग्रहण करती

है। पृथ्वी से गन्ध, घ्राणेन्द्रिय, स्थिरता, धैर्य, गुरुत्व, त्वक्, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्रधातु उत्पन्न होते हैं। ये सब स्वात्मज भाव हैं।*

भौतिक देह को कार्यक्षम रखने के लिए नाभिकन्द से बहुसंख्यक नाड़ियाँ उत्पन्न होकर समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गों तक गमन कर तत्तत्स्थानीय कार्यसकल सम्पन्न कर रही हैं। यथा—

ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कल्पयोनिः खगाण्डवत्।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः॥

—गोरक्षसंहिता, १।२२-२३

मेढ्रदेश के ऊर्ध्व में और नाभि के नीचे खगाण्डवत् जो कल्पयोनि है, उससे बहत्तर हजार नाड़ियाँ उत्पन्न हुई हैं। किन्तु समस्त शरीराभ्यन्तर में साढ़े तीन लाख नाड़ियाँ विद्यमान हैं। यथा—

सार्धलक्षत्रयं नाड्यः सन्ति देहान्तरे नृणाम्।

—शिवसंहिता, २।१३

ये साढ़े तीन लाख नाड़ियाँ उत्पन्न होकर शरीर के सभी स्थानों में व्याप्त होकर वस्त्र में सूतों के ताने-बाने के समान ओतप्रोतरूपसे एक दूसरी से मिलि हुई हैं। इसलिए इन सब नाड़ियों को वायुसञ्चाररक्षिका या भोगवहा नाड़ियाँ कहते हैं। मानव की अस्थिमय देह के ऊपर ये सब नाड़ियाँ इस प्रकार

---

* स्थूलदेह का भौतिक धर्म यथा—
अस्थिमांसं नखश्चैव त्वग्लोमानि च पञ्चमः। पृथ्वीपञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते॥
शुक्रशोणितमज्जा च मलमूत्रञ्च पञ्चमम्। अपां पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते॥
निद्राक्षुधातृष्णा चैव क्लान्तिरालस्यं पञ्चमम्। तेजः पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते॥
धारणं चलनं क्षेपः सङ्कोचः प्रसारस्तथा। वायोः पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते॥
कामःक्रोधस्तथा मोहो लज्जा लोभश्च पञ्चमः। नभःपञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते॥
पञ्चतत्त्वात् भवेत् सृष्टिस्तत्त्वात् तत्त्वं विलीयते। पञ्चतत्त्वात् परं तत्त्वं तत्त्वातीतं निरञ्जनम्॥
—ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्र, २०-२७

विन्यस्त हैं कि मानों अस्थियाँ जालद्वारा बिल्कुल आवृत प्रतीत होती हों। यथा—

यथाश्वत्थदले यद्वत् पद्मपत्रेषु वा शिराः।
नाड्यस्त्वेतासु सर्वासु विज्ञातव्यास्तपोधन॥

—योगियाज्ञवल्क्यम्, ४।४५

अश्वत्थ या पद्मपत्र के जीर्णता प्राप्त होने से उसमें जिस प्रकार शिराजाल दिखाई पड़ता है, जीवदेह भी उसी प्रकार समस्त नाड़ियों द्वारा परिव्याप्त हुई है।*

वायु से देह में दस प्रकार के वायुविकार उत्पन्न हुए हैं, उनमें प्राण ही मुख्यतम है। क्योंकि, एक प्राणवायु के वृत्तिभेदद्वारा उस प्राणवायु के ही विविध नाम सङ्कल्पित हुए हैं।

निःश्वासोच्छ्वासरूपेण प्राणकर्म समीरितम्।
अपानवायोः कर्मैतद्विण्मूत्रादिविसर्जनम्॥
हानोपादानचेष्टादिर्व्यानकर्मेति चेष्यते।
उदानकर्म तच्चोक्तं देहस्योन्नयनादि यत्॥
पोषणादि समानस्य शरीरे कर्म कीर्तितम्।
उद्गारादिर्गुणो यस्तु नागकर्म समीरितम्॥
निमीलनादि कूर्मस्य क्षुत्तृष्णे कृकरस्य च।
देवदत्तस्य विप्रेन्द्र तन्द्राकर्मेति कीर्तितम्॥
धनञ्जयस्य शोकादि सर्वकर्म प्रकीर्तितम्।

—योगियाज्ञवल्क्यम्, ४।६६-७०

* देह के ये सारे तत्त्व मेरे रचित "योगीगुरु" ग्रन्थ में विशद्‌रूप से लिखे हुए हैं।

अर्थात् प्राणवायु ही शब्दोच्चारण, निश्वास और प्रश्वास का कारण है। यह प्राणवायु कण्ठ से नाभि तक व्याप्त है एवं नासिकारन्ध्र, नाभि और हृदयदेश में विचरण किया करती है। अपानवायु गुह्य, मेढ्र, कटि, जङ्घा, उदर, नाभि, कण्ठ, ऊरु और जानुदेश में अवस्थित है,—इनके द्वारा मल-मूत्रादि की परित्यागक्रिया सम्पादित हुआ करती है। व्यानवायु चक्षु, कर्ण, गुल्फ, जिह्वा एवं नासिकादेश में अवस्थित है—इसके द्वारा प्राणायामविषय में कुम्भक, रेचक इत्यादि कार्य हुआ करते हैं। समानवायु शरीर-वह्नि के साथ मिलकर समस्त देह में व्याप्त होकर अवस्थिति करती है, एवं यह शरीरस्थ बहत्तर हजार नाड़ियों के अभ्यन्तर में विचरण करती है ; यह वायु भुक्त और पीत द्रव्यों के सारे रस लाकर देह का पुष्टिसाधन करती है। उदानवायु पद, हस्त एवं अङ्गों के सन्धिस्थानों में अवस्थान कर देह का उन्नयन और उत्क्रमणादि क्रियाएँ किया करती है।

पूर्वोक्त नागादि पञ्च उपवायु त्वक्, मांस, रक्त, अस्थि, मज्जा एवं स्नायु आदि धातुओं को आश्रय कर अवस्थिति करती हैं। इन पञ्चवायु में नागवायु के उद्‌गार और हिक्कादि, कूर्म के निमेष, उन्मेष और कटाक्षादि, कृकर की क्षुधा और पिपासा, देवदत्त का आलस्य, निद्रा और जृम्भणादि एवं धनञ्जय की शोक-हास्यादिरूपी क्रियाएँ हुआ करती हैं। अतएव वायुद्वारा समस्त कार्य सम्पन्न हुआ करते हैं। अस्थि, मांस, शिरा, मेद, मज्जा और नाड़ीविशिष्ट यह जड़देह केवल एक वायु के सहारे ही कर्मोपयोगी होती है। इसी कारण इस वायु का जीवरूप में वर्णन किया जाता है।

एते नाड़ीसहस्रेषु वर्तन्ते जीवरूपिणः।

—गोरक्षसंहिता, ३१

अर्थात् यह प्राणवायु ही हजारों नाड़ियों में जीवरूप में विचरण करती है।

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवितमुच्यते।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निबन्धयेत्॥

—योगशास्त्र

शरीर में जबतक वायु विद्यमान रहती है, तबतक देही जीवित रहता है। वह वायु देह से निष्क्रान्त होकर पुनः प्रविष्ट न होने से मृत्यु संघटित होती है। एक चैतन्य के सहयोग से इस जड़देह में वायु ही जीवरूप में समस्त दैहिक कार्य सम्पन्न कर रही है। देह केवल यन्त्रमात्र है एवं वायु उस यन्त्र को चलाने के लिए एक उपकरण है।

अन्नं पुंसाशितं त्रेधा जायते जठराग्निना।
मलं स्थविष्ठो भागः स्यान्मध्यमो मांसतां व्रजेत्।
मनः कनिष्ठो भागः स्यात्तस्मादन्नमयं मनः॥

—श्रुति

—प्राणिमात्र का ही भुक्त अन्न जठराग्निद्वारा तीन भागों में परिणत होता है ; उसमें स्थूलभाग मल, मध्यभाग मांस एवं शेषभाग मन रूप में परिगणित होता है ; तभी मन को अन्नमय कहते हैं।

अपां स्थविष्ठो मूत्रं स्यान्मध्यमो रुधिरं भवेत्।
कनिष्ठभागः प्राणं स्यात्तस्मात्प्राणो जलात्मकः॥

—श्रुति

—जल का स्थूलभाग मूत्र है, मध्यभाग रुधिर एवं शेषभाग प्राणरूप में परिगणित होता है ; इसी से प्राण को जलमय कहते हैं।

तेजसोऽस्थि स्थविष्ठः स्यान्मज्जा मध्यसमुद्भवा।
कनिष्ठा वाङ्मता तस्मात्तेजोऽन्नात्मकं जगत्॥

—श्रुति

—तेज अर्थात् घृतादि का स्थूलभाग अस्थि है, मध्यभाग मज्जा एवं शेषभाग वागिन्द्रियरूप में परिणत होता है, इसी से वागिन्द्रिय को तेजोमय कहते हैं।

रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा एवं मज्जा से शुक्र की उत्पत्ति हुआ करती है। शरीरस्थ वायु, पित्त और कफ ये तीनों भी धातु नाम से अभिहित होते हैं। वायु, पित्त और कफ ये त्रिधातु सत्त्व, रजः और तमोगुणयुक्त होकर ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूप में स्थूलदेह की सृष्टि, स्थिति और प्रलयकार्य संसाधित किया करती है।

ब्रह्म और जीव में विभिन्नता

वेदान्तमत से ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—कुछ हो भी नहीं सकता। तभी वेदान्त ने कहा है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म।

—छान्दोग्योपनिषद्, ३।१४।१

वृक्ष, लता, नदी, पर्वत, जीव, जन्तु, ग्रह, नक्षत्रादि जो कुछ भी वस्तुएँ हम पृथ्वी पर देख रहे हैं, ये सबकुछ ब्रह्म ही है। कारण, एक ब्रह्मवस्तु भिन्न द्वितीय वस्तु कहाँ से आयेगी ? सृष्टि के पूर्व जब कुछ भी नहीं था, तब केवलमात्र परब्रह्म पूर्णभाव से सर्वत्र वर्तमान था। उसने इच्छा की—मैं अनेक होऊँगा, अतः वह अनेक हुआ। और यह जगत् भी ब्रह्मवस्तु है एवं हमारी आत्माएँ भी अविद्यावच्छिन्न ब्रह्मात्मा हैं। जब मनुष्यरूपी अविद्यावच्छिन्न ब्रह्म तत्त्वज्ञान प्राप्त करता है, तभी वह स्वयं को सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म समझ सकते हैं। इस प्रकार स्वयं को ब्रह्म निश्चय करने में सक्षम होने का नाम ही मुक्ति है।

यद्यपि सृष्टि के पूर्व परब्रह्म के अतिरिक्त द्वितीय वस्तु कुछ भी नहीं थी, एकमात्र वही पूर्णरूप से अनन्त देश पर अधिकार कर वर्तमान था ; यद्यपि इस जगत् के सारे उपादानों का उसने बाहर से आहरण नहीं किया है, उसकी इच्छा से उसकी शक्ति से ही यह समस्त उत्पन्न हुआ था ; यद्यपि वह इसके सर्वस्व ही है ; तथापि पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, चन्द्र, सूर्य प्रभृति जो कुछ भी हम देख रहे हैं, यह समस्त ही जो जड़ और जीवभावापन्न ब्रह्म है—यह विश्वास नहीं किया जा सकता। क्योंकि अनन्तज्ञानमय ब्रह्म स्व-इच्छा से अभी इस मर्त्यलोक में संसारताप से तापित होकर जीविका के लिए सदसत् सारे कार्यों का सम्पादन कर रहा है, इस बात पर भला कौन सहसा विश्वास स्थापन कर सकता है ?

मेरा "मैं" ही ब्रह्म है—यह कठोर सत्य है। किन्तु मायापरिशून्य मैं ब्रह्म हूँ ; मायोपाधिक मैं ही जीव हूँ। जीव में चैतन्य और चैतन्यचालक शक्ति विद्यमान है। चैतन्य ईश्वर है, चैतन्यचालक शक्ति माया है। जिस प्रकार वासना के सहयोग से जीव नानारूपी, नानाक्रियापरतन्त्र हुए हैं, उसी प्रकार माया के सहयोग से चैतन्य नानाक्रियामय होकर जगत् और जीवरूप में प्रकाशित हुआ है। जीव माया-अधिष्ठित चैतन्य है, मायायुक्त ब्रह्म है।

चैतन्य और माया विभिन्न पदार्थ तो नहीं हैं, किन्तु विभिन्न क्रियामय हैं। चैतन्य के जड़भाव में रूपान्तरित होने से जड़ और चैतन्यमध्यवर्ती उभय के सम्मिश्रण से चैतन्य-प्रकाशित शक्ति को माया या ईश्वरवासना कहते हैं। यदि चैतन्य क्रियापर अवस्था में अवस्थित नहीं होता है, तो माया चैतन्य में लय प्राप्त करती है। माया के लय पाने से ही जगत् लयप्राप्त करता है। चैतन्य को प्रकाशित और क्रियापरक करने के लिए काल और सत्, ये दो नित्य ईश्वरांश चैतन्य से जो स्थूल अवस्था लाते हैं, वही माया या प्रकृति है। अतएव एक चैतन्य ही वासना में परिवर्तित होता है। सूर्य जिस प्रकार अपने स्थूल-भूतरूप में जल वर्षण करते हैं, फिर सूक्ष्मभाव से उसे ग्रहण

करते हैं, उसी प्रकार ईश्वर वासनासंयुक्त होकर जीव होते हैं, फिर वासनाविमुक्त होने पर स्वयं होते हैं। ईश्वर चैतन्य के आकार हैं। उनका सक्रियभाव या वासना उन्हीं में लीन हो जाती है या हो सकती है ; जिस अंश में वासना या जगत् नहीं होता, वह अंश नित्य और सर्वाधाररूप में वर्तमान है। मैं पहले ही कह चुका हूँ, साधनचतुष्टयसम्पन्न नहीं होने से इन सारे विषयों की धारणा नहीं होती है। यथार्थ में आत्मा एक है, अनेक नहीं। एक ही आत्मा मन के बहुत्व में प्रकाशित है। अतएव जीव असंख्य हैं, आत्मा असंख्य नहीं है। एक ही आत्मा देह-परिच्छेदों से नाना देहों में भेदप्राप्त के समान विराज़ रहा है। एक दीप के जलने या बूझने से जिस प्रकार अन्यदीप नहीं जलते या नहीं बूझते हैं, उसी प्रकार एक के बन्धन या मोक्ष से अन्य को बन्धन या मोक्ष नहीं मिलता। मन प्रत्येक शरीर में विभिन्न हैं ; अतएव सुख, दुःख, शोक, सन्ताप, जन्म, मृत्यु, मुक्ति इत्यादि भी भिन्न भिन्न हैं। अतएव ब्रह्म और जीव एक हैं। यथा—

ईश्वरेणापि जीवेन सृष्टं द्वैतं विविच्यते।
विवेके सति जीवेन हेयो बन्धः स्फुटीभवेत्॥

—पञ्चदशी, ४।१

एक एवं अद्वितीय ब्रह्म के कार्य-कारणभावजन्य जीव और ईश्वरभेद से दो प्रकार की उपाधियाँ हैं। कारणभावजन्य अन्तर्यामी ईश्वरोपाधि है एवं कार्यभावजन्य अहं-पदवाच्य जीवोपाधि हुई है। ब्रह्म अद्वैत होकर भी कार्य-कारणजन्य द्वैतरूप में प्रतीयमान हुआ है। इस द्वैतभाव के निवारण का उपाय विवेक है। जीव को ज्ञान होने पर जीव और ईश्वररूप उपाधियों का नाश होकर केवल शुद्धचैतन्यमात्र अवशिष्ट रहता है। वही अवशिष्ट शुद्धचैतन्य ही अद्वैत ब्रह्म है। इस प्रकार अद्वैत ब्रह्मज्ञान होते ही संसारबन्धन से परिमुक्त हुआ जा सकता है। महाप्राज्ञ दत्तात्रेय ने कहा है—

तत्त्वमस्यादिवाक्येन स्वात्मा हि प्रतिपादितः।
नेति नेति श्रुतिर्ब्रूयादनृतं पाञ्चभौतिकम्॥

—अवधूतगीता, १।२५

"तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्यों द्वारा आत्मा को प्रतिपन्न किया गया है एवं "नेति नेति" अर्थात् "यह नहीं है", "यह नहीं है" इत्यादि वाक्यों द्वारा इस मिथ्याभूत पाञ्चभौतिक जगत् को निरास कर सारे श्रुतिवाक्यों ने एक परिशुद्ध आत्मा को ही प्रतिपन्न किया है। अतएव मैं ही ब्रह्म हूँ एवं वही ब्रह्म ही मैं हूँ, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। क्योंकि, ऐसा न होने से "अहं ब्रह्मास्मि", "तत्त्वमसि", "सर्वं खल्विदं ब्रह्म", "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि महावाक्यों से विरोध हो जायेगा। शास्त्रों ने तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ किया है—

तत्त्वंपदार्थौ परमात्मजीवकावसीति चैकात्म्यमथानयोर्भवेत्॥
प्रत्यक्परोक्षादिविरोधमात्मनोर्विहाय संगृह्य तयोश्चिदात्मताम्।
संशोधितां लक्षणया च लक्षितां ज्ञात्वा स्वमात्मानमथाद्वयो भवेत्॥

—रामगीता, २५-२६

—तत् पद का अर्थ परमात्मा और त्वं पद का अर्थ जीवात्मा है। इस "तत्" और "त्वं" पद का जो ऐक्य है अर्थात् परमात्मा के साथ जीवात्मा का जो ऐक्य है, वही "असि" पद के द्वारा साधित होता है। यदि कहो, सर्वज्ञ परमात्मा के साथ अल्पज्ञ जीवात्मा का ऐक्य कैसे सम्भव है, तो कह रहे हैं "तत्" और "त्वं" पदार्थस्वरूप ईश्वर और जीव का परोक्षत्व, सर्वज्ञत्वादि और अपरोक्षत्व, अल्पज्ञत्वादिरूप जो विरुद्धांश सब हैं, उनका परित्यागपूर्वक "त्वं" पद का शोधन कर लक्षणाद्वारा लक्षित ईश्वर और जीव के अविरुद्धांशस्वरूप चित्पदार्थमात्र को ग्रहण करने से ब्रह्मचैतन्य एवं जीवचैतन्य में केवल एक चैतन्य अवशिष्ट रहता है ; अतः चैतन्यपक्ष में ऐक्य सम्भव हो जाता है।

इत्थमैक्यावबोधेन सम्यग् ज्ञातं दृढं नयैः।
अहं ब्रह्मेति विज्ञानं यस्य शोकं तरत्यसौ॥

—शङ्करविजय, ९।४३

ऐक्य शब्द से यह विवेचना करनी उचित नहीं है कि दो वस्तुओं के परस्पर संयोगद्वारा ऐक्य करना। तब क्या है ?—ऐक्य अर्थात् एकताभाव ; यह एक ही है, ऐसा ज्ञान होना। जो वस्तु पहले थी एवं अभी जो वस्तु है, यह वही वस्तु है ; वह वस्तु एक और यह वस्तु दूसरी है, ऐसा भाव नहीं। केवल वही वस्तु ही भ्रमवश अन्य वस्तु के रूप में कल्पित हो रही है मात्र ; अतः यहाँ द्वैतता स्वीकार्य नहीं है। यहाँ ऐक्य ज्ञान दो वस्तुओं की एकता नहीं समझा रहा है ; केवल स्मरण करा दे रहा है कि पहले तुम जो थे—वही तुम ही अब यह हुए हो। इस प्रकार के ऐक्य ज्ञान से जिनको प्रतीति है या दृढ़ प्रत्यय जन्मा है, कि "वही ब्रह्म मैं हूँ" उनको किसी प्रकार का शोक नहीं होता है। वे समस्त सांसारिक दुःखों से उत्तीर्ण हो जाते हैं। इस विषय में श्रुति भी है कि "तरति शोकं आत्मवित्" अर्थात् आत्मज्ञानी व्यक्ति को किसी प्रकार का शोक नहीं रहता है। अतएव "तत्त्वमसि" महावाक्यद्वारा एक परिशुद्ध आत्मा को ही प्रतिपन्न किया गया है। अतः ब्रह्म और जीव परस्पर भिन्न नहीं हैं।

जीव और ब्रह्म एक हैं। किन्तु उस एक में भी भेद है ; अतः भेद का अर्थ पहले समझना होगा। भेद तीन प्रकार के हैं—सजातीय, विजातीय और स्वगत। यथा—

वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः।
वृक्षान्तरात् सजातीयो विजातीयः शिलादितः॥

—पञ्चदशी, २।२०

वृक्ष के अपने पत्र, पुष्प और फल प्रभृतियों में जो भेद हैं, उनका नाम स्वगत भेद है। आम्रवृक्ष भी वृक्षजाति के अन्तर्भुक्त है ; कदम्बवृक्ष भी

वृक्षजाति के अन्तर्भुक्त है ; आम्रवृक्ष और कदम्बादि वृक्षों में जो परस्पर भेद है, उसका नाम सजातीय (समानजातीय) भेद है। वृक्ष के वृक्षजाति भिन्न प्रस्तरादि अन्यजातीय पदार्थों से जो भेद है, उसका नाम विजातीय भेद है। अब "एकमेवाद्वितीयम्" यह ईश्वरपरक श्रुतिवाक्य त्रिविध भेद-शून्यत्व का परिचायक है। ईश्वर कैसा है ?—"एक" अर्थात् वह स्वगतभेदशून्य है, "एव" अर्थात् सजातीयभेदशून्य एवं "अद्वितीय" अर्थात् विजातीयभेदशून्य है। स्वगत, सजातीय और विजातीय भेदपरिशून्य परमपदार्थ ही परमेश्वर है। वही सत् है, इसके अतिरिक्त समस्त ही असत् है। अविद्याप्रभाव से व्यावहारिक दशा में स्वप्नसन्दर्शन के समान असत् सत् की तरह प्रतीत होता है मात्र। जिस प्रकार नींद टूटने पर मनुष्य पहले जो था, उसी रूप में अपने को पाता है, उसके स्वप्नदृष्ट सुखों के राज्यादि अन्तर्हित हो जाते हैं, उसी प्रकार अविद्या की नींद टूटते ही जीव स्व-स्वरूप को प्राप्त होता है। अभी हमें समझने की कोशिश करनी चाहिए कि यह भेद ईश्वर और जीव में किस जातीय है ? ईश्वर और जीव में स्वगतभेद है।

अणोरणीयान् महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ३।२०

—आत्मा अणु से अणीयान् एवं महत् से महीयान् है। वह ब्रह्मानन्द में जीव की गुहा में वर्तमान है। वह भोग या कर्म, क्षय या वृद्धिरहित एवं महिमान्वित और ईश्वर है। उसके प्रसाद से जो व्यक्ति उसे जान सकता है, उसके सारे कलुष विनष्ट हो जाते हैं।

इसमें यही बात कही गयी कि वह ब्रह्म सर्वजीवों में ही है। यह ईश्वर कैसा है ? महामुनि पतञ्जलि ने कहा है—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

—पातञ्जलयोगदर्शन, १।२४

क्लेश, कर्म, विपाक और आशय जिसे स्पर्श नहीं कर सकते, समस्त संसारी आत्मा और समस्त मुक्तात्मा से जो पृथक् या स्वतन्त्र है, वही ईश्वर है। क्लेश-कर्मादि जीव में हैं, ईश्वर में नहीं। परिणामतः ईश्वर जीवों के समान क्लेश-भोगी नहीं है, वह सर्वक्लेशविमुक्त है। जीवों के समान उसको फल-भोग नहीं होता ; उसको सुख, दुःख, जन्म और आयु का भोग नहीं होता ; वह नित्य, निरतिशय, अनादि और अनन्त है। जीवात्मा जिस प्रकार चित्त के साथ एकीभूत रहने के कारण वासना नामक संस्कार के वशीभूत है, वह वैसा नहीं है; वह अचित्त है, उस कारण वह वासनारहित है। जन्य ज्ञान और जन्य इच्छा के साथ उसके स्वाभाविक ज्ञान और स्वाभाविक इच्छा की तुलना नहीं होती। वह एक, असाधारण, अचिन्त्यशक्तियुक्त और देहादिरहित है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ(त्व)बीजम्।

—पातञ्जलयोगदर्शन, १।२५

उसे निरतिशय ज्ञान होने के कारण वह सर्वज्ञ है, अर्थात् उसमें सर्वज्ञता का अनुमापक परिपूर्ण ज्ञानशक्ति विद्यामान है, जीव में यह नहीं है। उसके स्वरूप का अन्य को बोधगम्य कराने के लिए अनुमान का सहारा लेना पड़ता है। वह अनुमान ऐसा है—सभी मानवों को कुछ-न-कुछ ज्ञान है ; सभी कुछ-न-कुछ अतीत, अनागत और वर्तमान समझ सकते हैं ; कोई अल्पज्ञ है, तो कोई तदपेक्षा अधिकज्ञ, और उसकी अपेक्षा भी अधिकज्ञ है। यूँ समझो, कि ईश्वर की अपेक्षा अधिकज्ञ और कोई नहीं है, वही परमगुरु, परात्पर, परमेश्वर है। जिस प्रकार अल्पता की अन्तिम सीमा परमाणु है, और बृहत्त्व की चरम सीमा आकाश है, उसी प्रकार ज्ञान और क्रियाशक्ति की अल्पता की पराकाष्ठा क्षुद्र जीव एवं उसके आतिशय्य की पराकाष्ठा ईश्वर है।

(स) पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

—पातञ्जलयोगदर्शन, १।२६

—वह पूर्व पूर्व सृष्टिकर्ताओं का भी गुरु है अर्थात् उपदेष्टा है। वह काल के द्वारा परिच्छिन्न नहीं है, सभी कालों में ही उसका अस्तित्व है।

अब जीव-ईश्वर में स्वगत भेद है। स्थूल शब्दों में, ब्रह्म असली सोना है, और जीव खादमिश्रित सोना। कोई कम खाद का, तो कोई अधिक खाद का होता है। अनेक खाद में अल्प मूल्य का स्वर्ण, अल्प खाद में अधिक मूल्य का स्वर्ण है। किन्तु असली सोना को भी सोना कहते हैं, और अल्पाधिक जितनी खाद भी मिलायी जाय, उसे भी सोना कहते हैं। किन्तु उनमें भी भेद है ; वर्ण और गुण का पार्थक्य है। किन्तु स्वर्णकार जिस प्रकार कर्म के या पुरुषकार के बल से आग में गलाकर पदार्थविशेष की सहायता से खादमिश्रित सोना को पुनः शुद्ध सोना कर सकता है और तब शुद्ध के साथ उसका कोई पार्थक्य नहीं रह जाता है, उसी प्रकार जीव जो वासना-कामना की खाद के कारण ब्रह्म से स्वगतभेदसम्पन्न है,—उस वासना-कामना की खाद को ज्ञान की भट्टी में गलाकर दूरीभूत कर पाने से, मुक्त होकर जीव जो ब्रह्म है, वही ब्रह्म हुआ करता है।

तत्त्वज्ञानी महात्मागण कहते हैं, ब्रह्म और जीव किस प्रकार के हैं ? जिस प्रकार समुद्र और समुद्रोत्थित बुद्‌बुद। जल और जलबुदबुद में स्वगतभेद है, फलतः एक ही बात है। तभी मैं रामप्रसाद के साथ गाता हूँ—

प्रसाद बोले जा छिलि भाई ताई होबीरे निदान काले।
जेमन जले उदय जलबिम्ब जल होये से मिलाय जले॥

[रामप्रसाद कहता है—अरे भाई ! तुम जो थे, मोक्षकाल में वही होओगे। जिस प्रकार जल से निकला जल बुलबुले जल होकर फिर जल में मिल जाता है।]

अनन्तरूप में प्रमाण और प्रतीति

परब्रह्म परमेश्वर अनादि और अनन्त हैं। अनन्तवस्तु की सत्ता ही स्वीकार्य है; तद्भिन्न और किसी वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार्य नहीं हो सकती। कारण अनन्तसत्ता एक छोड़ दो नहीं हो सकती। जो वस्तु अनन्त है, वह सर्वत्र व्याप्त है। जो अनन्तरूप में सर्वव्यापी है, तद्भिन्न अन्य किसी वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करने से फिर अनन्तवस्तु का सर्वव्यापित्व नहीं रह जाता। जो वस्तु अनन्त है, उसमें समस्त वस्तुएँ ही अवस्थान करती हैं।

यह बात यदि प्रमाणित और सत्य है, तो इस परिदृश्यमान जगत् में स्वतन्त्र सत्ता असत्य है। जगत् फिर अनन्तसत्ता से भिन्न होगा किस प्रकार ? यदि कहो कि जगत् स्वतन्त्र पदार्थ है, तो कहना होगा कि परब्रह्म अनन्त नहीं है। अतएव जगत् ब्रह्म में ही अवस्थान कर रहा है। एक ब्रह्म ही विश्वव्यापी होकर समस्त पदार्थों में ओतप्रोत है। किसी भी प्रकार यह युक्ति खण्डित नहीं हो सकती। जो लोग कहते हैं कि परमेश्वर सर्वव्यापी है, फिर भी जगत् उस परमेश्वर से स्वतन्त्र और भिन्न पदार्थ है, वे वस्तुतः परमेश्वर की अनन्तसत्ता के अस्तित्व और सर्वव्यापित्व को स्वीकार नहीं करते हैं। जभी कहा, परमेश्वर सर्वव्यापी और अनन्त है, तभी जगत् की स्वतन्त्र और विभिन्न सत्ता को अस्वीकार किया। अतएव ब्रह्म यदि अनन्त है, तो अवश्य कहना होगा, यह जगत् और ब्रह्माण्ड उस ब्रह्म के शरीर और रूप हैं, वह अनन्त विश्व के वस्तुरूप में अवस्थित है एवं यह अनन्त विश्व उसी में अवस्थान कर रहा है।

जो अनन्त है, वह अवश्य अनादि है। जिसकी आदि है, उसकी सीमा और समाप्ति है, किन्तु अनन्त की सीमा और समाप्ति सम्भव नहीं है। अतः अनन्तपदार्थ अनादि है। इस अनन्तपदार्थ का ही विकास और देह यदि विश्व है, तो यह विश्व अवश्य अनादि है। यह विश्व, अनादि और अनन्त नारायण का रूप के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। व्यासदेव ने महाभारत के

शान्तिपर्व, मोक्षधर्म, द्व्यशीत्यधिकशततम (१८२) अध्याय में ब्रह्म का रूप इस प्रकार से वर्णन किया है—

पर्वतसकल उसकी अस्थियाँ हैं, मेदिनी मेद और मांस है, समुद्रचतुष्टय रुधिर हैं, आकाश उदर है, समीरण निःश्वास है, तेज अग्नि है, समस्त स्रोतस्वती शिराएँ एवं चन्द्र और सूर्य उसके नेत्रद्वयरूप में परिगणित हुए एवं उसका मस्तक आकाशमण्डल में, पदद्वय भूमण्डल में और हस्तसमुदाय दिङ्मण्डल में अवस्थान करने लगे।

भगवद्गीता में व्यासदेव ने वासुदेव की विराट् विश्वमूर्ति का इस प्रकार से वर्णन किया है—

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ- मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं- पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं- पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।।
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता- द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्।।
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं- त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।।
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य- मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं- स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्।।
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं- लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्।।

—श्रीमद्भगवद्गीता, ११।९-२०

हिन्दू धर्मशास्त्र में पौराणिक भाषा में नारायण का विश्वरूप इसी प्रकार से वर्णित हुआ है। उस शास्त्रमत से शुद्ध नारायण अनादि और अनन्त है ऐसी बात नहीं, जो विराट् विश्व नारायण का रूप और देह है, वह विश्व भी अनादि और अनन्त है। विश्व अनादि और अनन्त है एवं यह संसार भी अनादि और अनन्त है। यह संसारस्थ जीवस्रोत उस अनादि और अनन्त देव का स्थूलशरीर मात्र है। इस संसार में जीवस्रोत अनन्तपरम्परा से चला आ रहा है। उसका आदि अनुमान कल्पना मात्र है। तर्क और प्रमाण से वह निर्णित नहीं होता। जीवस्रोत का आदि देखने के लिए हमें अनन्तवंशपरम्परा में उपनीत होना पड़ता है ; फिर भी हम उसका आदि खोज नहीं पाते हैं। संसार के जीवस्रोत का अवलम्बन कर जितना ऊपर हम क्यों न उठें, अन्त में अनन्तदेश में मिल जाते हैं। तब तो कहा जा सकता है, संसार और जीवस्रोत अनादि हैं। उद्भिद-जीव को तो देखो, वह भी अनादि है। किसी वृक्ष का आदि तुम खोज सकते हो ? बीज से वृक्ष जनम रहा है, फिर वृक्ष

से बीज जनम रहा है। वृक्ष और बीज चक्र के समान घूम रहे हैं। प्रथम बीज की कल्पना करने से प्रथम वृक्ष की कल्पना करनी पड़ती है, उसी प्रकार प्रथम वृक्ष की कल्पना करने से प्रथम बीज की कल्पना करनी होती है। मनुष्य का आदि कहाँ है, वह भी मनुष्य के निकट घोर प्रहेलिका है। भूमिष्ठ होने के पूर्व जीव जरायु में रहता है ; जरायु के पूर्व जीव शोणितशुक्रमय बीज में रहता है। यह शोणित-शुक्र जैविक पदार्थ से परिपूर्ण रहता है। उस जैविक पदार्थ के मिलन और मिश्रण से जीव की उत्पत्ति है। अतएव जीव के पूर्व जैविक पदार्थ विद्यमान था ; वह जैविक पदार्थ और कोषसमुदाय मातापिता के शरीर में वर्तमान रहता है। मैं स्वयं जिस रूप में उत्पन्न हूँ, मेरे माता-पिता भी उसी रूप में उत्पन्न हैं। मैं माता-पिता का आत्मज हूँ। फिर मेरे माता-पिता वे अपने माता-पिता के आत्मजा और आत्मज हैं। शरीर से शरीर की उत्पत्ति है। शारीर पदार्थ भिन्न शारीर पदार्थों की उत्पत्ति के कारण कोई दूसरा नहीं हो सकता है। उद्भिद का जिस प्रकार बीज से वृक्ष है, वृक्ष से बीज है, उसी प्रकार मनुष्य से बीज है, बीज से मनुष्य है। आज जिस रूप में मनुष्य उत्पन्न है, सौ वर्ष पहले, सहस्र बर्ष पहले भी उसी प्रकार से उत्पन्न था। इस नियम का अपवाद नहीं हुआ है, हो भी नहीं सकता। अतः मनुष्य का आदि पकड़ने जायँ तो प्राकृतिक नियमानुसार अनन्तपर्याय आ पड़ते हैं। अनन्त मनुष्यश्रेणी वंशपरम्परा से जनमती आ रही है। इस वंशपरम्परा का अन्त नहीं है। दस सहस्र वर्ष पहले मनुष्य की उत्पत्ति यदि हठात् शून्य से सम्भव है, तब आज भी हो सकता है। किन्तु आज तो किसी जीव को हठात् शून्य से जनमते नहीं देखते हैं। ऐसी सम्भावना की बात केवल कल्पना मात्र है—मूर्खों की कल्पना। प्राकृतिक नियमों का कहीं अपवाद नहीं है, अपवाद की सम्भावना भी नहीं है। जो मनुष्य के दृष्टान्त में सत्य है, वह दूसरे जीवों में भी सत्य है। अतः जीव अनादि है। यह जीवसमूह उस अनन्त देव के अनन्त विश्व में लीन है। अनन्त देव के

शरीर में जीवदेह किस प्रकार से लीन है, यह प्रदर्शित हो रहा है। मैं मनुष्य का दृष्टान्त लेकर इस तत्त्व की आलोचना करूँगा। जो मनुष्यजीव में घटता है, वह सर्वजीवों में भी घटता है।

जिसे मैं अपनी देह कहता हूँ, उस देह की सीमा कहाँ है ? कहाँ, स्थूलदेह तो मेरी सीमा नहीं है। मैं तो अनन्तदेश में लीन हूँ ! महासागर का एक छोटा-सा द्वीप जिस प्रकार महासागर का अङ्ग है, मैं भी उसी प्रकार अनन्तदेश के महासागर का एक लघुतम द्वीप मात्र हूँ। मेरे बाहर चारों ओर आकाश है, मेरे अभ्यन्तर में देहमय आकाश है। बाहर का आकाश मेरी देह के भीतर ही भीतर अनुप्रविष्ट है। मेरी स्थूलदेह छिद्रमय है, अस्थियाँ छिद्रमय हैं, समस्त नाड़ियाँ छिद्रमय हैं। देह का प्रत्येक अंश, अंश का प्रत्येक अंश एवं उसका भी अणुसमुदाय छिद्रमय है। देह का ऐसा कोई परमाणु नहीं, जो छिद्रमय नहीं है। तब आकाश मुझमें कहाँ नहीं है ? आकाश मेरी देह में सर्वत्र वर्तमान है। वह आकाश ही तो अनन्त आकाश में आकर मिल गया है। अतएव अवश्य कहना होगा कि मैं अनन्त आकाश में मिला हुआ हूँ।

मैं वायुसागरवेष्टित हूँ। इस वायुसागर में मैं एक लघु द्वीप हूँ। केवल द्वीप नहीं, वायु इस द्वीप के हर स्तर में प्रविष्ट है। वायु ही इस द्वीप का अङ्ग है। मेरी देह के किस स्थान में वायु नहीं है ? वह वायु क्या बाहर की वायु के साथ मिलित नहीं है ? बाहर की वायु का अन्त कहाँ है ? कौन जाने अनन्तदेश किस पदार्थ से परिपूर्ण है ? जो वायुसागर अथवा तत्सम पदार्थ अनन्तदेश में व्याप्त है, जो क्रमशः घनीभूत होकर तुम्हारी देह को स्पर्श कर रही है, वह वायु देहाभ्यन्तरिक समुदाय आकाशदेश पूर्ण कर तुम्हें अनन्त वायुसागर के साथ मिला रखी है। तुम्हारे शरीर में प्रविष्ट होकर प्रत्येक रोमकूप से देहाभ्यन्तर में जाकर, शरीर के प्रत्येक छिद्र और अणुछिद्र को पूर्ण कर, प्रत्येक अस्थि के छिद्रदेश में प्रत्येक नाड़ी के आकाशदेश

में अवस्थित और अनुप्रविष्ट होकर देह में कितनी तरङ्गों पर तरङ्गें उठा रही है। वायुस्रोत जो केवल शरीर के बाहर अवस्थान कर रहा है ऐसा नहीं, देह के अभ्यन्तर में भी उसका कार्य चल रहा है ; वायुस्रोत जो केवल अनन्त वायुसागर में प्रवाहित हो रहा है, ऐसी बात नहीं, देहजगत् के आभ्यन्तरिक आकाश में भी वह प्रवाहित है। वायु ने हमारे शरीर को अनन्तदेश के साथ मिला दिया है। वह केवल नासिका के रन्ध्र से जो देहाभ्यन्तर में जा रही है ऐसी बात नहीं, देह के सर्वदेशों से होकर अनुप्रविष्ट हो रही है एवं देह को अनन्तदेश के साथ एकत्र कर रखी है। यह वायु ही शरीर का प्राण है ; जीव वायु में नियत अवस्थान कर जीवित रहा है। जीव की चारों ओर जैसा अनन्त आकाश है, वैसा ही अनन्त वायुसागर है ; जीव वायुसागर में मिला हुआ है। रस और अग्नि इस वायुद्वारा ही देह में विचरण कर रहे हैं। जीव वायुमय है, वायु उसमें ओतप्रोत है।

बाह्यजगत् में शुद्ध आकाश और वायुराशि के द्वारा जो हमलोग अनन्त आकाश में मिले हुए हैं, ऐसी बात नहीं, अग्नि और रस भी हमें अनन्त के साथ मिला चुके हैं। बाह्यजगत् भी अग्नितेजोमय है, हमारे शरीर भी अग्निमय हैं। अग्नि ने हमारी सम्पूर्ण देह को जीवित और उष्ण कर रखा है। बाहर की अग्नि हमारे गात्र को कभी शीतल, कभी उष्ण कर रही है। जो अग्नि बाहर वर्तमान है, वही अग्नि देहाभ्यन्तर में अवस्थित है। केवल स्थानविशेष में अवान्तर कारणवशतः उसमें आधिक्य और अनाधिक्य हो रहा है। निःश्वास-प्रश्वास इस अग्नि को जला रहे हैं और उसकी उष्णता को बाहर ला रहे हैं। बाहर का उत्ताप छिद्र द्वारा देह में अनुप्रविष्ट हो रहा है, प्रविष्ट होकर देहाग्नि की रक्षा कर रहा है। देह का ताप फिर छिद्र से बाहर के साथ मिल रहा है। बाहर के अनन्तदेश में जिस प्रकार अग्नि कहीं लीनावस्था में, कहीं स्फुरितावस्था में है, शरीर में भी उसी प्रकार है। बाह्यजगत् के प्रभाव से वह कभी उद्दीप्त, तो कभी ईषत् आविर्भूत हो रही

है। देह के प्रत्येक परमाणु में अग्नि समाश्रित है। वह लीन अग्नि कभी उद्रिक्त, और कभी विलीन हो रही है। जीव अग्निमय होकर अनन्त ब्रह्माण्ड में मिल गया है। जीव के देहाभ्यन्तर में हर क्षण जो सृष्टिकार्य चल रहा है, जिसके द्वारा अन्न का और रस का परिपाक होकर अपनी देह का पुष्टिसाधन हो रहा है, वह सृष्टिव्यापार अग्नि के बिना सम्पन्न हो नहीं सकता। सृष्टि अग्निमय है, ब्रह्माण्ड अग्निमय है, अग्नि ब्रह्माण्डमय है और अनन्तदेश में विस्तृत है—आकाश में, मेघ में, विद्युत् में, सूर्य में, चन्द्र में, नक्षत्र में सर्वत्र परिव्याप्त है। एक ही अग्नि जीव को अनन्त के साथ मिलाकर रखी हुई है।

केवल आकाश, वायु और अग्नि ही जीव को अनन्त के साथ मिलाकर रखे हुए हैं क्या ? जल और रस ने भी उसे अनन्त के साथ एकत्रीभूत किया है। मनुष्य का देहागार रस से परिपूर्ण है, वायु भी रस से परिपूर्ण है। जो रस वायु को सिक्त कर शीतल कर रहा है, वही रस उसी वायु के साथ देहाभ्यन्तर में प्रविष्ट होकर शरीर को स्निग्ध कर रहा है। शरीर का उत्ताप इस रस से कुछ अंश में प्रशमित होकर मन्दीभूत हो रहा है। शरीर बहिर्देशीय रस से प्लावित होकर अनन्त जगत् के रस में मिला हुआ है। वायुतरङ्ग उस रस को देह के अन्तर-अन्तर में, शिराओं में, कूप-कूप में, अस्थि-अस्थि में प्रवाहित कर रही है। वायु स्वयं जिस प्रकार देह के समस्त आकाशदेश को परिपूर्ण कर रखी है, साथ-साथ जागतिक बाह्यरस लेकर शरीर के भी सभी परमाणुओं को सिक्त कर दे रही है। हम जो समस्त पानीय ग्रहण करते हैं, वह परिपाककार्य में व्यवहृत होकर प्रायः निःशेषित हो जाता है। किन्तु शरीर का समस्त रस किस उपाय से आहृत हो रहा है ? वह रस क्या बाह्यजगत् का वायुसञ्चारित रस नहीं है ? अतएव जो रस अनन्त जगत् की वायु के अन्तर-अन्तर में प्रविष्ट और संविद्ध हुआ है, उस रस ने हमारे शरीर में अनुविद्ध होकर जगत् के रस के साथ शरीर को रससिक्त कर अनन्त के रस के द्वारा शारीरिक परमाणु-पुञ्ज को रसप्लावित कर रखा है। शरीर का

जल, श्लेष्मा, पित्त, स्वेद और शोणित केवल जो पानीय द्वारा अनुप्राणित हैं, ऐसी बात नहीं ; अनन्त आकाश के रस से भी वे परिवर्धित और प्रशमित हो रहे हैं। शरीरस्थित त्वगादि इन्द्रियसमुदाय वातात्मक प्राणद्वारा ही परिवर्धित हुआ करते हैं। फलतः जल, वायु और अग्नि निरन्तर जीवों के शरीर में अवस्थान कर केवल जो उनकी जीवन-रक्षा कर रहे हैं ऐसी बात नहीं, मनुष्यदेह को अनन्तदेह के साथ मिला रखे हैं।

जल, वायु, अग्नि और व्योम, इस चतुर्भूत द्वारा मानवदेह किस प्रकार अनन्त के साथ एकाकार हो चुकी है, यह प्रदर्शित हुआ। अब पञ्चम भूत क्षिति की बात होगी। यदि हमारा पृथ्वीतल अनन्त का अंशमात्र है, यदि पृथ्वीदेश सच्छिद्र आकाशमय है, यदि सच्छिद्र आकाशमय भूमण्डल वायुद्वारा परिपूर्ण है, यदि अग्नि क्षितितल के स्तर-स्तर पर संविद्ध और विलीन रहती है, तब यह कठिन मेदिनीमण्डल अपनी कठिन सत्ता के साथ अनन्तदेश में मिला हुआ है नहीं तो क्या ? हमारी देहयष्टि भी जो उस पृथ्वीदेश का अंशमात्र है उसमें फिर क्या सन्देह है ? यदि यह देह क्षिति का ही अंश है एवं क्षिति यदि अनन्त विश्व का अंश है, तो हमारा शरीर इस अनन्त विश्व का अंश किस प्रकार नहीं है ? और भूमण्डल यदि विश्व के साथ एक है, यदि अनन्त विश्व भूमण्डल को एक साथ मिलाकर रखता है, तो इस मनुष्यदेहरूपी भूमण्डल का अंश भी अनन्तदेश के साथ मिला हुआ है। भूमण्डल में पञ्चभूत घनीभूत हुआ है मात्र। मानवदेह जिसप्रकार इन्द्रियात्मक पञ्चभूतों की घनीभूत मूर्ति है, भूमण्डल भी उसी प्रकार अनन्तदेश की एक घनीभूत मूर्ति है। ब्रह्माण्ड के अनन्त राज्य में और अनन्त आकाश में इस प्रकार कितनी करोड़ों-करोड़ों घनीभूत मूर्तियाँ हैं यह कौन कह सकता है ? जिस प्रकार अनन्त विश्व की इयत्ता नहीं है, उसी प्रकार गगनदेश की ज्योतिष्कराजि की भी इयत्ता नहीं है। अनन्त आकाश के स्थान-स्थान पर ये समस्त घनीभूत मूर्तियाँ स्थापित और भ्राम्यमाण होकर रही हैं। अनन्तदेश

का जो अंश पृथ्वीतल के निकटवर्ती है, उसी अंश में जो सूक्ष्मभूतसमुदाय उत्पन्न हुए हैं, उसी के घनीभूत होने से पञ्चभूतात्मक पृथ्वी और तदुपरिस्थ पञ्चभूतात्मक प्राणिपुञ्ज सृष्ट हुए हैं। ये समस्त पञ्चभूत पृथ्वीदेश की पञ्चीकृत भूतराशि से विकीर्ण होकर अनन्तदेश में कितनी दूर विस्तीर्ण हुए हैं, यह कौन कह सकता है ? उस सीमा के पार भी इस समुदाय भूत ने फिर क्या आकार धारण किया है, यही भला कौन कह सकता है ? यह पञ्चभूतसमुदाय फिर किस आकार में परिणत होकर किसी लोक में घनीभूत अवस्था में हैं, यह केवल अनन्तदेव ही जानते हैं। इस समस्त लोकमण्डलों में देवतागण फिर किस प्रकार सूक्ष्माकार में गठित हैं यही भला कौन जानता है ? वह चाहे जो भी हो, अनन्तदेश जिसके द्वारा भी परिपूर्ण हो न क्यों, यह भूमण्डल जब उसका कणमात्र है, तब उस कण में भूमण्डलस्थ प्राणिपुञ्ज जो अनन्तदेश के साथ मिले हुए हैं, उसमें और सन्देह नहीं हैं। स्वयं भूमण्डल ही जब अनन्त का कणमात्र है, भूमण्डल के प्राणिपुञ्ज फिर जो इस भूमण्डल के कणमात्र हैं, तो अवश्य कहना होगा कि वे प्राणिपुञ्ज अनन्तदेश के अनन्त क्षुद्रतम कण हैं। फिर समग्र मानवकुल क्या भूमण्डलस्थ प्राणिपुञ्ज के अति क्षुद्र अंश नहीं हैं ? मानवजाति जब भूमण्डलस्थ प्राणिपुञ्ज का अति क्षुद्र कण है, तब और क्या परिमाण होगा, वह मानवकुल अनन्त के क्षुद्रतम कण के कण मात्र हैं ! अनन्त के साथ तुलना में इस कण का कोई परिणाम नहीं होता। जिसका परिमाण नहीं होता, वह परमाणुवत् होता है—वह जो अनन्त विश्व के साथ एक अङ्ग में मिला रहेगा इसमें कोई सन्देह है क्या ? समग्र मानवकुल मैं कितना करोड़वाँ अंश हूँ ? मेरी देह में स्थित एक परमाणु मेरी विशाल देह का जितना अंश है, मैं समस्त मानवजाति का शायद उतना अंश हो सकता हूँ। तब अनन्तदेश में मेरी क्या गिनति है ? जब समग्र मानवजाति अनन्त में कहाँ पड़ी हुई है, तब मेरा स्थान अनुमान से भी किसी परिमाण में नहीं है। मैं सिर्फ कह सकता हूँ, **मैं अनन्त में कहाँ हूँ ?**

मेरी प्रतिध्वनि भी कहती है, **मैं अनन्त में कहाँ हूँ ?** वास्तविक अनन्त में मैं तो कहाँ पर लीन हो चुका हूँ, कल्पना में भी इसकी धारणा नहीं होती है। अनन्त से सम्भूत मैं अनन्तधाम का यात्री हूँ एवं अनन्त में मैं लीन हो जाऊँगा।*

यह अनन्त विश्व ब्रह्म की व्यक्तावस्था मात्र है। अनन्त आकाश, अनन्त देश और अनन्त काल है ; भगवान् उसी अनन्तदेश और अनन्तकाल में सृष्टि, स्थिति और प्रलयकाल में ओतप्रोत हैं। जो स्वयं अनन्त हैं, उनका रूप भी अनन्त है। तब क्यों हमारी दृष्टि में यह विश्व खण्डित आकार में परिच्छिन्न दीखता है ?—विज्ञानचक्षु के अभाव में। मनुष्य रजस्तमोगुणान्वित होकर स्थूलदर्शी हो गया है। उस स्थूलदर्शन में समस्त ही परिच्छिन्न दीखता है। स्थूलदर्शन में अनन्त की प्रतीति नहीं होती है। बाह्यविज्ञान उस अनन्त का आभासमात्र देता है। किन्तु अध्यात्मविज्ञान में मनुष्य की जो अन्तर्दृष्टि प्रस्फुटित होती है, उस अन्तर्दृष्टि से सम्यक् दर्शन उत्पादित होने से अनन्त की पूर्ण प्रतीति और प्रत्यक्ष होता है। वेदवेदान्तों ने इस अध्यात्मविज्ञान को प्रकाशित किया है, प्रकाशित कर मानव को एक नूतन चक्षु प्रदान किया है। वही ज्ञानचक्षु या देवनेत्र है। स्थूलदर्शन में जगत् का समस्त ही परिच्छिन्न दीखता है, इसीलिए मनुष्य को सुख-दुःख का बोध होता है। यह सुख-दुःख और कुछ भी नहीं, इस अनन्त नित्यानन्द का परिच्छिन्न ज्ञानमात्र है। परिच्छिन्न होने के कारण खण्डित सुख या सुख का अभाव दुःख है ; निरवच्छिन्न सुख नहीं। निरवच्छिन्न सुख नहीं क्यों ? चूँकि अनन्त का ज्ञान नहीं है ; अनन्त का ज्ञान होने से उस अनन्त सुखस्वरूप ब्रह्मचैतन्य का ज्ञान

---

* जिस भूमण्डल में मनुष्यजीव अवस्थित है, वह भूमण्डल जो अनन्त आकाश में अवस्थित है, उसका विशद विवरण जानने के लिए ৺कालीप्रसन्न अनुदित महाभारत के मोक्षपर्वाध्याय में देखें।

होता, ऐसा होने से तुम्हीं में वह अनन्त सुख-ज्ञान उपलब्ध होता। कारण तुम तो अनन्त को छोड़ नहीं हो। तुममें अनन्त सुख-ज्ञान होने से, फिर सुख परिच्छिन्न नहीं हो सकता। यह सुख परिच्छिन्न हुआ है किससे ?—विषयभोग से। विषयभोग में लिप्त होने से रिपुओं एवं इन्द्रियों की उत्तेजना से सुख अनवरत ही दुःखद्वारा परिच्छिन्न होता है। इस सुख-दुःख का समत्व ज्ञान नहीं जनमने से सतत चित्तप्रसाद नहीं जनमता है। जिन्होंने इन्द्रियों एवं रिपुओं को संयमसाधनद्वारा विषय-आमोद से चित्त को सदा के लिए वापस ला सका है, जिन्होंने मायाममता से मुक्त होकर सर्वदा सभी कर्मों को निष्कामभाव से करने का अभ्यास किया है, जिन्होंने विषयसुखकामना का परित्याग कर प्रगाढ़ ईश्वरानुराग में अपना आत्मनिवेदन किया है, उन्हें ही अनित्य सुख-दुःख का समत्व ज्ञान होता है। इस प्रकार सुख-दुःख में समत्वज्ञान के साधन करने का पंथ ही हिन्दुधर्म की साधना-प्रणाली है। तभी हिन्दुधर्म की साधना-प्रणाली मनुष्य को नित्य चित्त-प्रसन्नता में उपनीत कर उसे आनन्दधाम में ले जाती है, वही मानवात्मा की मुक्ति है। किससे मुक्ति ? परिच्छिन्न ज्ञान या भेदज्ञान, परिच्छिन्न दृष्टि या भेददृष्टि से मुक्ति। यह मुक्ति साधित होने से फिर परिच्छिन्न ज्ञान या परिच्छिन्न दृष्टि नहीं रहती ; तब मनुष्य अनन्तज्ञान और अनन्तसुख में उपनीत होता है। साधक उस समय स्पष्ट अनुभव कर सकते हैं—

स्वयमन्तर्बहिर्व्याप्य भासयन्निखिलं जगत्।
ब्रह्म प्रकाशते वह्निप्रतप्तायसपिण्डवत्॥

—आत्मबोध, ६२

—जिस प्रकार अग्नि प्रतप्त लौहपिण्ड के अन्तर और बाहर में व्याप्त होकर उसे प्रकाशित करते हुए स्वयं भी प्रकाशित होती है, उसी प्रकार ब्रह्मवस्तु समस्त पदार्थों के अन्तर्बाह्य में व्याप्त होकर अखिल संसार को प्रकाशित करता हुआ स्वयं भी प्रकाशता है।

बहिरन्तर्यथाकाशं सर्वेषामेव वस्तुतः।
तथैव भाति सद्रूपो ह्यात्मा साक्षिस्वरूपतः॥

—आत्मज्ञाननिर्णय

—जिस प्रकार आकाश इस चराचर वस्तुसमूह के बाह्य और अभ्यन्तर में अवस्थिति कर समुदाय पदार्थों के आधार के रूप में प्रकाशित हो रहा है, उसी प्रकार स्वरूपतः इस ब्रह्माण्ड के साक्षिस्वरूप जो परमात्मा है, वह सत्तारूप में इसके अन्तर्बाह्य में अवस्थिति कर आकाशादि समस्त ब्रह्माण्डों के आधाररूप में प्रकाश पा रहा है।

समाधि अभ्यास

भक्ति और श्रद्धा के साथ प्रतिनियत तत्त्वविचार करने से ब्रह्मज्ञान प्रकाशित होता है। अब देखना होगा तत्त्वविचार क्या है ? मैं कौन हूँ, कहाँ से यहाँ आया हूँ एवं बाद में कहाँ जाऊँगा, ये सारे प्रश्न स्वतः ही मन में उदित हुआ करते हैं। विचारद्वारा इस प्रकार प्रश्नों की मीमांसा करने को ही तत्त्वविचार कहते हैं। यथा—

को नाम बन्धः कथमेष आगतः
कथं प्रतिष्ठास्य कथं विमोक्षः।
कोऽसावनात्मा परमः क आत्मा
तयोर्विवेकः कथमेतदुच्यताम्॥

—विवेकचूड़ामणि, ५१

—बन्धन क्या है ? किस प्रकार से बन्धन उपस्थित होता है एवं किस प्रकार से ही भला उसकी स्थिति होती है ? उस बन्धन से मुक्ति ही भला किस प्रकार से होती है ? आत्मा क्या है, अनात्मा ही भला क्या है ? जीवात्मा क्या है ? परमात्मा क्या है ? जीवात्मा और परमात्मा में भेदविचार ही भला किस प्रकार से हो सकता है ? इत्यादि मुझे कृपा कर कहें।

कथं तरेयं भवसिन्धुमेतं
का वा गतिर्मे कतमोऽस्त्युपायः।
जाने न किञ्चित्कृपयाऽव मां प्रभो
संसारदुःखक्षतिमातनुष्व॥

—विवेकचूड़ामणि, ४२

—मैं इस संसार-पारावार को किस प्रकार पार हो सकता हूँ, मेरी गति क्या होगी? जिससे मेरा भवदुःख-मोचन हो, उसका उपाय क्या है? मैं अज्ञ हूँ, मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं है। प्रभो, आप कृपा वितरण कर मेरी रक्षा करें।

इस प्रकार का प्रश्न किसी सद्गुरु के निकट जाकर पूछने से वे संसारदुःख से निस्तार के उपायस्वरूप केहेंगे—

वेदान्तार्थविचारेण जायते ज्ञानमुत्तमम्।
तेनात्यन्तिकसंसारदुःखनाशो भवत्यनु॥

—विवेकचूड़ामणि, ४७

—वेदान्तशास्त्र का तात्पर्य पर्यालोचना करने से समीचीन ज्ञान होता है। उसी ज्ञान द्वारा आत्यन्तिक संसारदुःख का मोचन होता है। अर्थात् श्रद्धा और भक्ति के साथ गुरुवाक्य पर विश्वास कर ध्याननिष्ठचित्त से विचार करने से ज्ञानोदय होता है एवं उसी ज्ञान से मुक्तिलाभ हुआ करता है।

अब देखना होगा कि, श्रद्धा और भक्ति के साथ तत्त्वविचार करना किस प्रकार है? इसका उत्तर शास्त्र में ही है—

किमिदं विश्वमखिलं किं स्यामहमिति स्वयम्।
विचारनिरतस्यैतदसदेव भवेज्जगत्॥

—योगवाशिष्ठसार, ५।५

—यह अखिल ब्रह्माण्ड ही भला क्या है एवं मैं ही भला कौन हूँ ? इस प्रकार के विचार में प्रवृत्त होने से यह जगत् असत् ही प्रतीयमान होता है।

संसारदीर्घरोगस्य सुविचारमहौषधम्।
कोऽहं कस्य च संसारो विचारेण विलीयते॥

—योगवाशिष्ठासार, १।५

—विचारद्वारा संसाररूप चिरकालव्यापी सुदीर्घ रोग सम्पूर्णरूप से निवृत्त होता है। मैं ही भला कौन हूँ एवं संसार ही भला किसका है, इस प्रकार के विचार में प्रवृत्त होने से अज्ञानविजृम्भित यह संसार एक समय लय प्राप्त होता है।

इस प्रकार के विचार में प्रवृत्त होने से, ब्रह्म और जीवजगत्-सम्बन्ध में यहाँ तक जो आलोचित हुआ है, उसके द्वारा प्रमाणित होगा कि तुम यह नहीं हो, वह नहीं हो एवं यह जगत्प्रपञ्च जो देख रहे हो, इसका कुछ भी तुम नहीं हो, तुम वह सत्स्वरूप परमात्मा हो ; तुम केवल मायाद्वारा समाच्छन्न होकर ऐसे हो गये हो। यथा—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ३।२७

तुम प्रकृति के गुणों द्वारा समावृत होकर "मैं" "मैं" के ज्ञान से स्वयं को हर तरह से क्रियाकर्म का कर्ता कहकर अभिमान कर रहे हो। तुम वास्तविक निष्क्रिय, निर्विकल्प, निरञ्जन, उदासीन एवं सत्स्वरूप हो ; "तत्त्वमसि" अर्थात् तुम ही वह ब्रह्म हो।

अभी यही विचार्य है कि, यदि मैं ब्रह्म हुआ, तो मैं सक्रिय और जीवभाव में स्थित हूँ, और ब्रह्म निष्क्रिय सत्स्वरूप में स्थित है—इस प्रकार का विरुद्ध भाव परस्पर के मध्य क्यों होता है ? इसका उत्तर यह है कि जीवात्मा और

परमात्मा का विरोध केवल उपाधि के कारण है, यथार्थ में कोई विरोध नहीं है। यथा—

तयोर्विरोधोऽयमुपाधिकल्पितो
न वास्तवः कश्चिदुपाधिरेषः।
ईशस्य माया महदादिकारणं
जीवस्य कार्यं शृणु पञ्चकोषम्॥
—विवेकचूड़ामणि, २४५

—परमात्मा और जीवात्मा का यह जो विरोध है कि वह केवल उपाधिद्वारा कल्पित मात्र है। वास्तविक उनमें कोई विरोध नहीं है। महत् आदि का कारण माया, जो ईश्वर की उपाधि है एवं अविद्या का कार्य पञ्चकोष, जो जीव की उपाधि है।

एतावुपाधी परजीवयोस्तयोः
सम्यङ्निरासे न परो न जीवः।
राज्यं नरेन्द्रस्य भटस्य खेटक-
स्तयोरपोहे न भटो न राजा॥
—विवेकचूड़ामणि, २४६

—माया और पञ्चकोष इन दोनों के निराकृत होने से, ईश्वर एवं जीवरूप जो दो उपाधियाँ हैं, वे भी सम्यक्रूप से निराकृत होती हैं, जिस प्रकार राज्य के कारण राजा और गदा के कारण योद्धा उपाधियाँ तो हैं, किन्तु राज्य और गदा रहित होने से राजा और योद्धा दोनों ही तुल्य होते हैं, उसी प्रकार ईश्वर और जीवरूप उपाधि से रहित होने से उभय ही तुल्य होते हैं अर्थात् ब्रह्ममात्र रहता है।

अब देखना होगा कि किस उपाय से इन उपाधियों का निराकरण कर केवल सत्स्वरूप ब्रह्म-प्रतिपादित होगा। वेदान्तशास्त्र में "अध्यारोप" और "अपवाद" न्याय द्वारा समस्त उपाधियों को निरास और सम्बन्धत्रयद्वारा

"तत्त्वमसि" पद का ऐक्य किया गया है। प्रागुक्त ब्रह्मवाद अर्थात् निर्गुण ब्रह्म से प्रकृति-पुरुष उद्भूत होकर जिस जीवजगत् की सृष्टि हुई है, उसके सम्बन्ध में मैंने जो आलोचना की, उसके द्वारा मिथ्याभूत पाञ्चभौतिक जगत् को निरास कर एक परिशुद्ध आत्मा को ही प्रतिपन्न किया गया है। अतएव साधनचतुष्टयसम्पन्न साधक भक्ति और श्रद्धा के साथ प्रतिनियत इस प्रकार से तत्त्वविचार में प्रवृत्त होने से क्रमशः ब्रह्मज्ञान प्रकाशित होता है; किन्तु समाधियोग के बिना ब्रह्म का स्वरूपबोध नहीं होता। प्रकृति और पुरुष का एकात्मभाव केवल समाधि की अवस्था में ही अनुभूत हुआ करता है। समाधिस्थ योगी के अतिरिक्त अन्य किसी को भी ब्रह्म का स्वरूपबोध नहीं होता है एवं ब्रह्मज्ञान भी नहीं जनमता है। यथा—

समाधियोगैस्तद्वेद्यं सर्वत्र समदृष्टिभिः।
द्वन्द्वातीतैर्निर्विकल्पैर्देहात्माध्यासवर्जितैः॥

—महानिर्वाणतन्त्र, ३।७

—जो मनुष्य शत्रु और मित्र में समदर्शी हैं, सुखदुःखादिरूप द्वन्द्वों के अतीत हैं, सङ्कल्प-विकल्परहित हैं, आत्माभिमानहीन हैं, वे ही समाधियोगद्वारा इस ब्रह्मरूप को प्रत्यक्ष किया करते हैं।

वीतरागभयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः।
निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः॥

—माण्डूक्यकारिका, वैतथ्य प्र०, ३५

—जिनके राग, भय, क्रोधादि सभी प्रकार के दोष दूर हो गये हैं एवं जो वेदार्थ-तत्त्वज्ञ हैं, वे विवेकी मुनिगण ही निर्विकल्प अद्वय आत्मा को जान सकते हैं। उस आत्मतत्त्व के परिज्ञात हो जानेपर द्वैतप्रपञ्च का उपशम होता है। रागद्वेषादिशून्य वेदार्थतत्पर योगी ही परमात्मा को जान सकते हैं। तद्भिन्न जिनका चित्त रागद्वेषादि से कलुषित है, वे कभी भी आत्मतत्त्व जानने के अधिकारी नहीं हैं। कारण—

भ्रान्तिज्ञानं स्थितं बाह्ये सम्यग् ज्ञानञ्च मध्यगम्।
मध्यात् मध्यतरं ज्ञेयं नारिकेलफलाम्बुवत्॥

—गोरक्षसंहिता, ५।१२६

बाह्यजगत् केवल भ्रान्तिज्ञान से पूर्ण है। उसे पार कर अन्तर्जगत् में प्रविष्ट होने पर वास्तविक ज्ञान उपलब्ध होता है, उसे मध्यम ज्ञान कहते हैं। उस मध्यम ज्ञान को पार करने से मध्यतर ज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान लाभ किया जाता है। यह ज्ञान ही योगियों के लिए ज्ञेय है। जिस प्रकार नारियल फल का बाह्य दृश्य अति निकृष्ट अर्थात् केवल छिलका होता है, उसे छुड़ाकर अन्दर में नजर डालने पर प्रकृत फल दृष्टिगोचर होता है, उसके बाद उस फल को तोड़ने से उसका सारांश दृष्टिगोचर होता है, ब्रह्मज्ञान भी ऐसा ही है। अतएव रिपु और इन्द्रियों को वशीभूत न कर पाने से परिदृश्यमान जगत् का मर्मभेद नहीं किया जा सकता।

अब प्रश्न उठ सकता है कि वास्तविक अधिकारी होकर क्या करने से ब्रह्मज्ञान होगा ? उत्तर—समाधि के अभ्यास करने से। यथा—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, १३।२४-२५

—कोई-कोई व्यक्ति ध्यानयोगद्वारा आत्मा का सन्दर्शन करते हैं, तो कोई आत्मा द्वारा आत्मा का सन्दर्शन करते हैं अर्थात् समाधिद्वारा सन्दर्शन करते हैं। अन्यान्य व्यक्ति सांख्ययोग द्वारा अर्थात् प्रकृति-पुरुष के परस्पर भेदज्ञानद्वारा आत्मा का सन्दर्शन करते हैं। दूसरे व्यक्ति कर्मयोगद्वारा अर्थात् भक्तिपूर्वक उपासनाद्वारा सन्दर्शन करते हैं। तो कोई आत्मा से अवगत न होकर अन्य

आचार्य-सन्निधान में उपदेशवाक्य श्रवणपूर्वक उसकी उपासना करते हैं। ये सारे श्रुतिपरायण व्यक्ति भी मृत्यु का अतिक्रमण कर मुक्तिलाभ करते हैं।

अब देखना होगा कि ब्रह्मसाक्षात्कारलाभ के बहुतर उपाय रहने पर भी वह केवल समाधिगम्य है, इस प्रकार क्यों प्रतिपन्न किया गया है ? इसकी मीमांसा यही है कि सभी लोगों की प्रकृति समान नहीं होने के कारण योगविषय में सभी अधिकारी नहीं हो सकते। अतएव जो जिस प्रकार योग्य होगा, वह उसी प्रकार मत का अवलम्बन करेगा। इसीलिए बहुतर उपदेश उक्त हुए हैं। वे सारे उपदेश केवल चरम पथ पर ले जाने के लिए सोपानस्वरूप हैं। अनेक जन्म-जन्मान्तर क्षेपण कर तभी चरम पथ पर पहुँचने के उपयुक्त हुआ जाता है। इसीलिए उक्त है कि—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ७।१९

—मनुष्य अपने-अपने अधिकारनिष्ठ क्रियादिद्वारा अनेक जन्म क्षेपण कर प्रत्येक जन्म में किञ्चित्-किञ्चित् ज्ञान सञ्चय करते-करते शेष जन्म में आत्मज्ञानी होकर "वासुदेव ही अर्थात् परमात्मा ही यह चराचरात्मक ब्रह्माण्ड है" ऐसा जानकर मुझे अर्थात् परमात्मा को भजते हैं, अतएव ऐसे महात्मा नितान्त दुर्लभ हैं।

इन सारे उपदेशों का मर्म यही है कि प्रवृत्ति विद्यमान रहने पर कभी भी निवृत्तिमार्ग पर नहीं आना होता है एवं निवृत्ति नहीं होने पर ब्रह्मज्ञान नहीं होता ; अतएव निवृत्ति की आवश्यकता है। बलपूर्वक निवृत्ति नहीं होती है, भोग के पूर्ण होने पर ही निवृत्ति स्वयं होती है। जिस प्रकार क्षुधा रहने से भोजन की आकाङ्क्षा का परित्याग नहीं होता यह स्वभावसिद्ध है, उसी प्रकार भोग के अवसान न होने पर भोगवासना की निवृत्ति नहीं होती, यह भी स्वभावसिद्ध है। पूर्व पूर्व जन्मों में जिन समस्त कामना और कर्मद्वारा

भोगाभिलाष स्थापन किया गया है, वह क्षयप्राप्त न हो जबतक, तबतक शुभ या अशुभ जो सारे कर्म किये गये हैं उनका फल अवश्य ही भोगना होगा।*

प्रारब्धं निश्चयाद् भुङ्क्ते शेषं ज्ञानेन दह्यते।
अनारब्धं हि ज्ञानेन निर्वीर्यं क्रियते तथा॥

—श्रुति

प्रारब्धकर्म का भोग निश्चित रहता है एवं अनारब्ध सारे कर्म ज्ञानाग्नि द्वारा भस्मीभूत होते हैं अर्थात् निर्वीर्यताहेतु उनसे और अङ्कुर नहीं होता। जिस प्रकार, ''इषुचक्रादिदृष्टान्तात् नैवारब्धं विनश्यति''—वाण छोड़ देने से उसके प्रति धानुष्क एवं वेग से चक्र घुमा देने से उसके प्रति कुम्हार का और किसी प्रकार का कोई अधिकार नहीं रह जाता है, उसी प्रकार (ज्ञानलाभ मात्र से) प्रारब्धकर्म का नाश नहीं होता है। यथा—

एवमारब्धभोगोऽपि शनैः शाम्यति नो हठात्।
भोगकाले कदाचित्तु मर्त्योऽहमिति भासते॥

—पञ्चदशी, ७।२४५

—तत्त्वज्ञान लाभ होनेपर भी प्रारब्धकर्म का भोग हठात् निवृत्त न होकर धीरे-धीरे होता है एवं भोगकाल में कभी-कभी अपने को मर्त्यत्व ज्ञान होता है।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ५।११-१२

---

* अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।—स्मृति
(यह श्लोक शिवपुराण, ज्ञानसंहिता, ५१।७ और ब्रह्मवैवर्तपुराण, प्रकृतिखण्ड, ३७।१७ में भी है।—अनुवादक)

—चित्तशुद्धि के लिए कर्मयोगी फलाकाङ्क्षा का परित्याग कर ममत्वबुद्धिहीन शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा कर्मानुष्ठान करते हैं। योगिगण परमेश्वर में एकनिष्ठ होकर कर्मफलत्याग के पश्चात् मोक्षलाभ करते हैं; किन्तु कामनाविशिष्ट व्यक्ति फलप्रत्याशी हो अवश्य बद्ध हो जाते हैं।

प्रारब्धकर्म जो भोग के बिना क्षयप्राप्त नहीं होते, उनका विस्तृत उदाहरण शास्त्र में उक्त है। यथा—

दशमोऽपि शिरस्ताड़ं रुदन् बुद्ध्वा न रोदिति।
शिरोव्रणस्तु मासेन शनैः शाम्यति नो तदा॥
दशमामृतिलाभेन जातो हर्षो व्रणव्यथाम्।
तिरोधत्ते मुक्तिलाभस्तथा प्रारब्धदुःखिताम्॥

—पञ्चदशी, ७।२४७-२४८

—जिस प्रकार दशम व्यक्ति अपने साथी की मृत्यु निश्चय कर रोते-रोते खेद से अपने शिर पर आघात करता है एवं पश्चात् उपदेशद्वारा अवगत होने पर रोदन से निवृत्त होकर प्रसन्न होने पर भी उसकी शिरोवेदना तुरन्त शान्त नहीं होती; उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी को जीवन्मुक्ति लाभ होने पर भी प्रारब्धकर्मवश सांसारिक सुखदुःखादि की सहसा आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती, धीरे-धीरे होती है।

रज्जुज्ञानेऽपि कम्पादिः शनैरेवोपशाम्यति।

—पञ्चदशी, ७।२४४

—जिस प्रकार रज्जु में सर्पभ्रम होनेपर हठात् उसे देख हृत्कम्प होने लगता है, किन्तु पश्चात् उसमें रज्जुज्ञान होनेपर वह हृत्कम्पादि सहसा निवृत्त न होकर थोड़ा-थोड़ा कर निवृत्त होता है।

अब यह देखा जाता है कि ब्रह्मतत्त्व-साधकव्यक्ति प्रारब्धकर्म भोग करेंगे एवं अनारब्ध कर्मों की निष्कामभाव से साधना करते जायेंगे। ऐसा होने से

प्रारब्धकर्म भोग के क्षय होते ही और किसी प्रकार के फलभोग की आशङ्का न रहने से फिर जन्मग्रहण नहीं होगा। क्योंकि अनारब्ध सारे कर्मबीज निष्काम साधना और ज्ञानबल से दग्ध हो जायेंगे। उन दग्ध बीजों से और अङ्कुरोत्पादन नहीं होगा। यथा—

बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा सम्पद्यते पुनः॥*

—श्रुति

—जिस प्रकार अग्निदग्ध बीज से अङ्कुर नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानदग्ध क्लेशात्मक कर्म से आत्मा का पुनः जन्म नहीं होता।

भर्जितानि तु बीजानि सन्त्यकार्यकराणि च।
विद्वदिच्छा तथेष्टव्याऽसत्त्वबोधान्न कार्यकृत्॥

—पञ्चदशी, ७।१६४

—जिस प्रकार किसी वृक्ष के बीज अग्निद्वारा भर्जित होने से उससे और अङ्कुर नहीं होता, उसी प्रकार विषयों में असत्ताबोधहेतु ज्ञानियों की इच्छा और कार्य करने में समर्थ नहीं होती।

"प्रारब्धकर्मजन्य जो भोग होता है सो हो, अब और ऐसे किसी भी कामनापूर्ण कर्म का अनुष्ठान नहीं करना होगा—जिसके द्वारा पुनरागमन होता हो"—ऐसा स्थिर कर साधक निष्काम कर्म का अनुष्ठानपूर्वक सुखासन में उपविष्ट होकर भक्ति और श्रद्धा के साथ प्रतिदिन तत्त्वविचार करें। सुखासन किसे कहते हैं ?—कि वह साधकों का अनायाससाध्य उपवेशन मात्र है। यथा—

अनायासेन येन स्यात् अजस्रं ब्रह्मचिन्तनम्।
आसनं तद् विजानीयात् योगिनां सुखदायकम्॥

* यह श्लोक महाभारत, शान्तिपर्व, २११।१७ में भी है।—अनुवादक

—जिस रूप में अवस्थानपूर्वक अजस्र ब्रह्मचिन्तन किया जाता है, उस सुखदायक उपवेशन को आसन जानो।

साधक सुखासन में उपवेशन कर अजस्र तत्त्वविचार और ब्रह्मचिन्तन करें। ऐसा होने से क्रमशः मूलाधारस्थिता कुण्डलिनी शक्ति जागरित होकर सहस्रार में गमनकर परमशिव के साथ संयुक्त और एकीभूत होकर दिव्यकुलामृत पान करती रहेंगी। इस समय साधक भी ब्रह्मानन्द-रस का आस्वादन करते करते समाधिस्थ होते हैं।

वेदान्तमत से समाधि दो प्रकार की है, सविकल्प और निर्विकल्प। यथा—

ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयानपेक्षयाद्वितीयवस्तुनि
तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरवस्थानम्।

—वेदान्तसार

—ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीन पदार्थों के पृथक्-पृथक् ज्ञान के बावजूद अद्वितीय ब्रह्मवस्तु में अखण्डाकार हो चित्तवृत्ति के अवस्थान का नाम सविकल्प समाधि है।

और—

ज्ञातृज्ञानादिभेदलयापेक्षयाद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारिताया
बुद्धिवृत्तेरतितरामेकीभावेनावस्थानम्।

—वेदान्तसार

—ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन त्रयपदार्थों के भिन्न-भिन्न ज्ञान का अभाव होकर अद्वितीय ब्रह्मवस्तु में अखण्डाकार हो चित्तवृत्ति के अवस्थान का नाम निर्विकल्प समाधि है।

निर्विकल्प समाधि लाभ होने पर प्रकृत अद्वैतज्ञान प्रकाशित होता है। समाधिभङ्ग होनेपर साधक अन्तर्बाह्य से और भ्रान्तिदर्शन नहीं करते। तब

समस्त ही पूर्णब्रह्मरूप में दर्शन करते हैं एवं तभी ब्रह्मज्ञान उपभोग होता है। इस अवस्था में साधकों का जो ज्ञान है वही है—

ब्रह्मज्ञान।

समाधि अभ्यास की परिपक्वावस्था में इस प्रकार का ज्ञानलाभ होने से तब साधक को कहा जा सकता है कि—

वर्णधर्माश्रमाचारशास्त्रयन्त्रेण योजितः।
निर्गतोऽसि जगज्जालात् पिञ्जरादिव केशरी॥*

—अज्ञानबोधिनी, २४

—तुम वर्णधर्म, आश्रम, आचार एवं शास्त्ररूप यन्त्र से योजित थे। अब पिञ्जराबद्ध केशरी (सिंह) जिस प्रकार पिञ्जड़ा तोड़कर बाहर निकलता है, तुम भी उसी प्रकार जगज्जाल छिन्न-भिन्न कर बाहर हो गये। तुम्हारा वर्णाश्रम नहीं है, धर्माधर्म भी नहीं है।

जितने दिन वर्णाश्रम का अभिमान रहता है, उतने दिन मनुष्य वेद-विधि का दास होकर रहता है। वर्णाश्रमाभिमानशून्य हो जाने पर वे उस वेद के मस्तक पर अवस्थान करते हैं। चूँकि शास्त्रों में उक्त हुआ है कि—

यावद्देहात्मविज्ञानं बाध्यते न प्रमाणतः।
प्रामाण्यं कर्मशास्त्राणां तावदेवोपलभ्यते॥*

—अज्ञानवोधिनी, २४

—जितने दिन तक प्रमाणद्वारा देह का आत्मभ्रम नहीं निवृत्त होता है, उतने दिन ही कर्मशास्त्र का प्रामाण्य प्रतीत होता है। जब तुम्हें "मैं देह नहीं"

---

* कोलकाता 'वसुमती' प्रकाशित 'शङ्कराचार्येर ग्रन्थमाला' के 'अज्ञानबोधिनी' में उदाहृत श्लोक।—अनुवादक

ऐसा ज्ञान हुआ है, तब और तुम्हारा किसी भी कर्म में कर्तृत्व नहीं है। कारण—

ब्रह्मज्ञानपदं ज्ञात्वा सर्वविद्या स्थिरा भवेत्।

—ब्रह्मज्ञानरूप परमपद लाभ होते ही सर्वशास्त्र स्थिर और निश्चेष्ट हो जाते हैं। अतएव—

ततो ब्रह्मात्मवस्त्वैक्यं ज्ञात्वा दृश्यमसत्तया।
अद्वैते ब्रह्मणि स्थेयं प्रत्यग् ब्रह्मात्मना सदा॥

—शङ्करविजय, १।४८

—ब्रह्मात्मवस्तु का ऐक्य जानकर सारी दृश्यवस्तुओं को असत्यज्ञान और प्रत्यग् ब्रह्मरूप में अद्वैत ज्ञान से उस परब्रह्म में स्थिर होओ।

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

—श्रीमद्भागवत, १।२।११

—तत्त्ववित् पण्डितगण कहा करते हैं कि अद्वैतज्ञान का नाम ही तत्त्व है एवं वही ज्ञान कभी ब्रह्म, कभी परमात्मा एवं कभी या तो भगवान् शब्द से अभिहित हुआ करता है।

इसीलिए अद्वैत ब्रह्मज्ञान ही सत्य है, तद्भिन्न द्वैतादि ज्ञान मिथ्या एवं भ्रमसङ्कुल है। यथा—

अद्वैतमेव सत्यं त्वं विद्धि द्वैतमसत् सदा।
शुद्धः कथमशुद्धः स्यात् दृश्यं मायामयं ततः॥
शुक्तौ रौप्यं मृषा यद्वत् तथा विश्वं परात्मनि।
विद्यते च सतः सत्त्वं नासतः सत्त्वमस्ति वा॥

—शङ्करविजय, ९।५१-५२

जिस प्रकार शुक्ति में रजतज्ञान मिथ्या है, उसी प्रकार परमात्मा में जगत्ज्ञान मिथ्या है। केवल अद्वैतज्ञान ही सत्य और द्वैतज्ञान मिथ्या है। कारण शुद्ध सत्स्वरूप ब्रह्म में अशुद्ध असत्रूप जगत् किस प्रकार सम्भव है ? अतएव यह परिदृश्यमान जगत् मायामय और केवल भ्रममात्र है। वास्तविक जगत् नाम की कोई स्वतन्त्र वस्तु कभी नहीं है।

बाध्यत्वान्नैव सद्वैतं नासत् प्रत्यक्षभानतः।
न च सत् सद्विद्धत्वादतोऽनिर्वाच्यमेव तत्॥
यः पूर्वमेक एवासीत् सृष्ट्वा पश्चादिदं जगत्।
प्रविष्टो जीवरूपेण स एवात्मा भवान् परः॥

—शङ्करविजय, ९।५३-५४

—द्वैतवस्तु के बाध होने के कारण वह सत् नहीं है, प्रत्यक्षभान होने के कारण असत् भी नहीं है एवं सत् के विरुद्ध होने से सत् भी नहीं है। सुतरां यह अनिर्वाच्य है, अर्थात् सत् या असत् इसे कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कारण, जो एक सत् था, वही पश्चात् इस जगत् की सृष्टि कर जीवरूप में उसमें प्रविष्ट हुआ है। अतएव वह परमात्मा ही तुम हो।

सच्चिदानन्द एव त्वं विस्मृतात्मतया परम्।
जीवभावमनुप्राप्तः स एवात्मासि बोधतः।
अद्वयानन्दचिन्मात्र शुद्धः साम्राज्यमागतः॥

—शङ्करविजय, ९।५५

—तुम्हीं सच्चिदानन्द हो। तुम जो "परमात्मा" हो, सो विस्मृत होकर जीवभाव को प्राप्त हुए हो। ज्ञान होनेपर वह अद्वयानन्द चिन्मात्र शुद्ध आत्मा ही जो तुम हो, वह समझ सकोगे एवं साम्राज्य प्राप्त होगे।

कर्तृत्वादीनि यान्यासंस्त्वयि ब्रह्माद्वये परे।
तानीदानीं विचार्य त्वं किंस्वरूपाणि वस्तुतः॥

—शङ्करविजय, ९।५७

—तुम अद्वय ब्रह्म हो, तुममें जो कर्तृत्वादि न्यस्त थे, अब तुम विचार कर देखो कि, वे सभी वस्तुएँ यथार्थ में कैसी हैं।

वस्तुतो निष्प्रपञ्चोऽसि नित्यमुक्तस्वभावतः।
न ते बन्धविमोक्षौ स्तः कल्पितौ तौ यतस्त्वयि॥

—शङ्करविजय, ९।५८

—वस्तुतः तुम निष्प्रपञ्च और नित्यमुक्त हो, तुममें बन्ध या मोक्षभाव नहीं ; वह केवल तुममें कल्पित मात्र है।

श्रुतिसिद्धान्तसारोऽयं तथैव त्वं स्वया धिया।
संविचार्य निदिध्यास्य निजानन्दात्मकं परम्॥
साक्षात्कृत्वापरिच्छिन्नाद्वैतब्रह्माक्षरं स्वयम्।
जीवन्नेव विनिर्मुक्तो विश्रान्तः शान्तिमाश्रय॥

—इसे ही श्रुतिसिद्धान्तवाक्य समझो। अतएव तुम अपनी बुद्धि से विचार और निदिध्यासन कर अपरिच्छिन्न, अद्वैत, अक्षर, परम निजानन्द स्वयं साक्षात् कर जीवन्मुक्त, विश्रान्त और शान्तिप्राप्त होओ।

ऐसी अवस्था में साधक का जो ज्ञान है, वही ब्रह्मज्ञान है। वह ब्रह्मज्ञान ऐसा है—

मनोवाक्यं तथा कर्म तृतीयं यत्र लीयते।
विना स्वप्नं यथा निद्रा ब्रह्मज्ञानं तदुच्यते॥

—ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्र, ५९

—मन, वाक्य और कर्म ये तीन विषय जिस ज्ञान में लयप्राप्त होते हैं, उसका नाम ब्रह्मज्ञान है। बिना स्वप्न की निद्रा जिस प्रकार अवस्था को प्राप्त होती है, वह ठीक वैसा है अर्थात् सुषुप्तावस्था के समान है।

एकाकी निःस्पृहः शान्तश्चिन्तानिद्राविवर्जितः।
बालभावस्तथाभावो ब्रह्मज्ञानं तदुच्यते॥

—ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्र, ६०

—जिस ज्ञान से जीव निःसङ्ग, निःस्पृह, शान्त, चिन्ता और निद्रावर्जित होता है एवं बालक के समान स्वभावविशिष्ट होता है, उस ज्ञान को ही ब्रह्मज्ञान कहते हैं।

भगवान् व्यास ने शुकदेव को कहा था—

भूमिष्ठानीव भूतानि पर्वतस्थो विलोकय*।

—महाभारत, शान्तिपर्व, २५०।१८

—अब तुम संसार से मुक्त होकर पर्वतस्थ व्यक्ति के समान भूतलस्थ लोगों के साथ निर्लिप्त रहकर उनका अवलोकन करो।

ज्ञानयोग या ज्ञान की साधना

वैराग्यादि साधनचतुष्टय प्रतिष्ठापूर्वक वेदान्तवाक्य का विचार मुख्य अपरोक्षरूप में ब्रह्मज्ञान का कारण निर्दिष्ट हुआ है। किन्तु जो सारे व्यक्ति पुनः पुनः विचार कर बुद्धिमान्द्यवशतः इस विषयानुरागरूप प्रतिबन्धक के कारण अपरोक्षरूप में ब्रह्मविज्ञान लाभ नहीं कर सकते, वे सारे व्यक्ति ब्रह्मविचार के साथ-साथ गुरु के उपदेशानुसार श्रद्धावान् होकर योगाभ्यास करेंगे। यद्यपि प्रकृत ब्रह्मज्ञान को ही शास्त्र में योग कहते हैं, तथापि ब्रह्म में चित्त स्थिर रखने के लिए जिन सारे विघ्नों का अतिक्रमण करना होता है, विचारद्वारा जो उसमें असमर्थ हैं, वे चित्तसंरोधद्वारा उस विषय में कृतकार्यतालाभ में प्रयास करते हैं। इसीलिए सचराचर लोग योग शब्द से प्राणसंरोध का ही निर्देश करते हैं।† वेदान्तमत से यह योग पञ्चदश अवयवों

* 'निशामय' इति पाठान्तरम्।—अनुवादक

† योग शब्द से आत्मज्ञान और प्राणसंरोध उभय ही समझे जाते हैं अवश्य, किन्तु प्राणसंरोध में ही योगशब्द की रूढ़िता प्राप्त हुई है। यह संसार-समुद्र उत्तीर्ण होने के लिए योग और ज्ञान ये दोनों उपाय ही समान और समफलप्रद हैं। फिर भी विचार-

से विशिष्ट है। यही वेदान्तोक्त राजयोग है। राजयोग के पञ्चदश अङ्ग हैं, यथा—

यमो हि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालता।
आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यञ्च दृक्स्थितिः॥
प्राणसंयमनञ्चैव प्रत्याहारश्च धारणा।
आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि वै क्रमात्॥

—वेदान्तरत्नावली, २।१०२-१०३

—यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, देहसाम्य, दृक्स्थिति, प्राणसंयम, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान और समाधि ये पञ्चदश योगाङ्ग का अवलम्बन कर यथानियम कार्यानुष्ठान करने से ही आत्मज्ञानलाभार्थी अपना श्रेयःसाधन कर सकता है। अतएव गुरु के उपदेशानुसार इस योग का पुनः पुनः अभ्यास करो।

अब पञ्चदशाङ्ग योग के लक्षण निरूपण किये जायँ।

यम—"आकाशादि देहान्त समुदाय ब्रह्माण्ड ही ब्रह्मस्वरूप है" ऐसा निश्चय ज्ञान कर चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक्, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ और मन इन एकादश इन्द्रियों को शब्दादि स्व स्व विषयों से निवारित कर रखो। इस प्रकार से इन्द्रियनिवारण ही यम कहलाता है। इन्द्रियग्राह्य शब्दादि विषयसकल विनाशी और अतिशय दुःखप्रद हैं, इस प्रकार दोष-दर्शन द्वारा इन्द्रियों को विषयों से निवारित कर पाने से ही यमसाधना होती है।

अनभिज्ञ कठोरचित्त व्यक्ति के लिए निश्चयज्ञान असाध्य है ; वे लोग प्राणसंरोध-योग का अभ्यास करेंगे। अतएव जो वेदान्तमत से ब्रह्मविचार या पञ्चदशाङ्गविशिष्ट राजयोगसाधना में अक्षम हैं, वे मेरे रचित "योगीगुरु" और इस ग्रन्थ के तृतीय खण्ड में वर्णित प्राणसंरोध-योग का अभ्यास कर आत्मज्ञानलाभ में कृतार्थ होंगे।

नियम—"मैं असङ्ग और निरिन्द्रिय परब्रह्म हूँ" ऐसा ज्ञानप्रवाह अर्थात् सर्वदा उक्त प्रकार विश्वास रख पूर्वसंस्कार त्यागपूर्वक ब्रह्मातिरिक्त जगत् में जो मिथ्याज्ञान है, उसका नाम नियम है। इस नियमसाधना द्वारा परमानन्दप्राप्ति होती है।

त्याग—चिन्मय ब्रह्मतत्त्व-अनुसन्धान द्वारा घटपटादि समस्त पदार्थों के नाम-रूपों की कल्पना परित्यागपूर्वक जो उपेक्षा है, उसे त्याग कहा जाता है।*

मौन—अन्य वाक्य परित्याग कर केवल उस ब्रह्म में वाक्यविन्यास को मौन कहते हैं। "मैं वही ब्रह्मस्वरूप हूँ"—सर्वदा इस तरह से मनन करने को भी मौन कहते हैं। जो वाक्-संयम को मौन कहते हैं, वे बालक या गूँगे की वाक्-हीनता को क्या कहेंगे। असल में बेकार बातें छोड़ ब्रह्मतत्त्व-अनुसन्धान ही मौन है।

देश—जिस देश में आदि, मध्य और अन्त में जन नहीं रहते, उस देश को निर्जन कहा जाता है। भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों काल में जनशून्य देश ही योगसाधना के उपयुक्त होता है।

काल—सृष्टि-स्थिति-प्रलय के आधार अखण्डानन्दस्वरूप अद्वय को ही काल शब्द से निर्देश किया जाता है। यह काल ही योग का प्रधान अङ्ग है।

---

* आत्मतत्त्ववित् महात्मागण इस प्रकार के त्याग को यथार्थ त्याग कहते हैं। अन्यथा लंगोटी पहन अथवा नंगा रह पेड़ के नीचे आश्रय करने से ही उसे त्याग नहीं कहते हैं। मन की आसक्ति परिहार करने को ही त्याग कहते हैं। जो सारे परदोष-अनुशीलनकारी व्यक्ति संन्यासी को अंगूठी या कुर्त्ते-कपड़े व्यवहार करते देख भौंहें टेढ़ी करते हैं, वे यह बात याद रखें। महात्मा शङ्कराचार्य ने 'मणिरत्नमाला' में लिखा है, "त्याग क्या है ?—आसक्ति परिहार।"

आसन—जिसमें सर्वभूत प्रसिद्ध है एवं सिद्ध महात्मा समाधि आश्रय कर जिसमें अवस्थिति कर रहे हैं, उसी विश्व के अधिष्ठानभूत ब्रह्म को ही आसन समझो।

मूलबन्ध—जो आकाशादि सर्वभूतों के आदिकारण, चित्तबन्धन के कारणस्वरूप, अज्ञान के मूल, ब्रह्मप्राप्ति के निमित्त, एक लक्ष्य में चित्तानुराग के कारण है, वही मूलबन्धरूप में उक्त होता है। यही मूलबन्ध राजयोगियों का सेव्य है।

देहसाम्य—केवल शुष्कवृक्ष के समान देह को सरलभाव से रखने से देह की साम्यावस्था नहीं होती है, सर्वभूतों में समदृष्टि द्वारा ब्रह्म में जिस देह का लय है, वही देह की साम्यावस्था है।

दृक्स्थिति—दृष्टि को ज्ञानमय कर उस ज्ञानमयी दृष्टिद्वारा इस जगत् को ब्रह्ममय अवलोकन करो। इस दृष्टि को परम उदारदृष्टि कहते हैं। दृष्टि की ऐसी अवस्था को दृक्स्थिति कहते हैं।

प्राणसंयम—चित्तादि सर्वभाव को ब्रह्मस्वरूप में चिन्तन कर सर्वप्रकार इन्द्रियवृत्ति के निरोध को प्राणसंयम या प्राणायाम कहते हैं।* प्राणायाम त्रिविध हैं, यथा—रेचक, पूरक और कुम्भक। इस प्रपञ्च का निषेध अर्थात् मिथ्यात्वरूप में परिज्ञान ही रेचक-प्राणायाम है ; "एक ब्रह्म ही सर्वमय" ऐसा अद्वैतज्ञान पूरक-प्राणायाम कहा जाता है ; एवं "सभी ब्रह्ममय हैं" ऐसा अद्वैतज्ञान होकर जो वृत्तिनिरोध होता है अर्थात् विषयादि की उपेक्षा कर

---

* पातञ्जल-मतानुसार प्राण और मन के निरोध को प्राणायाम कहते हैं। जिन्होंने ब्रह्म का निःसन्देह अपरोक्षज्ञान लाभ किया है, वे सब ज्ञानी व्यक्ति उपरोक्त प्रकार से प्राणायाम करेंगे एवं जो लोग ब्रह्मज्ञान के अनधिकारी हैं, वे प्राणवायु का संयमरूप प्राणायाम करेंगे। यथा—

अयञ्चापि प्रबुद्धानामज्ञानां घ्राणपीड़नम्।

—वेदान्तरत्नावली

हर प्रकार से वृत्तियाँ उस ब्रह्म में निश्चलभाव से रहती हों, वही कुम्भक प्राणायाम है।

प्रत्याहार—घटादि कार्य शब्दादि विषयों में आत्मानात्मत्व अनुसन्धान कर उन सारे विषयों में आत्मानात्मत्व निश्चय कर चिन्मय परमात्मा में जो मनोनिमज्जन अर्थात् सर्वप्रकार से उस चिन्मय परमात्मा में जो मनःस्थापन है, उसे ही प्रत्याहार कहते हैं।

धारणा—जिस-जिस विषय में मन गमन करता है, उस-उस विषय में ब्रह्म की सत्ता जानकर उन सारे विषयों के नाम-रूप आदि की उपेक्षा कर ब्रह्मस्वरूपज्ञान से मन की स्थापना करने का नाम धारणा है।

आत्मध्यान—सर्वप्रकार बाधाओं का अतिक्रमण कर देहानुसन्धान परित्यागपूर्वक ''मैं ब्रह्म हूँ'' ऐसा जानकर ब्रह्मरूप में जो अवस्थान है, उसे ही आत्मध्यान कहते हैं।

समाधि—अन्तःकरण से सर्वप्रकार विषयानुसन्धान निराकरणपूर्वक निर्विकारचित्त से सर्वतोभाव से अपने को ब्रह्मरूप में स्मरण करें एवं सर्व प्रपञ्चभाव परित्याग करें। ''वही ब्रह्म मेरा ध्येय है, मैं उसका ध्यान करता हूँ'' ऐसा द्वैतभाव भी नहीं रखें, सर्वदा सर्वप्रकार से ब्रह्म के साथ अभेदज्ञान करें। इस प्रकार ब्रह्मानुस्मरण को समाधि कहते हैं।

इस समाधि का नाम ही तत्त्वज्ञान है। अखण्डानन्दकर ब्रह्मज्ञान मोक्षफल प्रदान करता है। अतएव जबतक ब्रह्मरूप में अवस्थानात्मक समाधि नहीं होती है, तबतक गुरु के आज्ञानुसार कहे हुए प्रकार से योगसाधना करें। कभी भी योगसाधना का अनादर न करें ; क्योंकि समाधि-साधनाकाल में नाना प्रकार के विघ्नों बलपूर्वक आगमन किया करते हैं। अनुसन्धानराहित्य, आलस्य, भोगस्पृहा, निद्रा, कार्याकार्य की अविवेचना, विषयानुराग, रसास्वाद अर्थात् ब्रह्मध्यान में किञ्चित् रसबोध होने से ''मैं धन्य हुआ हूँ'' कहकर साधना-कार्य में अनादर एवं राग द्वेष और उत्कट वासनाद्वारा चित्त के

वैकल्य इत्यादि नानाविध विघ्न समाधि-साधना के प्रतिकूल आचरण करते हैं। अतएव योगिगण इन सारे विघ्ननिवारणार्थ अवहितचित्त से सर्वदा योगसाधना में तत्पर रहें। परमज्ञानी शङ्कराचार्य ने कहा है—

भावंवृत्त्या हि भावत्वं शून्यवृत्त्या हि शून्यता।
ब्रह्मवृत्त्या हि पूर्णत्वं तथा पूर्णत्वमभ्यसेत्॥

—वेदान्तरत्नावली, २।१२९

वृत्ति अर्थात् मानसिक अनुराग ही जीव के बन्धन और मोक्ष का कारण है। जिसको विषयादि में मन का अनुराग होता है, वही व्यक्ति सदा विषयों में बद्ध रहता है एवं जिसका मन विषय परित्याग कर ब्रह्मचिन्तन में नियुक्त होता है, उसी को मोक्ष होता है।* जिसकी चित्तवृत्ति घटादि-आकारविशिष्ट भावरूप में अनुगत होता है, उसके मन में वे सारे भावपदार्थ ही प्रकाश पाते हैं। जिसका अन्तःकरण शून्यवृत्ति आश्रय करता है, उसका चित्त शून्यमय होता है एवं चित्तवृत्ति ब्रह्मस्वरूप में अनुगत होने से पूर्णब्रह्मत्व लाभ करता है। अतएव जिससे पूर्णब्रह्मत्वप्राप्ति हो सके, ज्ञानी व्यक्ति उसी रूप में पुनःपुनः अभ्यास करें। ब्रह्म में आन्तरिक अनुराग न होने से केवल मौखिक वाग्विस्तार से किसी भी प्रकार फलसिद्धि की सम्भावना नहीं है। जो ब्रह्मवृत्ति का परित्याग करते हैं, वे वृथा जीवन धारण कर विद्यमान हैं। वे सारे मनुष्य नराकृति पशु मात्र हैं।

मुमुक्षु व्यक्ति सदा ब्रह्मतत्पर होकर यह राजयोग की साधना करें। जो लोग सर्वसम्पत्प्रदायिनी ब्रह्मवृत्ति को जानते हैं एवं जानकर उसी वृत्ति को वर्धित करते हैं, वे ही सत्पुरुष (साधु) और धन्यजन्मा हैं। त्रिभुवन उनकी वन्दना करता है। यथा—

---

* मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥—अन्यमनस्क गीता, ५५

[यह श्लोक मैत्रायण्युपनिषद्, ४।४(ट) तथा विष्णुपुराण, ६।७।२८ में भी है।—अनुवादक]

ये हि वृत्तिं विजानन्ति ज्ञात्वापि वर्धयन्ति ये।
ते वै सत्पुरुषा धन्या वन्द्यास्ते भुवनत्रये॥

—वेदान्तरत्नावली, २।१३१

स्वर्ग-मर्त्य-पाताल में ब्रह्मवित् पुरुष से पूजनीय और कोई नहीं है।

ब्रह्मानन्द

प्रकृत ब्रह्मगत प्राण साधक साधारण मनुष्यमण्डली से बहुत उच्चस्थान पर अवस्थिति करते हैं। वे जहाँ रहते हैं, वहाँ शोक, भय, जरा, मृत्यु, दुःख-दारिद्र्य यह सब कुछ भी नहीं है। वे पृथ्वी पर रहकर भी ब्रह्मलोकवासी हैं, रुग्ण होकर भी बलवान् और स्वस्थ हैं, दरिद्र अवस्था में भी वे महैश्वर्यवान् हैं एवं भिखारी अवस्था में भी राजचक्रवर्ती हैं। शङ्कराचार्य ने कहा है—

को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः।
श्रीमांश्च को यस्य समस्ततोषः॥

—मणिरत्नमाला, ५

—दरिद्र कौन है ? —जिन्हें आशा अधिक है। धनी कौन है ? —जो सदा सन्तोषयुक्त हैं।*

वस्तुतः ब्रह्मज्ञ व्यक्ति साधारण मर्त्य जीवों से इतनी ऊँची अवस्थिति करते हैं कि प्राकृतव्यक्तिगण उनकी उस उच्चता का परिमाण निरूपण में पूरी तरह अक्षम होकर प्रायः उन्हें अवज्ञा कर दिया करते हैं, सामने या पीछे में उनकी

---

* तुलसीदास ने कहा है—

गोधन, गजधन, वाजिधन और रतनधन ख़ान।
जब आवत सन्तोषधन, सब धन धूरि समान॥

निन्दा करते हैं एवं विविध प्रकार से उनके प्रति अत्याचार करते हैं। किन्तु किसी भी प्रकार उन्हें थोड़ा भी क्षोभित नहीं कर पाते हैं। वे अपने करतलस्थ शान्तिरूप महाखड्ग द्वारा उनके सारे आक्रमणों को व्यर्थ कर दिया करते हैं। यथा—

क्षमावशीकृतो लोकः क्षमया किं न साध्यते।
शान्तिखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः॥

—महाभारत

—क्षमाद्वारा लोग वशीभूत होते हैं, क्षमाद्वारा क्या नहीं होता है? शान्तिरूपी खड्ग जिसके हाथ में है, दुर्जन व्यक्ति उसका क्या विगाड़ सकते हैं?

वस्तुतः अज्ञानी मनुष्य तब उनका महत्त्व अनुभव कर सकें या नहीं, स्वर्गस्थ देवतागण के निकट वे उस अवस्था में सर्वदा पूजित रहते हैं।

यो नात्युक्तः प्राह रुक्षं प्रियं वा
यो वा हतो न प्रतिहन्ति धैर्यात्।
पापश्च यो नेच्छति तस्य हन्तु-
स्तस्येह देवाः स्पृहयन्ति नित्यम्॥

—महाभारत, शान्तिपर्व, २९९।१७

—जो अति तिरस्कृत होकर भी रुक्षवचन का प्रयोग नहीं करते एवं अति प्रशंसित होकर भी प्रियवाक्य नहीं बोलते, जो आहत होकर भी धैर्य के कारण प्रतिघात नहीं करते एवं हन्ता का अमङ्गल हो ऐसी इच्छा भी नहीं करते, उनसे इस संसार में देवतागण भी स्पृहा किया करते हैं।

विचारणा परिज्ञातस्वभावस्योदितात्मनः।
अनुकम्प्या भवन्तीह ब्रह्मविष्ण्विन्द्रशङ्कराः॥

—योगवाशिष्ठ, स्थिति प्र०, २२।१६

ब्रह्मविचार द्वारा अपना स्वभाव ज्ञात होनेपर परमात्मा का प्रकाश जिनमें होता है, वैसे व्यक्ति की दया ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि देवता भी आकाङ्क्षा करते हैं।

साधक परमात्मा के साथ अपने हृदय का यथार्थ योग स्थापन कर सकने पर अमरत्व प्राप्त करते हैं, अर्थात् स्वयं को अमर के रूप में स्पष्ट समझ सकते हैं। वस्तुतः साधक जब अपने को सदा के लिए अपने इष्टदेवता के चरणों में विक्रय कर नित्य आनन्द के अधिकारी होते हैं, तब वे स्पष्ट देख पाते हैं कि उनका वह प्रेम और वह आनन्द अनन्तकालव्यापी है, कस्मिन्काल में किसी जगत् में इसका क्षय या विनाश नहीं है। इहलोक में अवस्थान करके भी वे जिनके सहवास में वह आनन्द और प्रेम का सम्भोग कर रहे हैं, मृत्यु के बाद परलोक में जाकर भी वे उनके निकट रहेंगे एवं वही प्रेम सम्भोग करेंगे। अतएव मृत्यु उनके निकट वास्तविक मृत्युरूप में अग्रसर नहीं होती, अर्थात् वह उनके लिए फिर इहपरकाल में व्यवधानस्वरूप में प्रतीयमान नहीं होती। वह तब उनके लिए साँप की केंचुली परित्याग के समान प्रतीत होती है मात्र। इसे ही साधक का अमरजीवन, अनन्तजीवन या नवजीवन लाभ करना कहते हैं। जो भाग्यवान् साधक इस अवस्था को लाभ कर सके हैं, वे आसन्न मृत्यु या दीर्घजीवन दोनों को ही समानभाव से देखते हैं। यथा—

न प्रीयते वन्द्यमानो निन्द्यमानो न कुप्यति।
नैवोद्विजते मरणे जीवने नाभिनन्दति॥

—अष्टावक्र गीता, १८।९९

ब्रह्मज्ञ व्यक्ति पूजित होकर भी प्रीत नहीं होते, निन्दित होकर भी कुपित नहीं होते। वे मृत्यु आसन्न देखकर भी उद्विग्न नहीं होते एवं दीर्घजीवन में भी आनन्द प्रकट नहीं करते।

संसारसुखासक्त क्षुद्रचित्त व्यक्तिगण अज्ञानता के कारण धन एवं पुत्र प्रभृति सांसारिक अनित्य सभी वस्तुओं को वास्तविक सुख का आकर (खान) विवेचना करके शान्तिशून्य हृदय से चिरजीवन उन्हीं की सेवा किया करते हैं।

किन्तु तत्त्वज्ञ पुरुष उन समस्त क्षणविनाशी वस्तुओं को नितान्त दुःखपूर्ण और अशान्तिकर मानकर उन सबकी याचना नहीं करते। अधिक से अधिक संसारी व्यक्तिगण भ्रान्त-बुद्धि के वशीभूत होकर जिसे नितान्त रसहीन और कठोर जीवन के रूप में विवेचना करते हैं, वे शान्तिप्रद और परमानन्दपूर्ण जानकर उस साधक के जीवन को प्राणगत यत्न के साथ ग्रहण करने को बाध्य होते हैं। यथा—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, २।६९

अज्ञानी प्राणियों की परब्रह्मविषयक निष्ठा रात्रितुल्य होती है। अर्थात् वे उस विषय में कुछ भी नहीं देख पाते हैं। किन्तु संयमी व्यक्तियों की बुद्धि उस ब्रह्मनिष्ठा में ही जाग्रत रहती है, और जिन विषयसुखों में सभी प्राणियों की बुद्धि लिप्त है, तत्त्वज्ञानी मुनियों के लिए वह रात्रितुल्य है (अर्थात् तत्त्वज्ञानी विषयसुख के प्रति दृष्टिपात नहीं करते हैं)।

विषयसुखों का उल्लेख कर परम भगवद्भक्त प्रह्लाद बोले हैं—

किमेतैरात्मनस्तुच्छैः सह देहेन नश्वरैः।
अनर्थैरर्थसंकाशैर्नित्यानन्दरसोदधेः* ॥

—श्रीमद्भागवत, ७।७।४५

* 'महोदधेः' इति पाठान्तरम्।—अनुवादक

—ये समस्त राज्य, सम्पत्ति एवं देह सभी नश्वर हैं, एवं वास्तविक अनर्थ हैं, जबकि अर्थवत् प्रतिभात हो रहे हैं (सुतरां अति तुच्छ)। इन सबके द्वारा परमानन्द-रस के सागररूप जो आत्मा है, उसका क्या होगा ?

उन्होंने और एक स्थल पर कहा है—

यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छं
कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम्।
तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाजः
कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीरः॥

—श्रीमद्भागवत, ७।९।४५

—दाद प्रभृति चर्मरोग के हाथों से खुजलाने पर पहले सुखानुभव होने पर भी परिणामतः जिस प्रकार दुःख ही अनुभूत होता है, स्त्रीसम्भोगादि तुच्छ गार्हस्थ्य सुखों का भी वैसा ही परिणाम होता है। कामुक पुरुष परिणामतः उन सुखों से तृप्ति न पाकर बहुतर दुःख ही भोगा करते हैं। किन्तु धीरव्यक्ति खुजली के समान जान कामाभिलाष सहन कर लिया करते हैं।

वैषयिक सुख सहस्र दुःखों द्वारा आवृत रहने के कारण वह सुख भी दुःखभोग में परिगणित होता है। रामचन्द्र ने कहा है—

इयमस्मिन् स्थितोदारा संसारे परिकल्पिता।
श्रीर्मुने परिमोहाय सापि नूनं कदर्थदा॥*

—योगवाशिष्ठ, वैराग्य प्र०, १३।१

—इस संसार में अति सुन्दर महती जो श्री (ऐश्वर्य) है, वह केवल मोह का कारणमात्र है, अन्यथा वह सुख का कारण कभी नहीं हो सकती।

देवर्षि नारद ने युधिष्ठिर को कहा था—

शोकमोहभयक्रोधरागक्लैब्यश्रमादयः।
यन्मूलाः स्युर्नृणां जह्यात् स्पृहां प्राणार्थयोर्बुधः॥

—श्रीमद्भागवत, ७।१३।३३

* यह मन्त्र महोपनिषद् ३।८ में भी है।— अनुवादक

—धन एवं प्राण मनुष्यादि के शोक, मोह, भय, क्रोध, अनुराग, दीनता एवं श्रमादि के मूल हैं। पण्डित व्यक्ति इन दो पदार्थों की स्पृहा का परित्याग करें।

महामति बेकन (Bacon) ने कहा है—I cannot call riches better than the baggage of virtue. पञ्चदशीकर्ता ने लिखा है—

अर्थानामर्जने क्लेशस्तथैव परिरक्षणे*।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् क्लेशकारिणः॥

—पञ्चदशी, ७।१३९

—प्रत्यक्ष देखा जा रहा है कि, अर्थों के उपार्जन में नाना क्लेश, परिरक्षण में नाना दुःख, इसके अतिरिक्त अर्थ नष्ट होने से महाशोक एवं व्यय हो जानेपर भी नाना दुःख हुआ करते हैं ; अतएव जिसकी आय, व्यय, स्थिति तीनों में ही सुख या शान्ति नहीं है, उस क्लेशकारी अर्थ को धिक्कार है। अतएव—

आयासात् सकलो दुःखी नैनं जानाति कश्चन।
अनेनैवोपदेशेन धन्यः प्राप्नोति निर्वृत्तिम्॥

—अष्टावक्र गीता, १६।३

—विषयवासना से ही सभी दुःख भोगते हैं, फिर भी इस गूढ़ उपदेश को कोई नहीं जानता है। जो इस उपदेशद्वारा निवृत्ति लाभ करते हैं, वे धन्य हैं।

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोड़शीं कलाम्॥

—महाभारत, शान्तिपर्व, १७४।४६

---

* 'परिपालने' इति पाठान्तरम्।—अनुवादक

—चाहे कामना का पूर्णताजनित पार्थिव सुख हो, चाहे स्वर्गीय महत् सुख हो, ये सब तृष्णाक्षयजनित विशुद्ध सुख के षोड़शांश का एक अंश भी नहीं हैं।

वास्तविक ब्रह्मज्ञ साधक के आनन्द उपभोग के सम्बन्ध में अष्टावक्र ऋषि ने कहा है—

आत्मविश्रान्तितृप्तेन निराशेन गतार्तिना।
अन्तर्यदनुभूयेत तत् कथं कस्य कथ्यते॥
सुप्तोऽपि न सुषुप्तौ च स्वप्नेऽपि शयितो न च।
जागरेऽपि न जागर्ति धीरस्तृप्तः पदे पदे॥

—अष्टावक्र गीता, १८।९३-९४

—जिन्होंने नियत परमात्मा में विश्रामपूर्वक तृप्तिलाभ किया है, जिन्होंने समस्त आशाओं अर्थात् भोगलालसाओं का परित्याग किया है, जो किसी विषय में ही कष्टानुभव नहीं करते, वे अन्तःकरण में जिस आनन्द का अनुभव करते हैं, उसे किसी के भी समक्ष व्यक्त नहीं किया जा सकता। वे ज्ञानी व्यक्ति सुषुप्ति अवस्था में रहकर भी सुप्त नहीं हैं, निद्रित रहकर भी निद्रित नहीं हैं, जागरित रहकर भी जागरित नहीं हैं, वे (नियत पूर्ण आनन्दानुभव कर) केवल पग-पग पर परितृप्त हुआ करते हैं।

अतः **'न हि तृप्तेः परं फलम्'**—तृप्ति की अपेक्षा दूसरा फल नहीं है। श्रीकृष्ण ने उद्धव को कहा था—

मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः।
मयाऽऽत्मना सुखं यत्तत् कुतः स्याद्विषयात्मनाम्॥
अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः।
मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः॥

—श्रीमद्भागवत, ११।१४।१२-१३

—जिन्होंने किसी विषय की अपेक्षा न कर मुझमें आत्मसमर्पण किया है, वे जिस सुख का अनुभव करते हैं, विषयी को वह सुख कहाँ ? कारण, "आशा बलवती कष्टा नैराश्यं परमं सुखं"—आशा ही बलवती कष्ट एवं आशात्याग ही परम सुख है। अतएव जो अकिञ्चन, दान्त, शान्त, समचेता और मुझे लेकर ही सन्तुष्ट हैं, उन्हें हर तरह से सुख ही सुख है।

इस सम्बन्ध में महात्मा भीष्म को शम्पाक नामक एक सन्न्यासी ने कहा था—

आकिञ्चन्यञ्च राज्यञ्च तुलया समतोलयन्।
अत्यरिच्यत दारिद्र्यं राज्यादपि गुणाधिकम्॥
आकिञ्चन्ये च राज्ये च विशेषः सुमहानयम्।
नित्योद्विग्नो हि धनवान् मृत्योरास्यगतो यथा॥
नैवास्याग्निर्न चारिष्टो न मृत्युर्न च दस्यवः।
प्रभवन्ति धनत्यागाद्विमुक्तस्य निराशिषः॥

—महाभारत, शान्तिपर्व, १७६।१०-१२

—राज्य एवं अकिञ्चनता इन दोनों को तुलादण्ड के दोनों तरफ स्थापन करने से देखा जाता है कि अकिञ्चनता की अपेक्षा राजसुख अनेकांश में ही निकृष्ट है। विशेषतः उनमें यह एक महत् वैलक्षण्य है कि राजा किंवा धनवान् व्यक्ति सर्वदा ही कालग्रस्त के समान नितान्त उद्विग्न रहते हैं, किन्तु आशाविहीन मुक्त व्यक्ति को धनत्याग के कारण अग्नि, अरिष्टकारी ग्रहों, दस्यु या अन्य किसी वस्तु से थोड़ा-सा भी भय या दुःख की सम्भावना नहीं रहती।

बङ्गप्रदेश के नाटोर के महाराज रामकृष्ण को सांसारिक सुख की नितान्त अप्रतुलता नहीं थी ; किन्तु जब उन्होंने परमार्थरस का आस्वादन पाया था, तब स्पष्टाक्षरों में कह दिया था कि, "भवे सेई से परमानन्द, जे जन

परमानन्दमयीरे जाने।''* (अर्थात् संसार में वही वह परमानन्द है, जो उस परमानन्दमयी को जानता है।)

जिस व्यक्ति के चरण पादुकावृत हैं, उसके निकट जिस प्रकार समस्त भूमि ही चर्मावृत बोध होती है ; उसी प्रकार उस पूर्णपुरुषद्वारा मन परिपूर्ण होने से समस्त जगत् सुधारसद्वारा परिपूर्ण हो जाता है। श्रीमत् भारतीतीर्थ परितृप्त भूपति के सुख के साथ ब्रह्मज्ञ व्यक्ति के सुख की तुलना कर बोले थे—

युवा रूपी च विद्यावान्नीरोगो दृढचित्तवान्।
सैन्योपेतः सर्वपृथ्वीं वित्तपूर्णां प्रपालयन्॥

---

* साधकाग्रगण्य रामप्रसाद ने गाया है—

काज कि मा सामान्य धने।
के काँदे मा तोर धन बिहने ?
सामान्य धन दिवे तारा, पड़े रबे घरेर कोणे।
यदि दाओ मा आमाय अभय चरण राखबो हृदि-पद्मासने। इत्यादि।

[माँ! ऐसे तुच्छ धन से मेरा क्या काम है ? तेरे ऐसे धन के लिए कौन रोता है ? माँ तारा ! तुम यह तुच्छ धन दोगी, तो वह घर के एक कोने में पड़ा रहेगा। अगर देना चाहती हो, तो दो माँ, तेरे उन अभय चरणों का दान दो, उन्हें मैं अपने हृदय-कमल में जकड़ रखूँगा।]

प्रसिद्ध गोविन्द अधिकारी के उपयुक्त शिष्य 'काव्यकण्ठ' उपाधिधारी साधक नीलकण्ठ मुखोपाध्याय महाशय का रचित एक गान है—

पयसा हले भाई यदि हरि मेले,
कण्ठ कि काँदित हरि हरि बले।
से नय पयसार धन, श्रीनन्देर नन्दन सचन्दन तुलसी दिले॥

[अगर रुपये-कौड़ी होने से हरि मिलता, तो (यह) कण्ठ (नीलकण्ठ) हरि हरि पुकार कर क्यों रोता ? वह तो पैसों से खरीदे जाने वाला धन नहीं है, श्रीनन्द का नन्दन केवल चन्दन-तुलसी देने से पाया जाता है॥]

सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः सम्पन्नस्तृप्तभूमिपः।
यमानन्दमवाप्नोति ब्रह्मविच्च तमश्नुते॥

—पञ्चदशी, १४।२१-२२

—युवापुरुष रूपवान्, विद्वान्, नीरोगशरीर, बुद्धिमान और बहुसैन्यविशिष्ट होकर वित्तपूर्ण ससागरा पृथ्वी शासन कर समुदाय मानुषानन्द का उपभोग कर परितृप्त भूपति को जो आनन्द प्राप्त होता है, तत्त्वज्ञानी सतत उसका उपभोग करते हैं।

निष्कामत्वे समेऽप्यत्र राज्ञः साधनसञ्चये।
दुःखमासीद्भाविनाशादतिभीरनुवर्तते॥
नोभयं श्रोत्रियस्यातस्तदानन्दोऽधिकोऽन्यतः।
गन्धर्वानन्द आशास्ति राज्ञो नास्ति विवेकिनः॥

—पञ्चदशी, १४।२६-२७

—पूर्वोक्त राजा और विवेकी उभय की ही कामना का अभावविषयक सुख समान होनेपर भी राज्यरक्षा के साधनसञ्चय और भविष्यद्विनाश के भय के कारण राजा को दुःख होता है; किन्तु विवेकी को वे दोनों ही नहीं होते, अतएव उसके आनन्द अधिक कहकर स्वीकार किया गया है।

ऋषिश्रेष्ठ वशिष्ठदेव ने कहा है—

न तथा भाति पूर्णेन्दुर्न पूर्णः क्षीरसागरः।
न लक्ष्मीवदनं कान्तं स्पृहाहीनं यथा मनः॥

—योगवाशिष्ठ, उपशम प्र०, २१।२०

—पूर्णिमा का चन्द्रमा वैसी दीप्ति नहीं पाता है, परिपूर्ण क्षीरसमुद्र में तरङ्गलहरियाँ उतनी दीप्ति नहीं पाती हैं, अतुल ऐश्वर्य के अधिपति व्यक्ति का मुख उतनी दीप्ति नहीं पाता है, मानव का मन स्पृहाशून्य होनेपर जैसी दीप्ति पाता है।

न तत्त्रिभुवनैश्वर्यान्नकोशाद्रत्नधारिणः।
फलमासाद्यते चित्तात् यन्महत्त्वोपबृंहितात्॥
—योगवाशिष्ठ, उपशम प्र०, २१।१२

—महाचित्तसम्पन्न व्यक्ति को अपने चित्त से जो फल लाभ होता है, दूसरे व्यक्ति के रत्नपूर्ण भण्डार एवं त्रिभुवन के ऐश्वर्यलाभ में भी वैसा फल लाभ नहीं होता है।

कल्पान्तपवना वान्तु यान्तु चैकत्वमर्णवाः।
तपन्तु द्वादशादित्या नास्ति निर्मनसः क्षतिः॥
—योगवाशिष्ठ, उत्पत्ति प्र०, १११।४०

—कल्पान्त तक पवन बहती रहे, किंवा सप्तसमुद्र एकत्व-प्राप्त हों, अथवा द्वादश सूर्य जगत् को सन्तप्त करे, मनोहीन निःस्पृह व्यक्ति को कुछ भी क्षतिबोध नहीं होता है।

संसार के सुखमात्र में ही दुःखमिश्रित है, निरवच्छिन्न सुख संसार के किसी भी पदार्थ में नहीं है ; किन्तु साधकगण जिस पथपर गमन करते हैं, वहाँ निरवच्छिन्न सुख ही वर्तमान है। अधिक क्या, साधकगण जिस मुक्तिलाभ के लिए सर्वदा यत्न करते है, दुःख का आत्यन्तिक अभाव होना ही उसका स्वरूप है। यथा—

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः।
—न्यायदर्शन, १।१।२२

—दुःख का जो अत्यन्त विमोचन है, वही अपवर्ग या मुक्ति है।* अतएव ब्रह्मानन्द मुक्ति का नामान्तर मात्र है, विषयसुख के साथ किसी भी अंश में उसकी तुलना नहीं हो सकती। अतएव सभी ब्रह्मानन्दलाभ के लिए अपने-

---

* मुक्ति, उसके सम्बन्ध में विशद-आलोचना और उसकी साधना मेरे प्रणीत "प्रेमिकगुरु" ग्रन्थ के जीवन्मुक्ति खण्ड में लिखा गया है।

अपने अधिकार के अनुसार यथासाध्य साधनभजन कर हृदय में सुख का चिरवसन्त लाने और मानवजीवन में पूर्णत्व संसाधन का कार्य करें।

ब्रह्म-निर्वाण

बाह्य और अन्तःप्रकृति को वशीभूत कर आत्मा का ब्रह्मभाव प्रकाश करना ही सर्वप्रकार साधना का उद्देश्य है। ब्रह्मनिर्वाण लाभ का एकमात्र उपाय समाधि है। अन्यान्य उसके उत्तेजक कारण मात्र हैं।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः
निर्वाणं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।

गुण अर्थात् प्रकृतिदेवी जब पुरुषत्यागिनी होती है, अर्थात् जब वह और पुरुष या आत्मा के सन्निधान में महत् और अहङ्कारादिरूप में परिणत नहीं होती, पुरुष को या चित्स्वरूप आत्मा को किसी प्रकार की अपनी विकृति नहीं दिखा सकती, पुरुष जब निर्गुण होता है, अर्थात् जब प्रकृति और प्राकृतिक विकारों आत्मचैतन्य में प्रदीप्त नहीं होते, आत्मा में जब किसी प्रकार की प्रकृति या प्राकृतिक द्रव्यों प्रतिबिम्बित नहीं होते, आत्मा जब चैतन्यमात्र में प्रतिष्ठित रहती है, आत्मा में जब विकारदर्शन नहीं होता, तब इस प्रकार निर्विकार होने को ही निर्वाणमुक्ति कहते हैं।

विलीन भाव को ही निर्वाण कह सकते हैं। इस मत से ब्रह्मनिर्वाण अनास्वादित मधुवत् अर्थात् जिसने कभी भी मधु पान नहीं किया, उसके निकट जिस प्रकार मधु का आस्वाद 'पता नहीं क्या' है, निर्वाण या बुझ जाना भी, वैसा ही है। सारांश, जिस आत्मा का क्षय नहीं, विनाश नहीं, जो आत्मा अजर है, अमर है, वह बुझ जायेगा किस प्रकार ? ईश्वर आनन्दघन है। जीव प्रकृति का बन्धन छेदन कर गुणादि विवर्जित और केवल होकर जब ब्रह्मानन्द उपभोग करता है, दुःख तब और उसकी त्रिसीमा में

नहीं आ सकता। तब वह एक अभूतपूर्व शान्ति और आनन्द लाभ किया करता है। तब वह सभी में ईश्वर का अवस्थान देख सभी के मङ्गलसाधन में रत होता है। तब उसका संशय छिन्न हो जाता है एवं मोहरूपी हृदयग्रन्थियाँ टूट जाती हैं। क्रमशः वह ब्रह्मनिर्वाण लाभ करता है, अर्थात् वह ब्रह्म में इतने मग्न हो जाता है कि उसका पार्थिव सुख-दुःख, पार्थिव अभिलाष प्रभृति सभी प्रकार के पार्थिव भाव निर्वाण प्राप्त होते हैं। यथा—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ५।२४-२६

—जो व्यक्ति आत्मा में ही सुखी और जो व्यक्ति आत्माराम होकर आत्मा में ही क्रीड़ा करता है, और जिसकी आत्मा में ही दृष्टि है, वही योगी व्यक्ति उक्त प्रकार से ब्रह्म में स्थितिलाभ कर ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होता है। जो निष्पाप हैं, जिनका संशयच्छेद हुआ है, जिनका चित्त वशीभूत एवं जो सकल भूतों के हितार्थ रत हैं, वे महात्मागण ही ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्षलाभ करते हैं। काम-क्रोध से विमुक्त ज्ञानयोगी संन्यासियों को जीवितावस्था और मृतावस्था उभय अवस्थाओं में ही ब्रह्मनिर्वाणता सिद्ध होती है, अर्थात् वे जीवन्मुक्तरूप में विराजते हैं।

कर्म-संन्यासयोग में ही एतादृश ब्रह्मनिर्वाण लाभ हुआ करता है। इस प्रकार अवस्थाकाल में साधक जीवितावस्था में ही ब्रह्मसंस्पर्श लाभ करते हैं। यथा—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ६।२८

—योगी व्यक्ति विगतपाप होकर आत्मा को सर्वदा योगयुक्त रखकर अनायास ही ब्रह्मसंस्पर्शजनित आत्यन्तिक सुख भोग करते हैं।

ब्रह्म के साथ आत्मा का संस्पर्श होता है, यह बात आर्यभूमि भारत के ऋषि-मुनि के अतिरिक्त और कौन हमें सर्वप्रथम सुना सके थे? इस ब्रह्मसंस्पर्शजनित सुख और आनन्द से हमारे सभी पार्थिव भाव विनष्ट हो जाते हैं एवं वही हमारा प्रकृत ब्रह्मनिर्वाण है। किस प्रकार के व्यक्ति ब्रह्मनिर्वाण लाभ किया करते हैं? भगवान् ने कहा है—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, १८।५१-५३

—जो विशुद्धबुद्धियुक्त होकर धैर्यद्वारा उस बुद्धि को नियमित करते हैं; जो शब्दादि विषय परित्याग और राग-द्वेष दूर करते हैं; जो निर्जनसेवी और लघुभोजी होकर काय, मन और वाक्य संयत कर नित्य वैराग्य का आश्रयण कर ध्यानयोगपर होते हैं; जो अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह त्यागपूर्वक ममताशून्य और शान्त होते हैं; वे ही ब्रह्मलाभ में समर्थ होते हैं।

अब देखना होगा निर्वाण का अर्थ यदि बुझ जाना है, तो कौन बुझ जायेगा? वशिष्ठदेव ने कहा है—

एष एव मनोनाशस्त्वविद्यानाश उच्यते॥
यद्यत्संवेद्यते किञ्चित्तत्रासंवेदनं परम्।
असंवित्तिस्तु निर्वाणं दुःखं संवेदनाद्भवेत्॥

—योगवाशिष्ठ, उत्पत्ति प्र०, ११२।२४-२५

—साक्षात् चित्त द्वारा या साक्षी द्वारा जिस जिस ज्ञेय-विषयक संवेदन अर्थात् ज्ञान होता है, उस उस विषय का असंवेदन अर्थात् ज्ञान के न होना ही मनोनाश या अविद्या का नाश है। उक्त प्रकारक संवेदन से केवल दुःख ही उत्पन्न होता है, समस्त प्रकारक ज्ञेय-ज्ञान का लोप ही निर्वाण है।

अतएव अविद्याजनित मन के बुझ जाने को ही निर्वाण शब्द से अभिहित किया गया है। शङ्करावतार शङ्कराचार्य ने 'मणिरत्नमाला' ग्रन्थ में लिखा है—

कस्यास्ति नाशे मनसो हि मोक्षः। २३

—किसके विनाश से जीव की मुक्ति होती है ? —मन के ही। यथा—

मनोलयात्मिका मुक्तिरिति जानीहि शङ्करि।

—कामाख्यातन्त्र, ९।१६

—हे शङ्करि! जिस अवस्था में मन का लय होता है, उसे ही मुक्ति जानो।

मुक्ति की चरम अवस्था को ही ब्रह्मनिर्वाण कहा जा सकता है। साधक जब शान्ति आदि से युक्त होकर परब्रह्म को आत्मस्वरूप में अवलोकन करते हैं, तब वे व्यक्ति परम ज्योतिःस्वरूप में अद्वैत ब्रह्मरूप में आत्मस्वरूप में अवस्थिति करते हैं। इसे ही ब्रह्मनिर्वाण कहते हैं।

इष्टे निश्चलसम्बन्धो निर्वाणमुक्तिरीदृशी।*

—कामाख्यातन्त्र, ९।२०

---

* क्वचित् 'स च निर्वाणमीरितः' इति पाठान्तरम्।—अनुवादक

जब साधक ब्रह्मसत्तासमुद्र में मग्न होकर अपनी स्वयं की सत्ता को भी खो बैठते हैं, अर्थात् क्रमशः जब उनकी—"निर्वाणस्तु मनोलयः"—बुद्धि, मन ब्रह्मध्यान में पूरी तरह लय-विलय प्राप्त होते हैं, तभी उनकी उस अवस्था को निर्वाण या सर्वोच्च मुक्ति कहते हैं।

मुक्ति सम्बन्ध में गौतम ने लिखा है—

दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।

—न्यायदर्शन, १।१।२

—दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान का अपवर्जन या अभावरूप आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति का नाम ही अपवर्ग या मुक्ति है। अपिच—

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः।

—न्यायदर्शन, १।१।२२

—दुःख का जो अत्यन्त विमोचन है, वही अपवर्ग या मुक्ति है।

कपिलदेव ने कहा है—

यद्वा तद्वा तदुच्छितिः पुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः।

—सांख्यदर्शन, ६।७०

—सुख-दुःखादि सारे प्राकृतिक धर्म जब आत्मा में लिप्त नहीं होते, तभी आत्मा की मुक्तावस्था होती है। अपिच—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।

—सांख्यदर्शन, १।१

—त्रिविध दुःखों (आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक) की जो आत्यन्तिक निवृत्ति है, उसी का नाम आत्यन्तिक पुरुषार्थ या मुक्ति है।

बौद्धधर्म-प्रचारक राजपुत्र गौतम ने जीवात्मा या परमात्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में स्पष्टतः किसी प्रकार का उल्लेख नहीं किया है ; किन्तु उन्होंने जिस एक कर्म का उल्लेख किया है, उसके द्वारा उनके कार्यतः (जीवात्मा

और परमात्मा) उभय को ही स्वीकारा गया है। उन्होंने जरा, मरण और पीड़ाजनित दुःख के हाथों परित्राणलाभ के लिए प्रत्येक व्यक्ति से ही निर्वाण साधना करने का अनुरोध किया है। उनके निर्वाण का अर्थ रिज डेविडस् (Rhys Davids) साहब ने अपने Buddhism ग्रन्थ में इस प्रकार लिखा है—"Nirvana is therefore the same thing as a sinless, calm state of mind ; and if translated at all, may best perhaps be rendered 'holiness'—holiness that is in the Buddhist sense, perfect peace, goodness and wisdom."

बुद्धवंश-लेखक निर्वाण शब्द का इस प्रकार से अभिप्राय प्रकट करते हैं कि, वह मनुष्य का सत्ताविलोप या बिल्कुल ही महाविनाश नहीं है, केवलमात्र भ्रम, घृणा एवं तृष्णा इन तीनों का आत्यन्तिक उच्छेद को ही निर्वाण कहते हैं।

इस सम्बन्ध में प्रोफेसर मैक्समूलर ऐसा कहते हैं—If we look in the Dhammapada at every passage where Nirvana is mentioned, there is not one which would require that its meaning should be annihilation, while most, if not all, would become perfectly unintelligible if we assigned to the word Nirvana that signification.

यहाँ तक मुक्ति सम्बन्ध में जिन कुछ शास्त्रों के मत संक्षेप में संगृहीत हुए, उनसे स्पष्ट देखा जा रहा है, कि मुक्तिसम्बन्ध में भावपक्ष में अनैक्य रहने पर भी अभावपक्ष में सभी प्रायः ऐक्यमत हैं। इस रोग-शोक-जरा-मृत्युमय संसार में जन्मग्रहण कर प्रकृत ज्ञानी व्यक्तियों ने सदा के लिए "मुक्ति"-रूप निरापद स्थान लाभ करने के लिए यत्न किया है। किन्तु इनमें जिन्होंने आनन्द के प्रस्रवणस्वरूप मुक्तिदाता परमेश्वर के शरणागत न होकर अन्य उपाय से मुक्ति का अन्वेषण किया था, घृत परित्याग कर एरण्डतैल-भक्षण के समान उन्होंने बहु साधनाद्वारा निज-निज आत्मा में निद्रा के समान

एक प्रकार सुखदुःखवर्जित अवस्था लाने में सक्षम तो हुए थे, किन्तु निरतिशय आनन्द उपभोगरूप यथार्थ मुक्ति की अवस्था लाभ कर कृतकृतार्थ नहीं हो सके। अतएव जो इस पृथ्वी पर यथार्थ सुख चाहते हैं, वे सुखस्वरूप ईश्वर की शरण ग्रहण करें। नहीं तो संसार में सुख अन्वेषण करना केवल मरीचिका में जल अन्वेषण करने के समान वृथा होगा। सदा स्मरण रहे, भगवान् स्वयं श्रीमुख से बोले हैं "हे भारत! सर्वावस्था में ही तुम उन्हीं (परमेश्वर) के शरणापन्न होओ। उनके प्रसाद से पराशान्ति और शाश्वत स्थान प्राप्त होगा।" यथा—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्। १८।६२

ॐ महाशान्ति ओम्

तृतीय खण्ड

साधनाकाण्ड

ब्रह्म-रूप

गीत

टोड़ी—कव्वाली

रतन-आसने बसे गौरी-शङ्कर।
हेर सहस्रारे—रजत-भूधरे जेन उदित शशधर॥
शिवेर शिरोपरे करे गङ्गा कलकल,
वासन्ती बसेछे बामे एलाये कुन्तल ;
किवा शोभा एक भा ले, धकधक वह्नि ज्वले,
आर भाले शोभे अर्ध सुधांशु सुन्दर॥
एकेर कर्णेते दोले कृष्णधुतुरार दल,
अपरेर कर्णशोभा कनककुण्डल ;
ईशान विषाण करे, पलके प्रलय करे,
जीवे अन्न दान करे अभयार उभय कर॥
कञ्चुली परेछे उमा ज्वलिछे मणि-माणिक्य,
बाघाम्बरेर बाघछाल कटि-सने नाहि ऐक्य ;
दीन **नलिनी** कय, पदशोभा भिन्न नय,
जे पद भावना केन, छोंबे ना यमकिङ्कर॥

—कामाख्याधाम, ३।१।१३१३, (अप्रैल, १९०६ ई०)

रतन-आसन पर गौरी-शङ्कर विराजमान हैं। सहस्रार-कमल में उनका ध्यान यूँ करो—रजत-पहाड़ पर मानों चन्द्रमा का उदय हुआ हो। शिवजी के मस्तक पर गङ्गा कलकल की आवाज कर रही है, शिवजी की बायीं
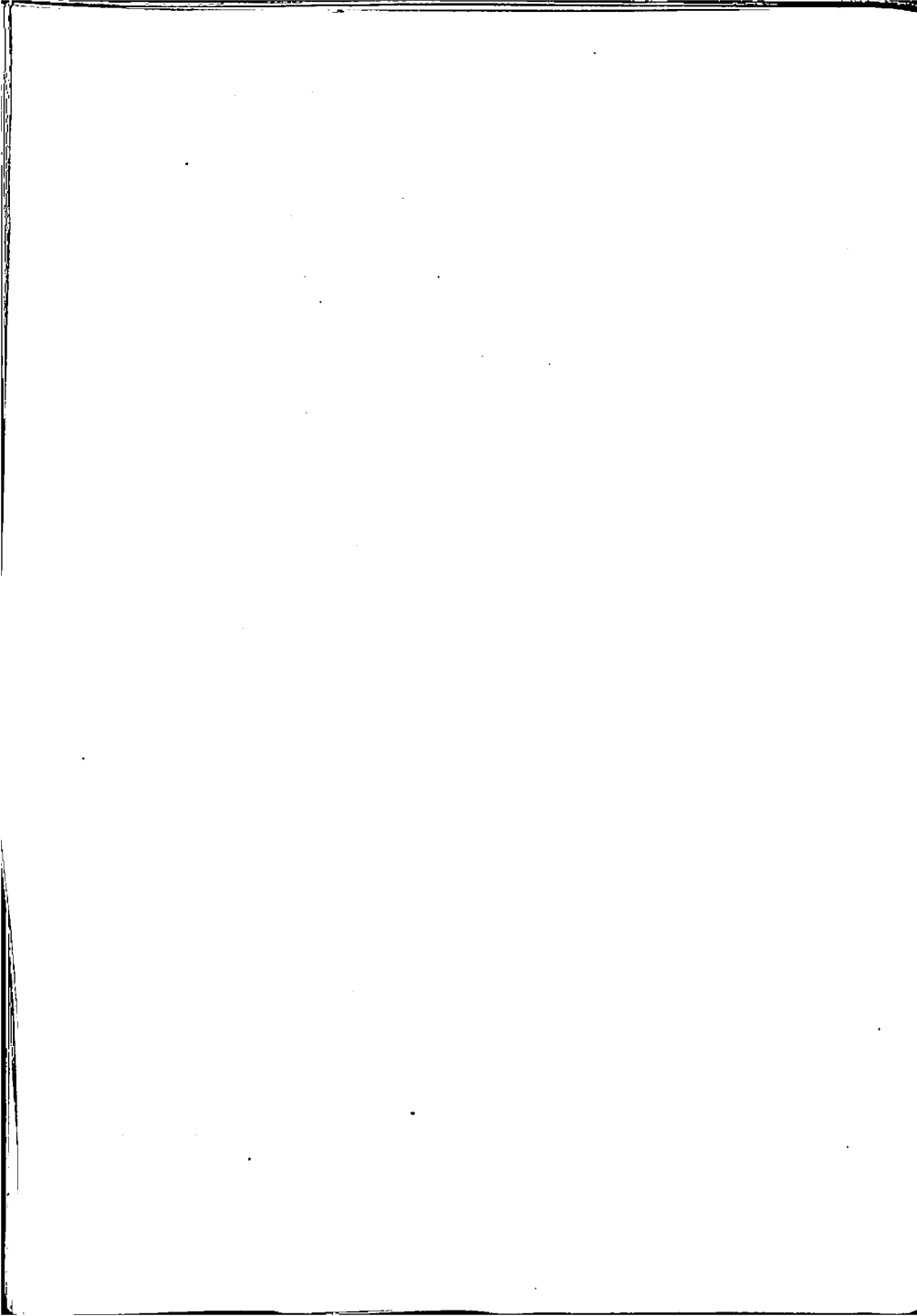
ओर अपने खुले हुए काले घुँघराले केशों को लहराती हुई बड़े प्रसन्न चित्त से वासन्ती (उमा) बैठी हुई है ; एक के उस ललाट की शोभा को तो देखो, जिसमें बह्नि धधक् रही है और दूसरे के ललाट पर सुन्दर अर्ध-सुधांशु सुशोभित हो रहा है। एक के कानों में काले धतुरे के पत्तें शोभा पा रहे हैं तो दूसरी (उमा) के कानों में कनक-कुण्डलें जगमगा रहे हैं। ईशान (शिवजी) के हाथ में विशाण (सींग) है, जिसके द्वारा वे पलभर में संसार का प्रलय करते हैं और माता अभया के दोनों हाथ प्राणियों को अन्नदान करते हैं। उमा कञ्चुली पहनी हुई है, जिसमें मणि-माणिक्यादि रत्नों चमक रहे हैं, परन्तु बाघाम्बर (शिवजी) बाघ का एक छाल मात्र पहने हैं, जिसके तो दोनों छोर में कमर के पास ऐक्य (समानता) भी नहीं है। दीन नलिनी कहता है, दोनों की चरणशोभा में कोई अन्तर नहीं है, जिन चरणकमलों की भावना से यमदूतों छू भी नहीं सकते।

—कामाख्याधाम, ३।१।१३१३, (अप्रैल, १९०६ ई०)

ज्ञानी गुरु

तृतीय खण्ड—साधनाकाण्ड

साधना का प्रयोजन

ब्रह्मज्ञान लाभ कर कृतकृतार्थ होने के लिए साधना का प्रयोजन होता है। साधनचतुष्टयसम्पन्न और योगयुक्त नहीं होने से कभी भी ज्ञानलाभ नहीं होता है। अयोगी पुरुष का जो ज्ञान है, वह भ्रान्त ज्ञान है, उस ज्ञान में भ्रम है। कारण अयोगी पुरुष मायापाश में बद्ध रहता है ; मायापाश छिन्न नहीं कर पाने से प्रकृत ज्ञानालोक दर्शन करने का दूसरा उपाय नहीं है। मायापाश छिन्न करने का उपाय है योग। योगी होने से ही प्रकृत ज्ञानलाभ हुआ करता है, उससे भिन्न जो ज्ञान वह प्रलापमात्र है। प्राण और चित्त को वशीभूत न कर पाने से कभी भी प्रकृत ज्ञान का उदय नहीं हो सकता, चूँकि चित्त सतत ही चञ्चल होता है, चित्त के स्थिर न होने से ज्ञानोदय की सम्भावना नहीं होती है। चित्त स्थिर करने का उपाय है प्राणसंरोध। कुम्भक के द्वारा प्राणवायु स्थिरीकृत होने से चित्त अपने-आप ही स्थिरता प्राप्त करता है। चित्त स्थिर होने से ही प्रकृत ज्ञानोदय होता है। कुम्भककाल में प्राणवायु सुषुम्नानाड़ी से होकर विचरण करते करते ब्रह्मरन्ध्र में महाकाश में आ उपस्थित होते ही स्थिरता प्राप्त होती है। प्राणवायु स्थिर होते ही चित्त स्थिर होता है, कारण चित्त सर्वदा ही प्राण का अनुसरण करता है। यथा—

दुग्धाम्बुवत् सम्मिलितावुभौ तौ
तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि।

यतो मरुत्तत्र मनःप्रवृत्ति-
यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः ॥

—हठयोगप्रदीपिका, ४।२४

—जिस प्रकार से दुग्ध और जल एकत्र मिले रहते हैं, प्राण और मन भी उसी प्रकार एकत्र मिलित होकर अवस्थिति करते हैं। जिस चक्र में वायु की प्रवृत्ति होती है, उसी चक्र में मन की प्रवृत्ति होती है एवं जिस चक्र में मन की प्रवृत्ति होती है, उसी चक्र में वायु की भी प्रवृत्ति हुआ करती है।

अविनाभाविनी नित्यं जन्तूनां प्राणचेतसी।
कुसुमामोदवन्मिश्रे तिलतैले इवास्थिते* ॥

—योगवाशिष्ठ, निर्वाण प्र० पूर्वार्ध, ६९।४५

—जन्तुओं के प्राण और चित्त, ये अविनाभावसम्बन्धशाली हैं (अर्थात् उनमें एक जहाँ रहता है, अन्य भी उसी स्थान पर रहता है, जहाँ एक का अभाव होता है, वहीं दूसरे का भी अभाव होता है)। जैसा पुष्प और गन्ध एवं तिल और तैल में एक की विद्यमानता में उभय की विद्यमानता एवं एक के अभाव में उभय का अभाव होता है, उसी प्रकार मन और प्राण का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है।

अतएव प्राणवायु स्थिर होने पर ही चित्त स्थिर होता है। चित्त को स्थिरता प्राप्त होने पर ज्ञानचक्षु उन्मीलित होकर आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्मसाक्षात्कार लाभ होता है। इसीलिए कहा गया है कि योग के बिना दिव्यज्ञान लाभ नहीं होता। यथा—

योगात् सञ्जायते ज्ञानं योगो मय्येकचित्तता।

—आदित्यपुराण

* 'इव स्थिते' इति पाठान्तरम्।—अनुवादक

—योगाभ्यासद्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है एवं योगद्वारा ही चित्त में एकाग्रता जन्मती है। योगी पुरुष के इस प्रकार का ज्ञान ही प्रकृत ज्ञानपदवाच्य है। नामान्तर से इस ज्ञान को ही तत्त्वज्ञान, ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान के उदय से ही मुक्तिलाभ हुआ करता है।

योगाग्निर्दहते क्षिप्रमशेषं पापपञ्जरम्।
प्रसन्नं जायते ज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति* ॥

—कूर्मपुराण, उपरिभाग, ११।२

योगरूप अग्नि अशेष पापपञ्जर को दग्ध करता है एवं योगद्वारा दिव्यज्ञान जनमता है। यदि कहते हो कि योग के बिना दिव्यज्ञान नहीं होने का कारण क्या है ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता कि समाधि अभ्यास के परिपाक होने से अन्तःकरण में रागद्वेषादि दोषों की निवृत्ति होती है। ऐसा होने से उस विशुद्धान्तःकरण में आत्मदर्शन होने से दर्शनमात्र से अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है ; अतएव तब दिव्यज्ञान स्वयं प्रकाशित होता रहता है। इसलिए यही स्वीकार्य है कि योगसिद्ध नहीं होने से कभी भी दिव्यज्ञान प्रकाशित नहीं होता है एवं मोक्षलाभ भी नहीं होता है।

केवल शास्त्रपाठ या उपदेश से तत्त्वज्ञान लाभ नहीं होता है। विशेषतः वर्तमान काल की शिक्षा से तत्त्वज्ञान तो दूर, नीतिज्ञान भी विकसित नहीं होता है। शिक्षित व्यक्ति शिक्षा का अभिमान वहन करते हैं मात्र, उन्हें शिक्षा का वास्तविक फल प्राप्त नहीं होता है। जो व्यक्ति "मातापिता परम गुरु" इस बात को भूलकर मूर्ख पिता को बन्धु समाज में घरके नौकर कहने में लज्जानुभव नहीं करता, अशौच के बाद दाढ़ी-मूँछ कटाने में कष्टानुभव करता है, बकरे के समान सम्पर्कविचार न कर जो परस्त्रीगमन करता है, भिक्षुक को एक मुट्ठी भिक्षा के बदले जो दुत्कारता है, निरन्न कृषक को अपने स्वार्थ

* क्वचित् 'साक्षान्निर्वाणमृच्छति' इति पाठान्तरम्।—अनुवादक

के लिए जो मुकदमें में प्रवृत्त कराता है, विचारासन पर बैठकर जो पदोन्नति के लिए निर्दोषी को दण्डित करता है, भोगसुख को ही जीवन का एकमात्र कर्तव्य स्थिर कर जो अपनी विधवा माँ, कन्या या भगिनी के पुरुषान्तर ग्रहण की व्यवस्था करता है ; जो पशु के समान रिपु के अधीन होकर कार्य करते हैं ; जो परकाल, जन्मान्तर, कर्मफल, देवता, ईश्वर और गुरु को नहीं मानते ; हिंसा, द्वेष, परनिन्दा, परदोषचर्चा और मिथ्यावचन जिनके नित्य कार्य हैं—उन्हें मनुष्यगर्भ से जनमें गर्दभ के अतिरिक्त कौन शिक्षित शब्द से अभिहित करेगा ? जो कवि—

"समाश्लिष्यत्युच्चैर्घनपिशितपिण्डं स्तनधिया
मुखं लालाक्लिन्नं पिबति चषकमासवमिव।
अमेध्यक्लेदार्द्रे पथि च रमते स्पर्शरसिको
महामोहान्धानां किमपि रमणीयं न भवति ?"

यह बात* भूलकर रमणीय कुचयुग्म और अधरमधु के वर्णन में व्यस्त रहते हैं, उन्हें मोहान्ध के अतिरिक्त कौन पण्डित कहकर स्वीकार करेगा ? अस्पृश्य कुक्कुट (मुरगा)-मांस के बिना जिनकी स्वास्थ्योन्नति नहीं होती है, मातापिता के चरणों में जिनका सिर नहीं झुकता, पेन्शन न मिले तो यहाँ तक कि पिशाव के पश्चात् जलशौच भी असम्भव हो पड़ता है, चिकेन ब्रथ के अभाव में गव्यघृत से जिन्हें तृप्ति नहीं मिलती, विलायती घास के

---

* अमेध्यपूर्णे कृमिजालसङ्कुले स्वभावदुर्गन्धिविनिन्दितान्तरे।
कलेवरे मूत्रपूरीषभाविते रमन्ति मूढ़ा विरमन्ति पण्डिताः॥
—योगोपनिषद्

महात्मा तुलसीदास ने कहा है—
जैसी पुतली काठ की पुतला मासमय नारी।
अस्थिनाड़ीमलमूत्रमय यन्त्रित निन्दित भारी॥

अतिरिक्त जूही या बेला (मल्लिका) से जिनकी वाटिका की शोभा नहीं होती है, परपुरुष के साथ अपनी कुलवधू को आमोद करते न देख जिन्हें स्फूर्ति नहीं होती, पूर्वजों को असभ्य कृषक कहे बिना जिनकी विज्ञता प्रकट नहीं होती, उनकी शिक्षा को कौन निर्लज्ज शिक्षा शब्द से अभिहित करेगा ?

जितेन्द्रिय, सत्यवादी, परोपकारी, देव-द्विज-गुरुभक्त, स्वधर्मानुरागी, विनयी, सरल-विश्वासी व्यक्ति असभ्य और अशिक्षित होकर भी हम उन्हें उच्चकण्ठ से "पण्डित" कहकर घोषणा करेंगे। जो न्यायकच्चकचि या विद्यावागीश शास्त्रों की मर्यादा भूलकर स्वार्थ के लिए अशास्त्रीय व्यवस्था प्रदान करता है, उसके पाण्डित्य को धिक्कार है ! जो देश के नेता सजकर देशोन्नति के नाम पर दरिद्र देशवासियों के शोणितसम अर्थों का शोषण कर अपने पान-भोजन और स्व-स्व मत समर्थन के लिए लाठीबाज करते हैं, उनकी शिक्षादीक्षा को सैकड़ों धिक्कार है। पहले शिक्षा के गुण से ज्ञान स्वतः ही प्रकाशित होता था, किन्तु अब वह आशा सुदूरपराहत ! समाज उच्छृङ्खल और स्वेच्छाचारी है, अतः साधनाद्वारा ज्ञानलाभ करना होगा। सैकड़ों तर्कशास्त्र और व्याकरणादि अनुशीलनपूर्वक मनुष्य शास्त्रजाल में पतित होकर विमोहित हुआ करते हैं। और विश्वविद्यालय में शिक्षाप्राप्त व्यक्तियों की मस्तिष्क विकृति के अलावे कहीं भी ज्ञान की दीप्ति नहीं देखी जाती है। नहीं तो विश्वविद्यालय के उच्च उपाधिधारी उन पत्नीवियोगी विधुर युवकों "कैसे कहूँगा कैसा वह मुखड़ा" के लिए उद्भ्रान्तभाव से पागलों के समान प्रलाप क्यों करेंगे ? उनके समान विद्याबुद्धि-सम्पन्न स्वदेशी व्यक्तियों से इस घोर दुर्दिन में उनके स्वदेशवासी कितनी ऊँची आशा कर सकते हैं ; किन्तु दुःख का विषय वे स्वार्थमय मरणक्रन्दन करते हुए विषयान्ध लोगों के निकट "वाहवाही" पा रहे हैं। सही प्रेम स्वर्गीय वस्तु है अवश्य, किन्तु स्थूलदेह के विनाश से वह प्रेम विनष्ट नहीं होता है। स्थूलदेह के लिए शोकप्रकाश, क्या यह जगद्वासियों को सीमाबद्ध प्रेम का परिचय देनेवाला प्रेमी का लक्षण

नहीं है ?* व्यावहारिक विद्या-बुद्धि का अभिमानमात्र है। हम इस प्रकार के उद्भ्रान्त युवक की हायहाय देखकर इसे अज्ञानविजृम्भित शून्योच्छ्वास ही कहेंगे। विद्या से यदि उनका वास्तविक ज्ञानोदय होता, तो वे उस मुख को देखकर प्रेमोच्छ्वास से मर्मव्यथा न प्रकट कर शिह्लनाचार्य के साथ एक स्वर में कहते—

क्व तद्वक्त्रारविन्दं क्व तदधरमधु क्वायातास्ते कटाक्षाः
क्वालापाः कोमलास्ते क्व च मदनधनुर्भङ्गुरो भ्रूविलासः।
इत्थं खट्वाङ्गकोटौ प्रकटीतरदनं मञ्जुगुञ्जत्समीरम्
रागान्धानामिवोच्चैरुपहसति महामोहजालं कपालम्॥

एक समय श्मशान में एक बाँस के अग्रभाग में स्त्री का एक मांसचर्मविहीन मस्तक-कङ्काल देख शिह्लनाचार्य को लगा,—मस्तक-कङ्काल में ये जो दाँत-आँखें आदि दिखाई पड़ रहे हैं और उसके गलरन्ध्र में प्रवेश कर मुखरन्ध्र से निःसरणकाल में वायु का जो शब्द सुना जा रहा है, इन दोनों के द्वारा ज्ञात हो रहा है, मानों कपाल घोर कामान्ध मानवों को कह रहा है—"मूढ़ मानव ! इस श्मशान के निकट खड़े होकर एक बार इस मुख की ओर ताककर देखो, और जिसके लिए तुमने अन्धे होकर कितना ही न जाने पश्चाचार किया है, उस स्त्री का मुख भी स्मरण करो। यह देखो उसका परिणाम ! वह मुखारबिन्द भी भला कहाँ है, और कहाँ है वैसी अवस्था ! इस कङ्काल में इसका कोई चिह्न देख पा रहे हो क्या ? अब सोचो तो देखूँ,

* जिस प्रेमी युवक ने पहले "एक प्राण दो को नहीं दिया जाता" कहकर गहन गवेषणा के साथ स्वदेशवासियों को प्रेम का तत्त्व बताया है, अब देखा जाता है कि वे ही प्राणों का व्यापार कर रहे हैं। जो जिस विषय में मुख से जितनी स्पर्धा करते हैं, कार्य में उतने ही पिछड़े हुए देखे जाते हैं। इसे अपना जातीय स्वभाव कहना भी अत्युक्ति नहीं होगी। जो शक्तिशाली नेता स्वदेशवासियों को भिक्षा छोड़ लाठी पकड़ने का परामर्श देते हैं, लाठी देख सबसे पहले वे ही भागते देखे जाते हैं।

जिसे सुधा के समान आदर के साथ पान करते थे, वह अधरमधु कहाँ है ? वह मधुमिश्रित सुमधुर बातें ही भला कहाँ हैं एवं मदनधनुविलास के समान भ्रूभङ्गी का विलास ही भला कहाँ ? अब उसी का ऐसा परिणाम, उसी में यह आच्छादित था। तुमने रागान्ध होकर चर्मावृत इस कङ्काल को ही कितना मधुमिश्रित द्रव्य समझ कितना आदर-गौरव किया है ; कितना सुख, कितना आनन्द अनुभव किया है। अन्धे ! उस समय यदि तुम्हें यह परिणाम याद आता, तो और ऐसा द्रव्य लेकर इतना आह्लादित नहीं होते, स्त्रीमुख को उतना सम्मान नहीं देते।"

इसलिए कह रहा हूँ, साधना के बिना कभी भी दिव्यज्ञान प्रकाशित नहीं हो सकता। महायोगी महेश्वर ने कहा है—

मथित्वा चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राणि चैव हि।
सारन्तु योगिभिः पीतं तक्रं पिबन्ति पाण्डिताः॥

—ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्र, ५१

—वेदचतुष्टय और समग्र शास्त्र मन्थन कर योगियों ने उनका नवनीतस्वरूप सारभाग का पान किया है। और उनका असार　　जो तक्र (मट्ठा) है, पण्डितगण उसी का पान कर रहे हैं।

योगसाधना के बिना किसी भी प्रकार मोक्षलाभ के हेतुभूत जो तत्त्वज्ञान है, वह लाभ नहीं होता। योगहीन ज्ञान केवल अज्ञान मात्र अर्थात् वह सांसारिक ज्ञान है, उसके द्वारा केवल सुख-दुःख का बोध हुआ करता है, उस ज्ञान से मुक्ति के पथपर जाने में सहायता नहीं मिलती। इसलिए योगहीन ज्ञानद्वारा मुक्तिलाभ नहीं होता। यथा—

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीश्वरि।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि॥

—योगबीज, १६

इसका भावार्थ यह है कि योगहीन ज्ञान ज्ञान नहीं है एवं ज्ञानहीन योग भी योग नहीं है। योगयुक्त ज्ञान ही ज्ञान एवं ज्ञानयुक्त योग ही योग है।

सर्वे वदन्ति खड्गेन जयो भवति तर्हि कः॥ ५९
विना युद्धेन वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात्।
तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय न भवेत्॥ ६०
ज्ञानेनैव विना योगो न सिध्यति कदाचन। ६१

—योगबीज

—सभी कहा करते हैं कि, खड्ग से जयलाभ होता है, किन्तु खड्गधारण और पुरुषकार के बिना किसी युद्ध में जयलाभ जिस प्रकार असम्भव है, योगरहित ज्ञान से भी उसी प्रकार मोक्ष असम्भव है एवं ज्ञानरहित योग भी उसी प्रकार सिद्धिप्रद नहीं होता।

तस्मादत्र वरारोहे तयोर्भेदो न विद्यते॥

—योगबीज, ६१

—अतएव हे महेशानि, एतदुभय अर्थात् योग और ज्ञान में किसी प्रकार का भेद नहीं देखा जाता।

अतः योगसिद्धि होने से ही ज्ञानसिद्धि होती है एवं ज्ञानसिद्धि होने से ही योगसिद्धि होती है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

तज्जयात् प्रज्ञालोकः।

—पातञ्जलयोगदर्शन, ३।५

धारणा, ध्यान और समाधि इन त्रिविध मानस व्यापार को एकत्र संयुक्त कर पाने से ही संयम नामक प्रक्रिया उपस्थित होती है। इस संयम से प्रज्ञा नामक आलोक या उत्कृष्ट बुद्धिज्योतिः प्रकाशित होती है। उस ज्योतिः या प्रज्ञा को ज्ञान कहते हैं। प्रज्ञा कहने से जिस ज्ञान का बोध होता है, वह साधारण ज्ञान के समान ज्ञान नहीं है, वह योगयुक्त ज्ञान है। केवल शुष्कज्ञान से ब्रह्म को प्राप्त नहीं किया जाता, तभी अर्जुन को योगी होने का उपदेश देते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ६।४६

—जब योगी तपस्वी से श्रेष्ठ, ज्ञानी से श्रेष्ठ एवं कर्मी से भी श्रेष्ठ है, तो हे अर्जुन, तुम योगी होओ।

कारण—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ६।४५

—योगद्वारा सचेष्ट निष्पाप व्यक्ति जो अनेकजन्मसञ्चित योगप्रभाव से सम्यक् सिद्ध होकर श्रेष्ठगति लाभ करेगा, इस विषय में और क्या कहना है ?

अभ्यासात् कादिवर्णो हि यथा शास्त्राणि बोधयेत्।
तथा योगं समासाद्य तत्त्वज्ञानञ्च लभ्यते॥

—योगशास्त्र (घेरण्डसंहिता, १।५)

—जिस प्रकार ककारादि वर्णमालाओं के अभ्यास द्वारा समग्र शास्त्रों का अध्ययन किया जा सकता है, उसी प्रकार योगाभ्यासद्वारा तत्त्वज्ञान लाभ किया जा सकता है।

अतएव तत्त्वज्ञान लाभ के लिए ही योग का प्रयोजन है। यदि कहो, तत्त्वज्ञान लाभ कर क्या होगा ?—समस्त क्लेशों की शान्ति होगी। अर्थात् मैं और मायाजाल में बद्ध नहीं हूँ, मैं मुक्तपुरुष हूँ, यही समझा जायेगा।

क्लेश क्या है ?—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।

—पातञ्जलयोगदर्शन, २।३

—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पाँच प्रकार के मनोवेगों का नाम **क्लेश** है।

अविद्या क्या है ?

"अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।"

—अनित्य में नित्यज्ञान, अशुचि में शुचिज्ञान, दुःख को सुखज्ञान एवं अनात्मपदार्थ में आत्मज्ञान होने का नाम अविद्या है।* **अस्मिता** क्या है ? "दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता।"—दृक्शक्ति अर्थात् द्रष्टारूप में आत्मा के साथ दर्शनशक्तिरूप बुद्धितत्त्व का परस्पर ऐक्य या तादात्म्याध्यास हो जाने का नाम अस्मिता है। **राग** क्या है ? "सुखानुशयी रागः।"—सुखभोग की इच्छा का नाम है राग। **द्वेष** क्या है ? "दुःखानुशयी द्वेषः।"—दुःख के प्रति अनिच्छा या वितृष्णा का नाम द्वेष है। **अभिनिवेश** क्या है ? "स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः।"—पुनःपुनः भोगजन्य जो आरूढ़ वृत्ति है, उसका नाम अभिनिवेश है। अर्थात् मायाविमोहितावस्था में जिन कुछ कार्यों का उद्‌भावन होता है, वे सभी क्लेश हैं।

जबतक कि जीव को आत्मसाक्षात्कार लाभ नहीं होता है, तबतक कष्ट की सीमा नहीं रहती। उस अपरिसीम कष्ट की सीमा नहीं रहने पर भी प्रकारगत सीमा है, उस सीमा का नाम त्रिताप है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक, इन त्रितापों का नाम क्लेश है। ऐसा क्लेश क्यों होता है ?—प्रकृति और पुरुष के परस्पराध्यास के कारण।

अब देखना होगा कि, प्रकृति और पुरुष इन दोनों का जो परस्पराध्यास है, उसका उपशम, विलय या निवृत्ति किससे होती है, ताकि उस अध्यास की निवृत्ति होने से आत्मा या पुरुष स्वीय भाव में अधिष्ठित होगा। स्वीय

---

* पाठक ! सेक्सपीयर की उस डाकिनी की बात याद आती है ? —"Fair is foul and foul is fair." अविद्या भी वही डाकिनीविशेष है।

भाव क्या है? —मुक्तभाव, निष्क्रियभाव, जिस भाव में द्रष्टा-दृश्य या भोक्ता-भोग्यभाव नहीं है। आत्मा जिससे स्वीय भाव में अवस्थान कर सके, इसी का उपाय स्थिर करना होगा।

यदि कहो कि, 'तो क्या आत्मा अभी स्वीय भाव में अवस्थित नहीं है?' वह अवश्य अभी अपने भाव में अवस्थित है सत्य, किन्तु उस अपने भाव का प्रकाश नहीं है, उसके बदले द्रष्टा-दृश्य या भोक्ता-भोग्य भाव का प्रकाश हो रहा है। अर्थात् प्रकृति ने अब स्वयं ही चिन्मय पुरुष की भोग्या होकर उस चिन्मय पुरुष को अपना भोक्ता बना लिया है। प्रकृतपक्ष में चिन्मय पुरुष की भोगेच्छा नहीं रहने पर भी लौह और चुम्बक के समान अनिच्छा में क्रियाशक्ति का उद्रेक हुआ है; अतः आत्मा अब पुरुषरूप में भोक्ता एवं प्रकृति जगत्रूप में उसकी भोग्या बनी हुई है। उस भोक्ता-भोग्यभाव का अपसारण या निवृत्ति करनी होगी।

अब देखना होगा कि किस उपाय से उस निवृत्ति का उद्भावन किया जा सके। उस निवृत्ति का उपाय योग है। योगाभ्यास के बिना प्रकृति का मायाजाल ज्ञात नहीं हुआ जा सकता। जो पुरुष योगी है, उस पुरुष के सामने प्रकृतिदेवी अपना मायाजाल विस्तार नहीं करती, वरन् लज्जावनतमुखी होकर पलायन करती है, अर्थात् उस पुरुष की प्रकृति लयप्राप्त होती है। प्रकृति के लयप्राप्त होने पर वह पुरुष और पुरुषपदवाच्य नहीं होता, तब केवल आत्मा नाम से सत्स्वरूप में अवस्थिति करता है। इस सत्स्वरूप में अवस्थान कर पाने के लिए योगसाधना का प्रयोजन है।

ज्ञानकारणमज्ञानं यथा नोत्पद्यते भृशम्।
अभ्यासं कुरुते योगी तथा सङ्गविवर्जितः॥

—शिवसंहिता, ५।२१३

—सर्वदा निःसङ्ग होकर योगिपुरुष ज्ञान के लिए योगाभ्यास करें, ऐसा होने से फिर अज्ञान की उत्पत्ति नहीं होगी।

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य विषयेभ्यो विचक्षणः।
विषयेभ्यः सुषुप्तेव तिष्ठेत् सङ्गविवर्जितः॥
एवमभ्यासतो नित्यं स्वप्रकाशं प्रकाशते।

—शिवसंहिता, ५।२१४-२१५

—विषय-वासना से समस्त इन्द्रियों को संयत कर निःसङ्ग होकर निर्लिप्तभाव से सुषुप्त पुरुष के समान अवस्थिति करें। इस प्रकार अभ्यास नियत करने से साधक का ज्ञान स्वयं ही प्रकाशित होता है।

मायावाद

इस जगत् के सृजन-पालनादि में परमात्मा की जो शक्ति निहित है, उसी का नाम प्रकृति या माया है। यथा—

सा माया पालनीशक्तिः सृष्टिसंहारकारिणी।

—ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्र, १००

सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका।
माया नाम महाभाग ययेदं निर्ममे विभुः॥

—श्रीमद्भागवत, ३।५।२५

—हे महाभाग ! भगवान् ने अपनी जिस सत् और असत् गुणयुक्त शक्ति से इस विश्व का निर्माण किया है, उसका नाम है माया।

ज्ञानकाण्ड में माया का विषय सम्यक् आलोचित हुआ है। वेदान्त ने इस माया को असत् कहा है। कारण शैवदर्शन में माया शब्द का ऐसा अर्थ समझा गया है—

मातस्यां शक्त्यात्मना प्रलये सर्वं जगत् सृष्टौ व्यक्तिं यातीति माया।

—सर्वदर्शनसंग्रहः (शैवदर्शन, ४३)

—प्रलय में शक्त्यात्माद्वारा समस्त जगत् इसमें मिलित या उपसंहृत होता है एवं सृष्टिकाल में फिर समस्त ही व्यक्तीभूत हुआ करता है। इस अर्थ में माया—'मा' शब्द से उपसंहरण एवं 'या' शब्द से व्यक्तीकरण है।

अतएव महत्तत्त्व जो माया है, वह अविद्या का व्यक्तीकरण एवं उपसंहरण शक्तिमात्र है। वह सगुणा शक्तिरूप में वह फिर स्वयं निर्गुण मूलप्रकृति का विकार है ; इसलिए वह निर्गुण का परिणाम है। जो परिणामी है, वही असत् है। अविद्या-समुत्पन्न जीवजगत् का नियत ही अवस्थान्तर हो रहा है। अविद्या के परिणाम की सीमा और अन्त नहीं है। जगत् नियत ही परिवर्तित हो रहा है। यह अवस्थाभेद और परिणाम समस्त ही अनित्य है—नित्यवस्तु की अनित्य अवस्था है। जो अविद्या-स्वभाव है, कभी भी एकरूप में नहीं है, सतत ही अविद्यमान है, वही असत् अविद्या है। केवल एकमात्र ब्रह्म ही निर्विकार और सत् है। उस निर्विकार सद्वस्तु से प्रभेद रखने के लिए परिणामी अविद्या और माया को असत् कहा गया है।

त्रिगुणमयी माया अपनी प्रकृतिवशतः असत् है। यह प्रकृति द्विविध है—माया की आवरणशक्ति एवं विक्षेपशक्ति। आवरणशक्ति क्या है? अहङ्कारपूर्ण अविद्या जीव में लगातार कामना की उत्पत्ति कर रही है। इस कामना से जीव के कामनामय सूक्ष्मशरीर की सृष्टि है। यह सूक्ष्मशरीर ही जीव की प्रकृत देह है। यह देहभूत प्राण ही देही और जीवात्मा है। जीव की स्थूल पाञ्चभौतिक देह उस कामनामय देह की भोगशरीर मात्र है। यह कामनामय देह ही जीवात्मा के लिए पिञ्जरस्वरूप है। उस कामनामय घोर लोभी कंस के कारागार में जीवात्मा, वसुदेवरूप सात्त्विक विवेकज्ञान और देवशक्ति भक्तिमती देवकी के साथ बन्धनयुक्त होकर निवास करता है। तभी भगवान् ने कहा हैं—

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ३।३८-३९

—धूएँ द्वारा जिस प्रकार अग्नि, मलिनताद्वारा जिस प्रकार दर्पण एवं जरायुद्वारा जिस प्रकार गर्भ आवृत हुआ रहता है, कामनाद्वारा उसी प्रकार विवेकज्ञान आवृत रहता है। हे कौन्तेय ! ज्ञानियों का नित्यवैरी अति दुष्पूरणीय और अनलतुल्य सन्तापकर जो कामना है, उस कामनाद्वारा ही ज्ञानियों का ज्ञान आच्छन्न रहता है।

कामनामय माया की आवरणशक्ति का प्रभाव ऐसा है। यह आवरण कामना के धर्माधर्मजनित होता है। इसके कारण जीव का सात्त्विकांश मलिन हो जाता है, तभी अविद्या सत्त्वगुण को मालिन्यमय करती है। वह सत्त्वरूपी वासुदेव मालिन्यमय कामनाद्वारा आच्छन्न रहता है। यह कामना अति चञ्चला है, इसकी स्थिरता एकदम नहीं है। माया इस कामना से युक्त होकर सतत ही अनित्यभावापन्न हुई है। यह असत् कामनामयी अविद्या के अधीन होकर जीव कर्तृत्वाभिमान से पूर्ण रहता है। अपने कर्तृत्व से पूर्ण होकर वह और ईश्वरकर्तृत्व की उपलब्धि नहीं कर पाता है। जहाँ जीव कर्ता है, वहाँ ईश्वर कौन है ? यही कर्तृत्वाभिमान जीव की अन्तर्दृष्टि को आच्छन्न कर रखता है। वह जगत् में ईश्वर को नहीं देख पाता है। यही माया की घोर आवरणशक्ति है।

इस आवरणशक्ति के कारण माया की जो मिथ्यादृष्टि उत्पन्न होती है, उसी से माया की विक्षेप शक्ति की उत्पत्ति है। जीव का अभिमान जो मिथ्यादृष्टि का सञ्चार करता है, उसी दृष्टि के कारण जगत् का समस्त मायिक रूप और व्यवहार सत्य के रूप में प्रतीत होते रहते हैं। ये रूपसकल क्या वास्तविक सत्य हैं, अथवा जीव की कल्पना मात्र ? वेदान्ती कहते हैं, जीव

की मिथ्यादृष्टि माया-जगत् के जिन रूपों का विक्षेप करती है, वही माया की विक्षेपशक्ति का परिचायक है। अन्यथा जगत् **अनन्त ब्रह्ममय** है।

जीवदृष्टि के साथ ब्रह्मपदार्थ का एक विशेष प्रकार सम्बन्धजनित जगत् के एक विराट् रूप की कल्पना है। मनुष्य की आँखों के साथ जगत् का ऐसा सम्बन्ध है कि वह विशेष रूपविशिष्ट-सा बोध होता है। पेचक की दृष्टि में पेचकी जैसे सुन्दरी है, नर की दृष्टि में नारी भी वैसे ही सुन्दरी है। अतएव रूप केवल दृष्टि का विशेषप्रकार सम्बन्धनिबन्धन सञ्जात होता है। अतएव जीव की मानस-दृष्टि एवं स्थूल दृष्टिवशतः जगत् के स्थूल और सूक्ष्म रूप हैं। माया का अर्थ ही है रूप-परिणाम। यह जगत् ब्रह्म का सृष्ट रूप नहीं है, किन्तु यह जीव का कल्पित रूप है। यह कल्पना ही माया और मिथ्यादृष्टि है। यह माया केवल व्यवहारिक ज्ञान में वास्तविक है, अन्यथा यह परमार्थज्ञान में अतितुच्छ एवं युक्ति में अनिर्वचनीय है। शारीरक-भाष्यकार शङ्कराचार्य कहते हैं, "जिस प्रकार प्राकृत जीव जबतक प्रबुद्ध नहीं होता, तबतक स्वप्नसमूह् को वह सत्य ही समझता है, ब्रह्मात्म बोध के पहले तक सारे लौकिक व्यवहार को भी वैसा ही समझो।" —(वेदान्तदर्शन, २।१।१४)। वास्तविक, मनुष्य जब निद्राकाल में स्वप्न देखता है, तब वह कभी भी उस स्वप्न को मिथ्या नहीं समझता ; निद्राभङ्ग होने पर तब उस स्वप्न का अलीकत्व प्रतिपादित होता है। उसी प्रकार माया का अलीकत्व सम्पूर्णरूप से सप्रमाण करने का एकमात्र उपाय अध्यात्मविज्ञान है। अध्यात्मविज्ञान में योगप्रकरणद्वारा जो सम्यक् दर्शन जन्मता है, उसी दृष्टिप्रभाव से माया की अलीकता सम्पूर्णरूप से सप्रमाणित होती है। उसके द्वारा जीव मायारूप कारागार से देवशक्ति देवकी के साथ शुद्धसत्त्व वसुदेवरूप विवेकज्ञान का समुद्धार कर जीवात्मा (अपने) को अनायास ही मुक्त कर सकता है। नहीं तो उसे कामनासम्भूत सूक्ष्मशरीर लेकर अनेक जन्म-जन्मान्तरों में इस घोर दुःखमय संसार में आवागमन करना पड़ता है, किसी भी प्रकार वह

मुक्तिलाभ नहीं कर पाता है। इसे ही कामनाजात पाप-पुण्य कर्मों का बन्धकत्व कहते हैं। भगवान् ने कहा है—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ७।१३-१४

—यह जो सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भाव हैं, इन त्रिविध भावों से समस्त जगत् मोहित है। अतः मैं जो त्रिविध भावों से अस्पृष्ट एवं इनके नियन्ता होने से निर्विकार हूँ, यह कोई भी नहीं समझ सकता है। मेरी यह माया (ईश्वरशक्ति) अलौकिक गुणमयी (सत्त्वादिगुण-विकारात्मिका) एवं दुस्तरा है। किन्तु जो एकान्त भक्तिद्वारा मेरे शरणापन्न होते हैं, वे ही मेरी इस दुस्तरा माया का अतिक्रमण कर सकते हैं।

इस माया का कैसे अतिक्रमण किया जा सकता है ? जीव के कामनासम्भूत सूक्ष्मशरीर का विनाश करना ही मायाबन्धन काटने का प्रधान उपाय है। कामना परित्याग न कर पाने से उस शरीर का क्षय नहीं है। कर्मफल का अभिलाषी न होकर उसे ईश्वर को समर्पित करने से ही कामना परित्यक्त होती है। शुद्ध कर्तव्यज्ञान से सभी कार्यों में प्रवृत्त होने से कर्मफलाभिलाषा परित्यक्त होती है। प्रवृत्ति को इस प्रकार निवृत्तिपथ में लाकर निष्काम कर्म की साधना कर पाने से ही कामनाओं का लय किया जा सकता है ; मगर कामनामय शरीर धीरे-धीरे क्षयप्राप्त होता रहता है। कामनामय शरीर का लयसाधन करके भी यदि अहङ्कार (मैं पना) कुछ परिमाण में रहता हो, तो इसे भी ईश्वरार्पितचित्त से संहार करना होगा। अहङ्कार के तिरोहित होने पर ईश्वर का स्वारूप्य लाभ होता है। ईश्वर का स्वरूप लब्ध होने से तदुपाधि-स्वरूप केवल विशुद्ध सत्त्वगुण मात्र रह जाता है। इस सात्त्विकदेह के

लयसाधनार्थ निस्त्रैगुण्य की योगसाधना चाहिए। निस्त्रैगुण्य साधित होते ही विदेह होकर मुक्त जीवात्मा ब्रह्मपद लाभ करता है।

पहले भी कहा गया है कि जीव वासना-कामना के कारण ब्रह्म से स्वगतभेदसम्पन्न है ; अतएव साधना की भट्टी में गलाकर उस वासना-कामना रूप विकार को दूर करना होगा। माया ही वासना-कामनामय विकार है। अतएव जिस किसी साधना-प्रणालीद्वारा इस माया को प्रसन्न या वशीभूत कर पाने से उसकी कृपा से साधक ब्रह्मसायुज्य लाभ कर सकते हैं। देवी पार्वती के प्रश्न के उत्तर में सदाशिव ने कहा है—

> शृणु देवि महाभागे तवाराधनकारणम्।
> तव साधनतो येन ब्रह्मसायुज्यमश्नुते॥
> त्वं परा प्रकृतिः साक्षात् ब्रह्मणः परमात्मनः।
> त्वत्तो जातं जगत् सर्वं त्वं जगज्जननी शिवे॥
> महदाद्यणुपर्यन्तं यदेतत् सचराचरम्।
> त्वयैवोत्पादितं भद्रे त्वदधीनमिदं जगत्॥
> त्वमाद्या सर्वविद्यानामस्माकमपि जन्मभूः।
> त्वं जानासि जगत् सर्वं न त्वां जानाति कश्चन॥
>
> —महानिर्वाणतन्त्र, ४।९-१२

—देवि! लोग तुम्हारी साधना से ब्रह्मसायुज्य लाभ कर सकते हैं, इसलिए मैं तुम्हारी ही उपासना की बात कह रहा हूँ। तुम्हीं परब्रह्म की साक्षात् प्रकृति हो। हे शिवे! तुम्हीं से जगत् की उत्पत्ति हुई है, तुम जगत् की जननी हो। हे भद्रे! महत्तत्त्व से परमाणु तक समस्त चराचरों के साथ यह जगत् तुम्हीं से उत्पादित हुई है। यह अखिल जगत् तुम्हारी ही अधीनता में आबद्ध है। तुम समस्त विद्याओं की आदिभूत एवं हमारी जन्मभूमि हो। तुम समग्र जगत् से अवगत हो, किन्तु तुम्हें कोई नहीं जान सकता है।

मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत चण्डी से सुरथ-उपाख्यान पाठ करने से ही इस विषय की सम्यक् मीमांसा होगी। स्वारोचिष मन्वन्तर में चैत्रवंशसम्भूत सुरथ अवनीमण्डल के राजा हुए थे ; कुछ दिन बाद कोलाविध्वंसी (शूकरखादक यवन) भूपतियों ने उनके राज्य पर आक्रमण किया। अति प्रबल दण्डधारी राजा होकर भी दैववश सुरथ परास्त हुए। विश्वासघातक दुष्ट अमात्यों ने भी शत्रुओं के साथ मिल राजधानी के कोषागार और सैन्यसामन्तादि को हस्तगत कर लिया। अनन्तर राजा सुरथ अपहृताधिपत्य होकर मृगयाव्यपदेश में एकाकी अश्वारोहण कर अतिदुर्गम वन में चले गये।

किन्तु हाय, वन में जाकर भी वे मन को नहीं बाँध सके। स्वजनबान्धव किसी ने भी उनका अनुगमन नहीं किया। जिन्होंने उनकी विपत्ति में दूसरों का आश्रय लिया, जिन्होंने एक मुख की बात से भी उन्हें सान्त्वना प्रदान नहीं की, जिन्होंने उन्हें उत्सव के अन्त में बासी फूल के समान दूर फेंक देने में कष्ट का अनुभव नहीं किया, उनके मोह में, उनके विरह में, वे व्यथित, जर्जरित होने लगे।

राजा ने एक समय एक वैश्यजातीय व्यक्ति को देखकर उससे पूछा, "महाशय ! आप कौन हैं ? किसलिये यहाँ पधारे हैं ? आप शोकाकुल एवं दुश्चिन्तापरायण क्यों लग रहे हैं ?"

उस वैश्य ने भूपति के प्रणयभाषित इस प्रकार के वाक्य श्रवण कर विनयावनत होकर बोला, "मैं समाधि नामक वैश्य हूँ। धनसम्पन्न वंश में मेरी उत्पत्ति हुई थी। असाधुवृत्त पुत्रकलत्रों ने धनलोभ में लुब्ध होकर मुझे विताड़ित किया है। पुत्र-भार्यागण द्वारा मेरा धन ग्रहण कर लेने पर मैंने कलत्र और पुत्रविहीन एवं हितकारी बन्धुवर्ग द्वारा परित्यक्त होकर धनार्थ दुःखित होकर वन में यात्रा की है। मैं अब इस स्थान पर अवस्थिति कर पुत्र-कलत्र और बन्धुगणों के कुशलाकुशल वृत्तान्तादि से कुछ भी अवगत नहीं हो पा

रहा हूँ। मेरे पुत्रादि अभी कुशल से या अकुशल से हैं, वे सद्वृत्तिसम्पन्न या असद्वृत्तिपरायण हो रहे हैं, यह भी नहीं जान पा रहा हूँ।''

राजा बोले—

यैर्निरस्तो भवाँल्लुब्धैः पुत्रदारादिभिर्धनैः।
तेषु किं भवतः स्नेहमनुबध्नाति मानसम्॥

—श्रीदुर्गासप्तशती, १।२७-२८

—आप धनलुब्ध जिन पुत्र-भार्यादिद्वारा विताड़ित हुए हैं, उनके प्रति आपका मन स्नेह-प्रवण क्यों हो रहा है ?

वैश्य ने उत्तर दिया—

एवमेतद्यथा प्राह भवानस्मद्गतं वचः॥
किं करोमि न बध्नाति मम निष्ठुरतां मनः।
यैः सन्त्यज्य पितृस्नेहं धनलुब्धैर्निराकृतः॥
पतिस्वजनहार्दश्च हार्दि तेष्वेव मे मनः।
किमेतन्नाभिजानामि जानन्नपि महामते॥
यत्प्रेमप्रवणं चित्तं विगुणेष्वपि बन्धुषु।
तेषां कृते मे निःश्वासाः दौर्मनस्यश्च जायते॥
करोमि किं यन्न मनस्तेष्वप्रीतिषु निष्ठुरम्॥

—श्रीदुर्गासप्तशती, १।३०-३४

—आपने मेरे सम्बन्ध में जो कुछ कहा, वह अतीव सत्य है। किन्तु मैं क्या करूँ, मेरा चित्त बिल्कुल ही निष्ठुर नहीं हो पा रहा है। जिन्होंने धनलुब्ध होकर पितृस्नेह, पतिभक्ति और स्वजनप्रेम का परित्याग कर मुझे निराकृत किया है, उनके प्रति भी मेरा अन्तःकरण प्रेमप्रवण हो रहा है। हे महामते राजन्! आपने जो कहा, वह मैं भी समझ रहा हूँ; तथापि न जाने क्यों उन गुणरहित बन्धुओं के प्रति मेरा चित्त प्रेमासक्त हो रहा है, उसका

कारण बिल्कुल ही नहीं समझ पा रहा हूँ। उनके लिए मेरा निःश्वास निर्गत हो रहा है एवं चित्त व्याकुल हो रहा है, उन प्रीतिरहित बन्धुओं के प्रति मेरा चित्त बिल्कुल ही ममताविहीन नहीं हो पा रहा है ; अतएव मैं क्या करूँ ?

तब वे नृपतिश्रेष्ठ सुरथ और समाधि वैश्य उभय मिलकर मेधस मुनि के समीप उपस्थित हुए। उन दोनों ने यथानियम मुनि के पादवन्दनादि कर उपवेशन करने पर राजा ने कृताञ्जलिपुट से पुछा, ''भगवन् ! मूर्खलोग जिस प्रकार विषयासक्ति द्वारा परिमुग्ध होते हैं, मैं ज्ञानवान् होकर भी उसी प्रकार राज्य में एवं अखिल स्वाम्यमात्यादि राज्याङ्गविषयों में ममत्वाकृष्ट हो रहा हूँ, इसका कारण क्या है ? फिर देखिए, मेरे समान यह वैश्य भी पुत्र द्वारा निराकृत, स्त्री एवं भृत्यद्वारा परित्यक्त एवं स्वजनद्वारा संत्यक्त होकर भी उनके सम्बन्ध में अतिशय प्रेमवान् हो रहे हैं। इस प्रकार मैं और यह वैश्य विषय का दोष प्रत्यक्ष करके भी ममताद्वारा आकृष्टचित्त होकर अत्यन्त दुःखभोगी हो रहे हैं। जिन्होंने हमें पाँव के काँटे की तरह दूर कर दिया है, जिन्होंने हमारे शत्रु के वशानुग होकर हमारे प्रति नितान्त वाम हुआ है और निष्ठुर के समान व्यवहार किया है,—हम ज्ञानहीन नहीं, हमें ज्ञान हैं, सब समझ सकते हैं—तथापि हमारे लिए क्यों यह मरण-क्रन्दन—यह आकुल यातना ? हे महाभाग ! जो विवेकरहित हैं, उन्हें ही मुग्धता सम्भव है ; हम ज्ञानी होकर भी किस हेतु मुग्ध हो रहे हैं, आप इसका कारण कहें।''

महामुनि मेधस बोले, ''हे महाभाग ! इस संसार में समस्त विषय ही पृथक्-पृथक् रूप में प्रतीयमान हो रहे हैं एवं प्राणिमात्र को ही विषयों का ज्ञान हुआ करता है ; इसी से उन्हें ज्ञानी नहीं कहा जा सकता है। देखो, सभी प्राणी विषयों की उपलब्धि करते हैं, किन्तु जो दिवाप्रकाश वस्तु है, उस आत्मतत्त्वविषय में संसारासक्त प्राणी सदा ही अन्धे रहते हैं, वे कदापि उस तत्त्व की उपलब्धि नहीं कर पाते हैं। फिर आत्मराज्य में विचरणशील

मुनिगण रात्रि में अर्थात् बाह्यराज्य में अन्धे रहते हैं अर्थात् बहिर्भाव कुछ भी उन्हें अनुभूत नहीं होता है। और जो आत्मराज्य में उपनीत होकर लब्धज्ञान हुए हैं, वे रात-दिन—आन्तरराज्य और बहिःराज्य इन दोनों में समानरूप से एक आत्मसत्ता की ही उपलब्धि करते हैं, अतएव वे सर्वत्र ही तुल्यदृष्टिसम्पन्न हैं। तुम कह रहे हो कि तुम्हें ज्ञान है। हाय राजन्! यह क्या प्रकृत ज्ञान है? यह विषयगत ज्ञान है। इस ज्ञान से किसी प्रकार के विवेक का उदय नहीं हो सकता। तुमलोग अपने को जिस प्रकार से ज्ञानी समझ रहे हो, उसी प्रकार ज्ञानी अर्थात् विषय-राज्य के ज्ञानसम्पन्न मनुष्यमात्र ही होते हैं, यह बात सत्य है; केवल मनुष्य ही क्यों, पशु, पक्षी, मृग इत्यादि भी विषय की उपलब्धि करते हैं, अतः उन्हें भी ज्ञानी कहा जा सकता है। अर्थात् आहार-विहारादि बाह्यविषयों में मनुष्य और पशुपक्ष्यादि सभी एक जैसे ज्ञानविशिष्ट हैं। तथापि वह देखो, ज्ञान के बावजूद पक्षी स्वयं क्षुधापीड़ित होकर भी मोहवश आदर के साथ अपने शावकों की चोंच में तण्डुलादि के कण निक्षेप कर रहे हैं। हे मनुजव्याघ्र सुरथ! तुम क्या नहीं देख रहे हो, मनुष्य चरमकाल में प्रत्युपकारलुब्ध होकर पुत्रादि के प्रति स्नेहप्रवण होकर उनका लालनपालन करता है? किन्तु पशु, पक्षी इत्यादि की सन्तानें वर्ष-वर्ष पर जन्मती हैं, प्रत्येक बार वे जनक-जननी के साथ सम्बन्ध-विच्छिन्न कर कौन कहाँ चली जाती है, पशुपक्षिगण नित्य इसे प्रत्यक्ष किया करते हैं, किसी उपकार की सम्भावना नहीं, किसी लाभ की प्रत्याशा नहीं—तथापि क्यों यह त्यागस्वीकार, क्यों यह आत्मदान, जानते हो?

> तथापि ममतावर्त्ते मोहगर्ते निपातिताः ॥
> महामायाप्रभावेण संसारस्थितिकारिणा।
> तन्नात्र विस्मयः कार्यो योगनिद्रा जगत्पतेः ॥
> महामाया हरेश्चैतत्तया सम्मोह्यते जगत्।

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा॥
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।
तया विसृज्यते विश्वं जगदेतच्चराचरम्॥
सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये।
सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी॥
संसारबन्धहेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी॥

—श्रीदुर्गासप्तशती, १।५३-५८

ऋषि बोले, "तुम सोच सकते हो कि पुत्र-दारादि द्वारा प्रकृत सुख सम्पादित नहीं होता है, फिर क्यों मनुष्य अनर्थहेतु मोह का आश्रय ग्रहण कर निपातित होते हैं ? वास्तविक पक्ष में कोई भी स्वाधीनभाव से आत्म-अहित कामना नहीं करता है, किन्तु जो जगत् की स्थिति का सम्पादन कर रही हैं, उन्हीं महामाया के प्रभाव से ही प्राणिगण ममता-आवर्तपरिपूरित मोहगर्त में निपतित होते हैं। सर्वदा आत्महित-अनुसन्धायी मानव को भी जो महामाया एतादृशी दुर्गति प्रदान करती हैं, उससे तुम विस्मित मत होओ। कारण, दूसरों की बात तुम्हें और क्या बोलूँ, जो जगत्पति हरि हैं, वे भी इस महामाया के द्वारा वशीकृत हैं। ये सर्वेन्द्रियशक्ति की नियन्त्री हैं, इनका ऐश्वर्य अचिन्त्य है। ये ज्ञानियों के चित्त को भी बलपूर्वक सम्मुग्ध किया करती हैं। इनके द्वारा ही चराचर समस्त जगत् प्रसूत होता है, ये प्रसन्न होकर ही लोगों की मुक्तिदात्री होती हैं। ये महामाया जिस प्रकार संसार-गर्त में निपातकर्त्री हैं, उसी प्रकार ये ही फिर तत्त्वज्ञानस्वरूपा भी हैं, इनकी शक्तिद्वारा ही मानव तत्त्वज्ञान लाभ करता है, अतएव ये मुक्ति की हेतु हैं, नित्यवस्तु हैं। इनके द्वारा संसारबन्धन हुआ करता है, ये ब्रह्मादि की भी ईश्वरी हैं।"

महामुनि मेधस की बात सुन अश्रुपरिप्लावित नयनों से उनके मुख की ओर ताककर भक्तिगद्गद कण्ठ से राजा ने पूछा—

भगवन् का हि सा देवी महामायेति यां भवान्॥
ब्रवीति कथमुत्पन्ना सा कर्मास्याश्च किं द्विज।
यत्स्वभावा च सा देवी यत्स्वरूपा यदुद्भवा॥
तत्सर्वं श्रोतुमिच्छामि त्वत्तो ब्रह्मविदां वर॥

—श्रीदुर्गासप्तशती, १।६०-६२

—भगवन्! आपने जिन्हें महामाया कहकर कीर्तित किया, वे कौन हैं? वे किस प्रकार उत्पन्न हुईं? इनका कार्य ही क्या है? हे ज्ञानिश्रेष्ठ! वे कौन से स्वभाव से विशिष्ट हैं अर्थात् नित्या या अनित्या हैं? उनका स्वरूप क्या है? यह सब मैं आपसे श्रवण करने की इच्छा करता हूँ।

भक्तिकारुण्यकण्ठ से मेधस बोले—

नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्॥
तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयतां मम।

—श्रीदुर्गासप्तशती, १।६४-६५

—वे नित्या, जगन्मूर्ति हैं, अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड ही उनका स्वरूप हैं, उनके द्वारा इस स्थावरजङ्गमात्मक विश्व की सृष्टि हुई है। यद्यपि उनकी हमारे समान उत्पत्ति आदि कुछ भी नहीं है, तथापि लोग एक प्रकार से उनकी उत्पत्ति आदि कीर्तन करते हैं, सो तुम मेरे निकट बहु प्रकार से श्रवण करो। वे रूप हैं, रस हैं, गन्ध हैं, स्पर्श हैं, शब्द हैं। वे प्रकृति हैं, वे सत्त्व, रजः और तमोगुणविभाविनी हैं, उन्हें प्रसन्न कर मानव मुक्तिलाभ कर सकता है।

महामुनि मेधस ने राजा सुरथ के निकट देवी की उत्पत्ति आदि कीर्तन कर अन्त में कहा—

तयैतन्मोह्यते विश्वं सैव विश्वं प्रसूयते।
सा याचिता च विज्ञानं तुष्टा ऋद्धिं प्रयच्छति॥
व्याप्तं तयैतत्सकलं ब्रह्माण्डं मनुजेश्वर।
महाकाल्या महाकाले महामारीस्वरूपया॥

सैव काले महामारी सैव सृष्टिर्भवत्यजा।
स्थितिं करोति भूतानां सैव काले सनातनी॥
भवकाले नृणां सैव लक्ष्मीर्वृद्धिप्रदा गृहे।
सैवाभावे तथाऽलक्ष्मीर्विनाशायोपजायते॥
स्तुता सम्पूजिता पुष्पैर्धूपगन्धादिभिस्तथा।
ददाति वित्तं पुत्रांश्च मतिं धर्मे तथा शुभाम्॥

—श्रीदुर्गासप्तशती, १२।३७-४१

—"इस देवीद्वारा ही विश्वब्रह्माण्ड मुग्ध हो रहा है, ये ही इस विश्व की सृष्टि करती हैं। इनके निकट प्रार्थना करने से ये सन्तुष्ट होकर ज्ञान और सम्पत् प्रदान करती हैं। हे नृपते ! महाकाली से यह अनन्त विश्व परिव्याप्त है ; ये महाप्रलयकाल में ब्रह्मादि को भी आत्मसात् करती हैं एवं खण्ड प्रलय में भी ये समस्त प्राणियों का विनाश कर देती हैं। ये सृष्टि के समय समस्त विषयों की सृष्टि करती हैं, फिर स्थितिकाल में प्राणियों का पालन करती हैं, किन्तु उनकी कभी भी उत्पत्ति नहीं होती। ये नित्या हैं। लोकों के अभ्युदयसमय में ये वृद्धिप्रदा लक्ष्मी हैं, फिर अभाव के समय अलक्ष्मीरूप में विनाश करती हैं। इनका स्तव कर पुष्प, धूप, गन्धादि द्वारा पूजा करने से वित्तपुत्रादि दान और धर्म में शुभबुद्धि प्रदान करती हैं।"

एतत्ते कथितं भूप देवीमाहात्म्यमुत्तमम्।
एवंप्रभावा सा देवी ययेदं धार्यते जगत्॥
विद्या तथैव क्रियते भगवद्विष्णुमायया।
तया त्वमेष वैश्यश्च तथैवान्ये विवेकिनः॥
मोह्यन्ते मोहिताश्चैव मोहमेष्यन्ति चापरे।
तामुपैहि महाराज शरणं परमेश्वरीम्॥
आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा॥

—श्रीदुर्गासप्तशती, १३।२-५

ऋषि ने कहा, "हे भूप! मैंने यह देवीमाहात्म्य तुम्हारे निकट कीर्तन किया। वे देवी इस प्रकार प्रभावसम्पन्न हैं, उनके द्वारा ही यह समस्त विधृत है। ये भगवती विष्णुमाया प्रसन्न होने पर ही तत्त्वज्ञान लाभ हो सकता है। इस देवी ने तुम्हें, इस वैश्य को एवं अन्यान्य समस्त विवेकियों को मुग्ध किया था, अभी भी कर रही हैं एवं भविष्य में भी करेंगी। हे महाराज! तुमलोग इस देवी को आश्रयरूप में ग्रहण करो, कारण इनकी आराधना कर पाने से ही भोग, स्वर्ग एवं मुक्तिलाभ कर सकोगे।"

इस सुरथ-उपाख्यान में महामाया और उनकी आराधना का कारण सुस्पष्टरूप से वर्णित है। एकमात्र महामाया की आराधना कर उन्हें प्रसन्न कर पाने से जिस मुक्ति का हेतुभूत तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है, लगता है सभी समझ सके हैं। हमारे ज्ञान को ये विषयरूपिणी महामाया संसारस्थिति के लिए विध्वस्त कर मोहावर्त्त में मोहगर्त में निपातित करती हैं। उस ज्ञान को ये ज्ञानातीता महामाया बल के द्वारा आकर्षण और हरण कर जीव को सम्मुग्ध कर रखती हैं। इसी प्रकार से इन्होंने इस जगत् को स्थिर रखा है। अन्यथा कौन किसका है, किसके लिए क्या है? यदि मायावरण उन्मुक्त हो जाय, यदि मोह की चश्मा खुल जाय, तब कौन किसका पुत्र है, कौन किसकी कन्या है, कौन किसकी पत्नी है? ये महामाया रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श का बाजार लगाकर जीवों को प्रलुब्ध कर इस भव-बाजार में खेल खेल रही हैं। इस रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द के प्रलोभन में जीव दौड़ता फिर रहा है, इनके आकर्षण से समस्त जीव उन्मत्त हैं। जीव के वश में नहीं है कि इस नशे का—इस आकुल तृष्णा का निवारण कर सके। फिर भी अगर ये विषय-अधिष्ठात्री देवी, ये परमा विद्या मुक्ति की हेतुभूता सनातनी प्रसन्न होती हैं, तभी जीव इस बन्धन से विमुक्त हो सकता है। तभी महायोगी महादेव ने कहा है, "शक्तिज्ञानं विना देवि मुक्तिर्हास्याय कल्पते।" (निर्वाणतन्त्र, १०।४४) अर्थात् शक्ति-साधना के बिना मुक्ति की आशा

हास्यजनक और वृथा है। तभी साधक कवि ने गाया है, "भक्त होना केवल मूँ की बात नहीं, भक्त होने के पहले शाक्त होना पड़ता है।" शक्ति-साधना इन्हीं महामाया की साधना है। इनकी साधनाकर मनुष्य प्रकृति की जो सुखलालसा है, उसी का उपभोग करता है एवं मोहावर्त्त विनष्ट करता है। प्रकृति का रस उपभोग कर माया का बन्धन, आकर्षण की आकुलता विनष्ट कर, शक्तिसाधना में उत्तीर्ण हो सकने से साधक ब्रह्मसायुज्य लाभ कर सकते हैं। मैं भी इस खण्ड में ब्रह्मा-विष्णु-शिवाराध्या विन्ध्याद्रिनिलया महामाया के योगोक्त साधनोपाय विवृत करूँगा। ये देवी सर्वस्वरूपिणी हैं एवं समस्त जगत् इनका स्वरूप है, अतएव मैं सर्वरूपा इन परमेश्वरी देवी को नमस्कार करता हूँ।

सर्वरूपमयी देवी सर्वं देवीमयं जगत्।
अतोऽहं विश्वरूपां त्वां नमामि परमेश्वरि॥

कुलकुण्डलिनी साधना

अबतक जिन आद्याशक्ति महामाया के विषय में मैंने चर्चा की है, वे देवी जीव के आधारकमल में कुलकुण्डलिनीशक्तिरूप में अवस्थिति कर रही हैं। यथा—

मूलाधारे च या शक्तिर्गुरुवक्त्रेण लभ्यते।
सा शक्तिर्मोक्षदा नित्या विद्यातत्त्वं तदुच्यते॥
—तन्त्रवचन

—इस स्थूल शरीराभ्यन्तर में आधारकमल में जो शक्तिरूपा प्रकृति अधिष्ठिता हैं, उनका तत्त्व गुरुमुख से शिक्षा लें। वे शक्तिरूपा प्रकृतिदेवी ही मुक्तिदात्री हैं, इसलिए शक्तितत्त्व को विद्यातत्त्व कहते हैं।

विद्या अर्थ में ज्ञान है, ज्ञानोदय होने से ही अविद्या या अज्ञान विनाशप्राप्त होता है एवं अज्ञान के नाश होने से ही मुक्तिलाभ होता है।

गुह्यदेश से दो अंगुल ऊपर, लिङ्गमूल से दो अंगुल नीचे चार अंगुल विस्तृत मूलाधारपद्म है।* उसमें तेजोमय रक्तवर्ण क्लीं बीजरूप कन्दर्प नामक स्थिरतर वायु की वसति है। उसमें ठीक ब्रह्मनाड़ी के मुख पर स्वयम्भूलिङ्ग हैं। स्वयम्भूलिङ्ग रक्तवर्ण एवं कोटि सूर्यों के समान तेजोमय हैं। उनके गात्र में दक्षिणावर्त्त में साढ़े तीन बार वेष्टन कर, सर्परूप में अपनी पुच्छ मुख में देकर सुषुम्नाछिद्र को अवरोध कर कुलकुण्डलिनीशक्ति अवस्थान कर रही हैं। ये कुण्डलिनी ही नित्यानन्दस्वरूपा परमाप्रकृति हैं। उनके दो मुख हैं, वे विद्युल्लताकार और अतिसूक्ष्म हैं, देखने में अर्ध-ओङ्कार के प्रतिकृतितुल्य हैं। देव-दानव, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्गादि समस्त प्राणियों के शरीर में कुण्डलिनीशक्ति विराजित हैं। पद्मोदर में जिस प्रकार भ्रमर की अवस्थिति है, उसी प्रकार देह में वे अवस्थान करती हैं। उस कुण्डलिनी के अभ्यन्तर में कोमल मूलाधार में चित्शक्ति विराजित हैं। इनकी गति अतिशय दुर्लक्ष्य है। सद्गुरु की कृपा और साधक के साधनाबल के बिना कुलकुण्डलिनी को परिज्ञात होना अति कठिन है।

ये कुलकुण्डलिनी सर्ववेदमयी, सर्वमन्त्रमयी, सर्वतत्त्वमयी एवं पञ्चाशत् (पचास) वर्णरूपिणी हैं। ये अवस्थाभेद से त्रिगुणा, त्रिरेखा, त्रिवर्णा, त्रयी, त्रिलोकी, त्रिदोषा और प्रणवस्वरूपा हैं। यथा—

सर्ववेदमयी देवी सर्वमन्त्रमयी शिवा।
सर्वतत्त्वमयी साक्षात् सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरा विभुः॥
त्रिगुणा सा त्रिदोषा सा त्रिवर्णा सा त्रयी च सा।
त्रिलोका सा त्रिमूर्तिः सा त्रिरेखा सा विशिष्यते॥

---

* मूलाधारपद्म और कुण्डलिनी का विवरण मेरे रचित "योगीगुरु" ग्रन्थ में विस्तार से लिखा हुआ है।

कुलकुण्डलिनी योगियों के हृदय में तत्त्वरूपिणी एवं सर्वजीवों के मूलाधार में विद्युत् आकार में विराजित हैं। यथा—

योगिनां हृदयाम्बुजे नृत्यन्ती नित्यमञ्जसा।
आधारे सर्वभूतानां स्फुरन्ती विद्युदाकृतिः॥

इस स्थूलदेहात्मक बीजपञ्चक कुण्डलिनी के अन्तर्गत मूलाधार में प्राणपञ्चक रूप में सर्वदा प्रस्फुरित हो रहा है। तदुत्तम जीवनीशक्ति कुण्डलिनी देह में अवस्थिति कर जीवन द्वारा जीवरूप में, बोध द्वारा बुद्धिरूप में एवं अहंभाव द्वारा अहङ्काररूप में अवस्थिति करती हैं। वे ही अपानता प्राप्त होकर सतत अधोमुख से प्रवाहित हैं, नाभि में रहकर समान और ऊपर रहकर उदान नाम से अभिहित हुआ करती हैं। इन्हें यत्नपूर्वक रक्षा नहीं कर पाने से जीव मृत्युमुख में निपतित होता है।

कुण्डलिनी ही चैतन्यरूपा, सर्वगा और विश्वरूपिणी महामाया हैं। ये कुण्डलिनी ही निर्वाणकारिणी आद्याशक्ति महाकाली हैं। सब समय सभी अवस्थाओं में ही हम शक्ति का अनुभव किया करते हैं। वे हमारे सर्वाङ्गों में जड़ित हैं। हमारी जो दर्शनशक्ति, श्रवणशक्ति, सञ्जीवनीशक्ति, वाक्योच्चारणशक्ति एवं अङ्गसञ्चालनशक्ति—समस्त ही वे आद्याशक्ति कुण्डलिनी हैं। वे सर्वतेजोरूपिणी, सर्वप्रकाशकारिणी, सूक्ष्मरन्ध्रगामिनी, स्थूल-सूक्ष्मरूपिणी, सर्वभूताधारस्वरूपिणी एवं मूलाधारविहारिणी हैं। कुण्डलिनीशक्ति प्रचण्ड स्वर्णवर्ण तेजःस्वरूप में दीप्तिमती एवं सत्त्व, रजः और तमः इन त्रिगुणों की प्रसूति ब्रह्मशक्ति हैं। ये कुण्डलिनीशक्ति ही इच्छा, क्रिया और ज्ञान इन तीन नामों में विभक्त होकर सर्वशरीरस्थ चक्र-चक्र में परिभ्रमण करती हैं। यह शक्ति ही हमारी जीवनीशक्ति हैं।

प्रकृतिरूपा कुलकुण्डलिनीशक्ति चार अवस्थासम्पन्न होकर चिन्मयपुरुष की भोग्या होकर उस चिन्मयपुरुष को भोक्ता बना चुकी हैं। ये चार अवस्थाएँ यथा—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि।

—पातञ्जलयोगदर्शन, २।१९

—प्रकृति के सभी गुणों के चार प्रकार की अवस्थाएँ हैं, यथा—विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग।

विशेषावस्था—स्थूलतत्त्व का नाम विशेषावस्था है। पञ्चीकृत पञ्चभूत, पञ्चज्ञानेन्द्रिय और पञ्चकर्मेन्द्रिय ये पन्द्रह तत्त्व विशेषावस्था हैं।

अविशेषावस्था—सूक्ष्मतत्त्व का नाम अविशेषावस्था है। पञ्चतन्मात्र और मन या अन्तःकरण ये छः तत्त्व अविशेष अवस्था हैं।

लिङ्गावस्था—अहङ्कारतत्त्व और महत्तत्त्व ये दो तत्त्व लिङ्गावस्था हैं।

अलिङ्गावस्था—मूल प्रकृति मात्र है, यह एक तत्त्व अलिङ्गावस्था है। समुदाय चतुर्विंशति तत्त्वों के चार प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं।

अलिङ्गावस्था परिणामप्राप्त होकर ही अन्यान्य अवस्थाएँ उत्पन्न करती है। स्त्री-अणु जिस प्रकार पुं-अणु के संयोग से परिणाम प्राप्त होता है, उसी प्रकार प्रकृति-पुरुष के संयोग से परिणामप्राप्त एवं क्रमविवर्तित होकर स्थूल प्रकृति में परिणत होते हैं। ये ही प्रकृति की चार अवस्थाएँ हैं। जड़विज्ञान के मतानुसार जड़पदार्थ का परमाणुपुञ्ज जिस प्रकार जड़शक्ति के संयोग से क्षोभित और परिणत होता है, मूल-प्रकृति भी उसी प्रकार पुरुष-संयोग से क्षोभित होकर परिणाम में विकार और वैषम्य प्राप्त हुआ करती है। साधक स्मरण रखेंगे यह सूक्ष्मातिसूक्ष्मा प्रकृति और स्थूला प्रकृति पृथक् हैं। श्रीकृष्ण ने कहा है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि में पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ७।४-५

—मेरी मायारूप प्रकृति भूमि, जल, अनल, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहङ्कार इन आठ प्रकारों में विभक्त है। हे महाबाहो ! यह प्रकृति अपरा (निकृष्टा) है ; इससे भिन्न मेरी और एक जीवस्वरूप परा (उत्कृष्ट चेतनामयी) प्रकृति है, उसने इस जगत् को धारण किया है।

पाठक ! स्मरण रखें, मैं इसी परा-प्रकृति की ही बात कर रहा हूँ। ये परा-प्रकृति ही पुरुष के योग से क्रमविवर्तन के पथ पर अपरा प्रकृति होती हैं। वे मूल या पराप्रकृति महाशक्ति कुण्डलिनी नित्या हैं। इन्होंने जगन्मूर्ति एवं समस्त जगत् को मुग्ध कर रखा है। वे प्रसन्न होकर मनुष्यों को मुक्ति के लिए वर दान दिया करती हैं। वे विद्या, सनातनी और सबकी ईश्वरी एवं मुक्ति और बन्धन की हेतुभूता हैं। यदि कोई कहें, एक ही प्रकृति बन्धन और मुक्ति का कारण हुई किस प्रकार ? इसका उत्तर यह है कि एक ही सुन्दरी रमणी जिस प्रकार प्रियजनों के सुख का, सपत्नी के दुःख का एवं निराश प्रेमिक के मोह का हेतु हुई रहती है, उसी प्रकार महाशक्ति विद्या और अविद्यारूप में मुक्ति और बन्धन का हेतु हुई रहती हैं।

अतः संसारनाशाय साक्षिणीमात्मरूपिणीम्।
आराधयेत् परां शक्तिं प्रपञ्चोल्लासवर्जिताम्॥
—सूतसंहिता, शिवमा०ख० ५।१६

—अतएव संसारनाश के निमित्त उसी साक्षिमात्र, समस्त प्रपञ्च और उल्लासादि-परिवर्जित, आत्मस्वरूपा पराशक्ति की आराधना करें।

परा तु सच्चिदानन्दरूपिणी जगदम्बिका
सैवाधिष्ठानरूपा स्यात् जगद्भ्रान्तेश्चिदात्मनि॥
—स्कन्दपुराण

—चिदात्मा में यह जो जगत् का भ्रान्तिज्ञान होता है, इस विषय में उस सच्चिदानन्दरूपिणी पराशक्ति जगदम्बिका को ही अधिष्ठानस्वरूपा जानो।

एतत् प्रदर्शितं विप्रा देव्या माहात्म्यमुत्तमम्।
सर्ववेदान्तवादेषु निश्चितं ब्रह्मवादिभिः॥
एकं सर्वगतं सूक्ष्मं कूटस्थमचलं ध्रुवम्।
योगिनस्तत् प्रपश्यन्ति महादेव्याः परं पदम्॥
परात्परतरं तत्त्वं शाश्वतं शिवमच्युतम्।
अनन्तप्रकृतौ लीनं देव्यास्तत् परमं पदम्॥
शुभ्रं निरञ्जनं शुद्धं निर्गुणं दैन्यवर्जितम्।
आत्मोपलब्धिविषयं देव्यास्तत् परमं पदम्॥

—कूर्मपुराण, पूर्वभाग, १२।३३-३७

—हे विप्रगण ! देवी का माहात्म्य ब्रह्मवादी ऋषिगण के द्वारा परिनिश्चित होकर वेद और वेदान्तों में इस प्रकार प्रदर्शित हुआ है कि वे एकमात्र अद्वितीय सर्वत्रगामी नित्यकूटस्थ चैतन्यस्वरूपा हैं, केवल योगिगण ही उनका वह निरुपाधिक स्वरूप दर्शन करने में समर्थ हैं। प्रकृतिपरिलीन अनन्त मङ्गलस्वरूपा देवी का वह परात्पर तत्त्व और परमपद योगिगण ही अपने हृदयकमल में साक्षात् किया करते हैं। हे महर्षिवृन्द ! देवी का वह अतीव निर्मल, सतत विशुद्ध, सर्वदीनतादिदोषवर्जित, निर्गुण, निरञ्जन, केवल आत्मोपलब्धि का विषय, परमधाम एकमात्र विमलचेता योगेश्वर पुरुष ही दर्शन किया करते हैं।

सगुणा निर्गुणा सा तु द्विधा प्रोक्ता मनीषिभिः।
सगुणा रागिभिः सेव्या निर्गुणा तु विरागिभिः॥

—देवीभागवत, १।८।४०

—हे मुनिगण ! उन परब्रह्मरूपिणी सच्चिदानन्दमयी पराशक्तिदेवी को ब्रह्मवादी मनीषियों ने सगुण और निर्गुण भेदानुसार दो प्रकार का कहा है ; उनमें संसारासक्त सकाम साधकगण उनके सगुणभाव का, और वासनापरिवर्जित

ज्ञानवैराग्यपूर्ण निर्मलचेता योगिगण निर्गुणभाव का समाश्रयपूर्वक आराधना किया करते हैं।

चितिस्तत्पदलक्ष्यार्था चिदेकरसरूपिणी।

—ब्रह्माण्डपुराण

—चिति यह पद तत्पद का लक्ष्यार्थबोधक है, अतएव वे एकमात्र चिदानन्दस्वरूपा हैं।

यहाँ पाठक को और एक बात का स्मरण रखना होगा। वेदान्ती ने कहा है, माया मिथ्या, केवल अधिष्ठानरूप ब्रह्म में ही माया कल्पित हुआ करती है। इसीसे अधिष्ठान की सत्ता के अतिरिक्त माया की पृथक् सत्ता की प्रतीति नहीं होती है। फिर भी अभी माया में ही अधिष्ठानभूत सत्तारूप ब्रह्म की उपासना की सम्भावना को स्वीकार करना होगा। फलतः इस आकार में माया का स्वरूपत्व प्रतिपादन होने पर भी कोई विरोध संघटित नहीं हो सकता। कारण, ब्रह्मोपासनास्थल पर केवल ब्रह्म को ग्रहण न कर, जिस प्रकार ब्रह्मातिरिक्त शक्ति की सत्ता के अभाव में शक्तिविशिष्ट ब्रह्म को ग्रहण करना होगा, उसी प्रकार माया की आराधना करने पर भी परब्रह्मसत्ताविशिष्ट माया की उपासना को समझना होगा। सारांश यह कि जिस प्रकार निरुपाधिक विशुद्ध चैतन्यस्वरूप परब्रह्म की उपासना सम्भव नहीं, उसी प्रकार ब्रह्म को छोड़, केवल महामाया की उपासना भी सम्भव नहीं है। जबकि माया का आश्रयत्व नहीं है, वह ब्रह्म की ही आश्रिता है। अतः तान्त्रिक की महाशक्ति— "शवरूपमहादेव-हृदयोपरिसंस्थिता।" शवरूप महादेव ही निष्क्रिय परब्रह्म हैं, उन्हीं को आश्रय कर शक्ति क्रियाशीला है। यही महाकाली शिव के ऊपर अवस्थिति करके ही विश्व के सृष्टि-स्थिति-लयकार्य सम्पन्न कर रही है।

वैष्णवशास्त्र में भी देखने को मिलता है—"राधासङ्गे सदा भाति तदा मदन-मोहनः।" राधा पराप्रकृति हैं। निरुपाधिक चैतन्यस्वरूप परब्रह्म की

उपासना सम्भव नहीं, तभी शक्तिविशिष्ट ब्रह्म मदनमोहन की उपासना करनी होगी। राधा का परित्याग करने से मदनमोहन नहीं हुआ जाता। सराधा कृष्णचन्द्र ही मदनमोहन हैं। अतएव मदनमोहन का अर्थ प्रकृति-पुरुषरूपी सगुण ब्रह्म ही समझना होगा।

परब्रह्म और महामाया में अभेदत्व प्रतिपादन कर शास्त्र ने कहा है—

पावकस्योष्णतेवेयं उष्णांशोरिव दीधितिः।
चन्द्रस्य चन्द्रिकेवेयं शिवस्य सहजा ध्रुवा॥

—जिस प्रकार अग्नि की उष्णता, सूर्य की किरणमाला, चन्द्रमा की ज्योत्स्ना आदि स्वभावशक्ति हैं, उसी प्रकार वह परात्परा परमाशक्ति, शिव-परब्रह्म की स्वभावरूप शक्ति है।

स्वपदां स्वशिरश्छायां यद्वल्लङ्घितुमीहते।
पादोद्देशे शिरो न स्यात् तथेयं वैन्दवी कला॥

—जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने पदद्वारा अपने मस्तक की छाया लङ्घन करने की चेष्टा करता है, तो हर पदक्षेप पर ही मस्तक-छाया की विद्यमानता नहीं रहती है, उसी प्रकार इस बिन्दु-सम्बन्धिनी कला को जानोगे; अर्थात् परब्रह्म का परित्याग कर कदापि ब्रह्म-शक्ति की सत्ता नहीं रह सकती।

चिन्मात्राश्रयमायायाः शक्त्याकारे द्विजोत्तमाः।
अनुप्रविष्टा या सम्बित् निर्विकल्पा स्वयम्प्रभा॥
सदाकारा सदानन्दा संसारोच्छेदकारिणी।
सा शिवा परमा देवी शिवाऽभिन्ना शिवङ्करी॥

—हे द्विजोत्तमगण, चिन्मात्राश्रित मायाशक्ति के अवयव में अनुप्रविष्टा जो सद्रूपा सदानन्दमयी संसार-उच्छेदकारिणी कल्पनादिविरहिता स्वयम्प्रभा चित्शक्ति हैं, वे परमा देवी ही परमशिवरूपिणी हैं।

अतएव मूलाधारनिवासिनी कुलकुण्डलिनीशक्ति ही वे परमशिवरूपिणी हैं। इस शक्ति को आयत्त करना ही योगसाधना का उद्देश्य है।

ये कुलकुण्डलिनीशक्ति जीवात्मा का प्राणस्वरूप हैं। किन्तु कुण्डलिनीशक्ति ब्रह्मद्वार अवरोध कर सुख की निद्रा में हैं, इसी से जीवात्मा अविद्या के वश हो रिपु और इन्द्रियों द्वारा सञ्चालित होकर अहंभावापन्न है, एवं अज्ञान-मायाच्छन्न होकर सुखदुःखादि भ्रान्तिज्ञान से कर्मफल भोग रहा है। इस कुण्डलिनीशक्ति के जागरिता नहीं होने से किसी भी प्रकार से ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। यथा—

मूलपद्मे कुण्डलिनी यावन्निद्रायिता प्रभो।
तावत् किञ्चिन्न सिध्येत मन्त्रयन्त्रार्चनादिकम्॥
जागर्ति यदि सा देवी बहुभिः पुण्यसञ्चयैः।
तदा प्रसादमायाति मन्त्रयन्त्रार्चनादिकम्॥

—गौतमीयतन्त्र, ३२।३-४

—मूलाधारस्थित कुलकुण्डलिनीशक्ति जबतक जागरित नहीं होंगी, तबतक मन्त्रजप और यन्त्रादि से पूजार्चना विफल होंगी। यदि साधक के बहु पुण्यप्रभाव से वे कुण्डलिनीशक्ति जागरिता होती हैं, तो मन्त्रजपादि का फल भी सिद्ध होगा।

मूलाधारपद्म में अवस्थित कुलकुण्डलिनी का चैतन्य सम्पादन करने के लिए साधन-भजन योगादि नानाप्रकार के अनुष्ठान निर्दिष्ट हैं। योगानुष्ठानद्वारा उनका चैतन्यसम्पादन कर पाने में ही मानवजीवन का पूर्णत्व है। मूलाधारपद्म से कुण्डलिनी को चैतन्य कर शिरःस्थित सहस्रदलपद्म में परमशिव के साथ संयुक्त कर पाने से ब्रह्मयोग एवं जीवात्मा के साथ परमात्मा का संयोग होकर प्रकृत योग साधित होता है। मैं उसके कुछ उपाय इस खण्ड में प्रकाशित करूँगा।

सर्वप्रकार की साधनप्रणालियों में योगोक्त और तन्त्रोक्त साधनप्रणालियाँ श्रेष्ठ हैं। योगसाधना का सहज उपाय तन्त्र में व्यक्त हुआ है।* योगोक्त साधना ही इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है। अतएव प्रकृति-पुरुषयोग की साधना करने के लिए पहले योगाङ्ग और अन्यान्य विषयों का ज्ञान आवश्यक है। अतएव पहले अवश्यज्ञातव्य विषयों को लिख कर, फिर प्रकृत योग का विषय विवृत करूँगा। प्राथमिक शिक्षा में अभ्यस्त हुए बिना क्या कोई विश्वविद्यालय की उच्चशिक्षा का अधिकारी हो सकता है?

भक्तिपूर्ण चित्त से प्रत्यह मूलाधार में कुण्डलिनी का चिन्तन और उनका स्तव पाठ करने से, नित्यचिन्तन के फलस्वरूप उस शक्तिसम्बन्ध में ज्ञान पैदा होता है। कुलकुण्डलिनीशक्ति का स्तव, यथा—

ॐ नमस्ते देवदेवेशि योगीशप्राणवल्लभे।
सिद्धिदे वरदे मातः स्वयम्भुलिङ्गवेष्टिते॥
प्रसुप्तभुजगाकारे सर्वदा कारण-प्रिये।
कामकलान्विते देवि ममाभीष्टं कुरुष्व च॥
असारे घोरसंसारे भवरोगात् महेश्वरि।
सर्वदा रक्ष मां देवि जन्मसंसाररूपकात्॥

—योगसार

मनुष्य की देह में समस्त शक्तियाँ ही विद्यमान हैं, केवल शक्ति को वश में करने के लिए उपयुक्त शक्ति का सञ्चय नहीं किया जाता है, इसी कारण वे सब गुप्त अवस्था में अवस्थिति करती हैं। किसी शक्ति को उद्बोधित करना हो तो, उस पर अविच्छिन्न तैलधारा के समान चिन्तनप्रवाह चला पाने से ही उस चिन्तन या ध्यान के द्वारा वह शक्तितत्त्व हृदय में प्रकाशित होता है। साधक ध्यान और स्तवपाठ के अन्त में कुण्डलिनी देवी को भक्तियुक्त

* तन्त्रोक्त बहुविध साधनाएँ एवं ब्रह्मशक्ति का सविशेष तत्त्व मेरे रचित "तान्त्रिकगुरु" ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ है।

चित्त से प्रणाम करें। सभी को जान लेना उचित है कि कुलकुण्डलिनीशक्ति शाक्त, वैष्णव, शैव, सौर आदि सर्वसम्प्रदायभुक्त साधकों की इष्टदेवी हैं। उनका प्रणाम-मन्त्र यथा—

इन्द्रियाणामधिष्ठात्री भूतानाञ्चाखिलेषु या।
भूतेषु सततं तस्यै व्याप्तिदेव्यै नमो नमः॥

—श्रीदुर्गासप्तशती, ५।७७

अष्टाङ्ग योग और उसकी साधना

योग का स्वरूप और तात्पर्य ज्ञात हो जाने से यही पर्यालोचना करनी पड़ती है कि योग कहने से क्या समझा जाता है ? अर्थात् योग किसे कहते हैं ? परम योगी सदाशिव ने कहा है—

योऽपानप्राणयोर्योगः स्वरजोरेतसस्तथा।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः॥
एवन्तु द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते॥

—योगबीज, ७९-८०

—प्राण और अपान वायु, रजः और रेत अर्थात् नाद और बिन्दु, सूर्य और चन्द्र अर्थात् पिङ्गला और इड़ा का श्वास एवं जीवात्मा और परमात्मा के संयोगसाधना का नाम योग है।

योगसाधना में साफल्य लाभ करने के लिए योग के आठ अङ्गों का एक के बाद एक की साधना करनी होगी। साधना का अर्थ अभ्यास है। इस योग के आठ अङ्ग यथा—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।

—पातञ्जलयोगदर्शन, २।२९

—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठ साधनाओं का नाम है अष्टाङ्ग योग।

इन आठ प्रकार के योगाङ्गों द्वारा सात प्रकार की साधना कीर्तित होती हैं। इसका कारण यह है कि यम और नियम नाम के दो अङ्ग योगविषय के साधन नहीं हैं। अतः आसन नामक तृतीयाङ्ग से लेकर समाधि तक जो छः अङ्ग हैं और षट्कर्म नामक एक उपाङ्ग है, इन सातों की सात प्रकार साधना उक्त हुई हैं। यथा—

शोधनं दृढ़ता चैव स्थैर्यं धैर्यञ्च लाघवम्।
प्रत्यक्षञ्च निर्लिप्तत्वं दैहिकं सप्तसाधनम्॥

—गोरक्षसंहिता, ४।६

—शोधन, दृढ़ता, स्थिरता, धैर्य, लघुत्व, प्रत्यक्ष और निर्लिप्तता इन सात प्रकार की साधनाद्वारा देह को परिशुद्ध करना होता है।

जिस-जिस योगाङ्गद्वारा जो-जो साधना सम्पन्न करनी होती है, वही बतायी जा रही है, यथा—

षट्कर्मणा शोधनञ्च आसनेन भवेदृढ़म्।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता॥
प्राणायामात् लाघवञ्च ध्यानात् प्रत्यक्षमात्मनि।
समाधिना निर्लिप्तत्वं मुक्तिरेव न संशयः॥

—गोरक्षसंहिता, ४।७-८

—षट्कर्मद्वारा शोधन, आसनद्वारा दृढ़ता, मुद्राद्वारा स्थैर्य, प्रत्याहारद्वारा धीरता, प्राणायामद्वारा लघुत्व, ध्यानद्वारा प्रत्यक्ष और समाधिद्वारा निर्लिप्तत्व की साधना करने से अवश्य ही मोक्षलाभ हुआ करता है।*

* स्कन्दपुराण (आवन्त्य खण्ड) में मतान्तर से—

प्राणायामैर्देहदोषान् धारणादिभिश्च किल्विषम्।
प्रत्याहारेण विषयान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्॥ ५।३।२००।१२

—प्राणायामद्वारा समस्त देहदोष, धारणाद्वारा पापराशि, प्रत्याहारद्वारा विषयसमुदाय एवं ध्यानद्वारा अनीश्वर गुणसमूह को दग्ध करो।

षट्कर्म और मुद्रा ये दो विषय योग के अष्टाङ्ग से पृथक् हैं, इसलिए पाठकों के निकट ये नूतन हैं। अतएव ये दो विषय सम्यक्रूप से लिखे जायेंगे। पहले देखा जाय, षट्कर्म किसे कहते हैं और उनकी साधना कैसी है।

धौतिर्वस्तिस्तथा नेति लौलिकी त्राटकस्तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत्॥

—गोरक्षसंहिता, ४।९

—धौति, वस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक और कपालभाति इन छः प्रकार के शोधनकार्यों को षट्कर्म कहते हैं। इस षट्कर्मसाधना के प्रकारभेद यहाँ प्रदर्शित हुए।

धौतिप्रकार—अन्त्रधौति—वातसार, वारिसार, वह्निसार, बहिष्कृति ; दन्तधौति—दन्तमूल, जिह्वामूल, कर्णमूल, कपालरन्ध्र ; हृद्धौति—दन्तद्वारा, वमनद्वारा, वस्त्रद्वारा ; मूलशोधन—गुह्यदेश का अभ्यन्तर प्रक्षालन। **वस्तिप्रकार**—जलवस्ति, शुष्कवस्ति। **नेतिप्रकार**—मुख और नासिका में सूत्रचालन। **लौलिकीप्रकार**—उदर सञ्चालनपूर्वक नाड़ी परिष्कारकरण। **त्राटकप्रकार**—आँखों का पलक न झपकाना। **कपालभातिप्रकार**—वातक्रम, व्युत्क्रम, शीतक्रम।*

इस षट्कर्मद्वारा पहले नाड़ीशोधन करने के बाद योगाभ्यास करना होता है। कारण, शरीरस्थ नाड़ियाँ मलादि से दूषित रहती हैं। नाड़ीशोधन के बिना वायुधारण नहीं किया जा सकता। किन्तु षट्कर्मद्वारा नाड़ीशोधन साधारण लोगों के लिए अति दुष्कर है। उसके उत्तमरूप में अनुष्ठित न होने से नानाविध दुःसाध्य रोगोत्पत्ति की सम्भावना रहती है। इसीलिए उपयुक्त व्यक्ति के उपदेशानुसार विशेष सतर्कता के साथ षट्कर्म सम्पादन करना होता है।

---

* इनकी साधनाप्रणाली साधकों को मौखिक उपदेश से दिया जाता है।

जो साधक यह दुष्कर समझेंगे, वे मेरे रचित "योगीगुरु" ग्रन्थ में लिखित आन्तर प्रयोग* द्वारा नाड़ीशोधन की व्यवस्था करेंगे। वह सबके लिए सुकरणीय होता है।

अब मुद्रा का विषय जानना आवश्यक है। मुद्रा के अभ्यासद्वारा मन का स्थैर्य और कुलकुण्डलिनीशक्ति की चेतना होती है। यथा—

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्॥

—शिवसंहिता, ४।२५

—सभी प्रकार के यत्नों के साथ उस ब्रह्मरन्ध्रमुखस्थिता निद्रिता परमेश्वरी कुलकुण्डलिनीशक्ति को प्रबोधित करने के लिए मुद्राभ्यास करें।

मुद्रा शारीरिक व्यायाम के अनुरूप है। देहस्थित वायु आदि के शरीर-सङ्कोचन-विकोचन के द्वारा इच्छानुसार सञ्चालन को मुद्रा कह सकते हैं। इसका भी खूब सावधानी के साथ अभ्यास करना होता है। मुद्रा अनेक प्रकार की हैं, जिनमें महामुद्रा, नभोमुद्रा या खेचरी मुद्रा, उड्डीयान, जालन्धरी, मूलबन्ध, महाबेध, विपरीतकरणी, महाबन्ध, योनि, बज्रोली, शक्तिचालनी, तड़ागी, माण्डवी, पञ्चधारणा (पञ्चप्रकार धारणा, यथा— अधो वा पार्थिवा, आम्भसी, वैश्वानरी, वायवी और नभसी), शाम्भवी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गी एवं भुजङ्गिनी—ये पञ्चविंशति प्रकार की मुद्राएँ योगियों के लिए सिद्धिदात्री हैं।

---

* प्राणायामक्षपितमनोमलस्य चित्तं ब्रह्मणि स्थितं भवतीति प्राणायामो निर्दिश्यते। प्रथमं नाडीशोधनं कर्तव्यम्। ततः प्राणायामेऽधिकारः। दक्षिणनासिकापुटमङ्गुल्यावष्टभ्य वामेन वायुं पूरयेद्यथाशक्ति। ततोऽनन्तरमुत्सृज्यैवं दक्षिणेन पुटेन समुत्सृजेत्। सव्यमपि धारयेत्। पुनर्दक्षिणेन पूरयित्वा सव्येन समुत्सृजेद्यथाशक्ति। त्रिःपञ्चकृत्वो वा एवम् अभ्यस्यतः सवनचतुष्टयमपररात्रे मध्याह्ने पूर्वरात्रेऽर्धरात्रे च पक्षान्मासाद्विशुद्धिर्भवति।

—श्वेताश्वतरोपनिषद् में, शाङ्करभाष्य, २।८

धारणा की साधना मुद्राद्वारा सम्पन्न होती है। योगिवर गोरक्षनाथ के अनुसार योगाङ्ग केवल छः हैं। यथा—

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट्॥

—गोरक्षसंहिता, १।५

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये छः प्रकार
के साधन योग के अङ्ग कहे गये हैं। इन्होंने आसनद्वारा दृढ़ता, प्रत्याहारद्वारा
धीरता, प्राणायामद्वारा लघुत्व, ध्यानद्वारा प्रत्यक्ष, समाधिद्वारा निर्लिप्तता के
विषय का वर्णन किया है। उनमें आसन, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और
समाधि इन पाँच मात्र योगाङ्ग नाम से उल्लेख किये गये हैं। ये छः योगाङ्ग
स्वीकार करते हैं, किन्तु पाँच की साधना उल्लेख किये हैं मात्र। अवशिष्ट
धारणा नाम के योगाङ्ग के किसी भी प्रकार की साधना उल्लेख नहीं की
है, उसके बदले मुद्राद्वारा स्थैर्यसाधना का उल्लेख किया है। इससे समझा
जाता है कि धारणाद्वारा मुद्रारूप प्रक्रियासहयोग से साधना को स्थैर्यसाधना
कहा गया है। यम और नियम ये दो योगाङ्ग यद्यपि गोरक्षनाथ स्वीकार नहीं
करते, तथापि षट्कर्म के द्वारा शोधनकार्य करने की बात का उल्लेख किया
है। इससे समझा जाता है कि षट्कर्म भी नियम नामक योगाङ्ग के अन्तर्गत
है, क्योंकि षट्कर्म के लिए जिन सारी पद्धतियों का उल्लेख है एवं नियम
नामक योगाङ्ग की जैसी साधना देखी जाती है, उनके परस्पर मिलने से
षट्कर्म नामक शोधनकार्य, नियम नामक योगाङ्ग का अंश के रूप में ही
विशेष प्रतीत होता है। केवल "यम" नामक योग के प्रथमाङ्ग के किसी
भी प्रकार की साधनाप्रक्रिया नहीं देखी जाती है, क्योंकि उसकी अधिकांश
क्रियाएँ ही मानसिक हैं। इसलिए कहा जा सकता कि यम नामक योग का
प्रथमाङ्ग केवल चित्तशुद्धि की साधना के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

इसलिए अनेक योगिपुरुषों ने यम नामक अङ्ग को योगाङ्ग के अन्तर्गत नहीं रखा है। जो भी हो, जहाँ तक समझ में आया है, उसमें ऐसा मिलन संस्थापन करना शायद असंगत नहीं होगा, यथा—

प्रथमाङ्ग यम	उसकी साधना		चित्तशुद्धि का अभ्यास
द्वितीयाङ्ग नियम	,,	(षट्कर्मद्वारा)	शोधन अभ्यास
तृतीयाङ्ग आसन	,,		दृढ़ताभ्यास
चतुर्थाङ्ग प्राणायाम	,,		लाघवाभ्यास
पञ्चमाङ्ग प्रत्याहार	,,		धैर्याभ्यास
षष्ठाङ्ग धारणा	,,	(मुद्राद्वारा)	स्थैर्याभ्यास
सप्तमाङ्ग ध्यान	,,		प्रत्यक्षताभ्यास
अष्टमाङ्ग समाधि	,,		निर्लिप्तताभ्यास

इस तरह से आठ प्रकार साधनाभ्यास के लिए योग के आठ प्रकार के अङ्ग वर्णित हुए हैं। इन आठ प्रकार के योगाङ्ग की क्रमान्वय से साधना करने से निश्चय ही मोक्षलाभ हुआ करता है। इन आठ प्रकार के योगाङ्गों का पृथक्-पृथक् विवरण मेरे रचित "योगीगुरु" ग्रन्थ में लिखित हैं।

इस ग्रन्थ के पाठ करने के पूर्व "योगीगुरु" नामक पुस्तक को एकबार पढ़ लेना चाहिए। कारण, उसमें योग की प्राथमिक शिक्षा अर्थात् शरीरतत्त्व, यथा—नाड़ी, वायु और चक्रादि के विवरण एवं आसनसाधनादि लिखित हैं। विस्तार के भय से इस ग्रन्थ में उनकी पुनरावृत्ति नहीं की गई है। अतः उन्हें समझे बिना इन समस्त तत्त्वों को समझने में गलती या सन्देह हो सकता है। केवल इस खण्ड में लिखित साधनाप्रणालियों के सुविधार्थ प्राणायाम और समाधि के विषय विस्तृतरूप से वर्णित होंगे। कारण, प्राणायाम की साधना किये बिना योग के उच्च-उच्च विषयों का अभ्यास करने में समर्थ नहीं हुआ जाता।

प्राणायाम साधना

श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक गति भङ्ग कर उक्त श्वास-प्रश्वास को शास्त्रोक्त नियमों के अधीन करना या स्थानविशेष में धारण करना ही प्राणायाम है। योगशास्त्र के आचार्य भगवान् पतञ्जलि ने कहा है—

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।

—पातञ्जलयोगदर्शन, २।४९

—श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक गति विच्छिन्न कर योग के नियम से धारण करने का नाम प्राणायाम है।

पूर्वार्जितानि पापानि पुण्यानि विविधानि च।
नाशयेत् षोड़शप्राणायामेन योगिपुङ्गवः॥

—शिवसंहिता, ३।५९

—साधक षोड़श प्राणायाम कर पूर्वजन्म और इहजन्मकृत ज्ञानाज्ञान विविध प्रकार के पाप और पुण्यों को विनष्ट करें।

पुण्य विनष्ट करने का कारण यह है कि पाप और पुण्य दोनों ही बन्धन के हेतु हैं—मगर सोने की जञ्जीर और लोहे की जञ्जीर जैसी।

प्राणायामेन योगीन्द्रो लब्ध्वैश्वर्याष्टकानि वै।
पापपुण्योदधिं तीर्त्वा त्रैलोक्यचरतामियात्॥

—शिवसंहिता, ३।६१

—योगीन्द्रव्यक्ति प्राणायामद्वारा अणिमादि ऐश्वर्य लाभकर पापपुण्यरूप महासमुद्र उत्तीर्ण होकर त्रिलोक में पर्यटन कर सकते हैं।

पूर्वार्जितानि कर्माणि प्राणायामेन निश्चितम्।
नाशयेत् साधको धीमानिहलोकोद्भवानि च॥

—शिवसंहिता, ३।५८

—प्राणायाम द्वारा साधक के पूर्वजन्मार्जित और इहजन्मार्जित कर्मसमुदाय विनाश प्राप्त हुआ करता है।

साधक तीन घण्टे मात्र वायुधारण में सक्षम होने पर समस्त अभिलषित पदार्थ लाभ कर सकता है। यथा—

वाक्सिद्धिः कामचारित्वं दूरदृष्टिस्तथैव च।
दूरश्रुतिः सूक्ष्मदृष्टिः परकायप्रवेशनम्॥
विण्मूत्रलेपने स्वर्णमदृश्यकरणन्तथा।
भवन्त्येतानि सर्वाणि खेचरत्वञ्च योगिनाम्॥

—शिवसंहिता, ३।६३-६४

—साधक तब स्वेच्छाविहार कर सकते हैं, उनका वचन सिद्ध होता है एवं दूरदृष्टि होती है ; दूरश्रवण, अतिसूक्ष्म दर्शन और परशरीर में प्रवेश की क्षमता जन्मती है ;* विण्मूत्रलेपन से स्वर्ण धातु हो जाता है एवं अन्तर्धान होने की क्षमता पैदा होती है। योग-प्रभाव से इन सभी शक्तियों का लाभ होता है एवं अविरोध शून्यपथ में गमनागमन करने की क्षमता जन्मती है।

याममात्रं यदा पूर्णं भवेदभ्यासयोगतः।
एकबारं प्रकुर्वीत तदा योगी च कुम्भकम्॥
दण्डाष्टकं यदा वायुर्निश्चलो योगिनो भवेत्।
स्वसामर्थ्यात्तदाङ्गुष्ठे तिष्ठेद्वातुलवत् सुधीः॥

—शिवसंहिता, ३।६९-७०

जब अभ्यास करते हुए पूरा एक प्रहर तक वायु बन्द रखने का सामर्थ्य पैदा होता है, तब एकबार मात्र कुम्भक करने से हो जाता है। एक प्रहर काल यदि योगी के शरीर में प्राणवायु निश्चल रहे, तो योगी स्वकीय सामर्थ्य से वातुल (निश[illegible] [illegible]मान अङ्गुष्ठ पर खड़े रह सकते हैं।

* शङ्करावतार शङ्कराचार्य कामकलासम्बन्धीय ज्ञानलाभ के लिए राजा अमरूक की मृतदेह में प्रवेश कर कम-से-कम एक महीने तक राजसुख भोगते रहे।

इस अवस्था के अन्त में अभ्यासयोग से योगी की परिचयावस्था होती है। जब इड़ा-पिङ्गला का परित्याग कर वायु निश्चल हुई रहती है एवं प्राणवायु सुषुम्नानाड़ी के मध्यस्थ छिद्रपथ से केवल सञ्चारित होती है, तब उसे परिचय अवस्था कहते हैं। यथा—

क्रियाशक्तिं गृहीत्वैव चक्रान् भित्त्वा सुनिश्चितम्।
यदा परिचयावस्था भवेदभ्यासयोगतः।
त्रिकूटं कर्मणां योगी तदा पश्यति निश्चितम्॥

—शिवसंहिता, ३।७३-७४

—उक्त वायु क्रियाशक्ति ग्रहण कर समस्त चक्र भेदनपूर्वक जब अभ्यासयोग से सुनिश्चित परिचयावस्था प्राप्त होती है, तब साधक के निश्चित कर्म के त्रिकूट दर्शन होते हैं। अर्थात् कर्मजन्य आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन त्रिविध तापों का अनुभव होता है,—उनका स्वरूपदर्शन होकर प्रकृति को समझा जा सकता है।

योगिवर गोरक्षनाथ ने कहा है—

अल्पकाले भवेत् प्राज्ञः प्राणायामपरायणः।
योगिनो मुनयश्चैव ततः प्राणं निरुन्धयेत्॥

—गोरक्षसंहिता, १।२३२

—प्राणायामपरायण व्यक्ति अल्पकाल में ही प्राज्ञ अर्थात् आत्मतत्त्वज्ञ हो सकते हैं। इसलिए योगिगण और मुनिगण प्राणसंरोध का अभ्यास करें।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।

—पातञ्जलयोगदर्शन, २।५०

प्राणायाम वृत्तिभेद से तीन प्रकार के हैं—बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति। रेचक का नाम बाह्यवृत्ति है अर्थात् श्वास त्याग कर ग्रहण न करना। पूरक का नाम आभ्यन्तरवृत्ति है अर्थात् श्वास ग्रहण कर त्याग न करना। और कुम्भक का नाम स्तम्भवृत्ति है अर्थात् प्रपूरित वायु को रुद्ध

करके रखना। उक्त प्राणायाम फिर दो प्रकार का है—दीर्घ और सूक्ष्म। दीर्घ या सूक्ष्म जानने के उपाय स्थान, काल और संख्या है। देह में वायुपूरणकाल में आपादमस्तक यदि चिन् चिन् करे, तभी समझो कि दीर्घ है। यदि चिन् चिन् न करे, तभी सूक्ष्म है। इस प्रकार से जानने का नाम है **स्थान**। कितने समय तक कुम्भक किया गया यह भी जाना जाता है। यदि अधिक समय तक किया जाय, तभी दीर्घ, नहीं तो सूक्ष्म। इस प्रकार से जानने का नाम है **काल**। और संख्याद्वारा अर्थात् १६।६४।३२ बार प्रभृति संख्याओं से मन्त्रजपद्वारा जो जाना जाता है, उसका नाम है **संख्या**। संख्यावृद्धि कर पाने से ही दीर्घ एवं संख्या का ह्रास होने से सूक्ष्म है।

प्राणापाननिरोधस्तु प्राणायाम उदाहृतः।

—मार्कण्डेयपुराण, ३९।१२

—प्राण और अपान वायु के परस्पर संयोग को प्राणायाम कहते हैं। रेचक, पूरक और कुम्भक ये त्रिविध कार्य सम्पन्न करने को प्राणायाम कहते हैं, यथा—

प्राणापानसमायोगः प्राणायाम इतीरितः।
प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचकपूरककुम्भकैः॥

—योगियाज्ञवल्क्यम्, ६।२

प्राणायामपरायण व्यक्ति सर्वरोगमुक्त होते हैं; किन्तु अयुक्त अभ्यास से नानाविध रोगों की उत्पत्ति होती है। यथा—

प्राणायामेन सिद्धेन सर्वव्याधिक्षयो भवेत्।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वव्याधिसमुद्भवः॥
हिक्का श्वासश्च कासश्च शिरःकर्णाक्षिवेदनाः।
भवन्ति विविधा रोगाः पवनस्य व्यतिक्रमात्॥

—सिद्धियोग

—प्राणायामसाधना से सिद्धिलाभ करने से सर्वव्याधियाँ विनष्ट होती हैं ; किन्तु पहले शिक्षार्थी विशेष सतर्कता के साथ क्रम से अभ्यास करेगा, कारण प्राण से ही इसे काम है ; वायु के व्यतिक्रम एवं अयुक्त अभ्यास के कारण इससे हिक्का, श्वास, कास, शिरोवेदनां, चक्षुवेदना, कर्णवेदना इत्यादि विविध रोगों की उत्पत्ति हो सकती है।

अतएव श्वासप्रश्वास का आकर्षण कदाचित् वेग के साथ मत करो ; दोनों को ही धीरे-धीरे सावधानी के साथ करना होता है। इस प्रकार अल्पवेग से श्वास परित्याग करना होगा कि, हस्तस्थित सत्तू कहीं निश्वास के वेग से उड़ न जाय। रेचक, पूरक या कुम्भक किसी में भी अङ्गप्रत्यङ्ग कम्पित या वक्र न करें। इस प्रकार उपयुक्त रूप से प्राणायाम सीख पाने से ही वह शीघ्र आयत्ताधीन और अपीड़क होता है। इसकी अनदेखी करने से अर्थात् शीघ्र कार्य सम्पन्न करने की चेष्टा कर श्वास-प्रश्वास की अनियमितता सृष्टि कर लेने से अनिष्ट उपस्थित होता है। प्राणवायु यदि हठात् आबद्ध होती है, तो ऐसा होने से वह बद्ध वायु रोमकूपों से निःसृत और उसके द्वारा देह विदीर्ण हो सकती है। अतएव अरण्यहस्ती के समान उसको धीरे-धीरे वशीभूत करना चाहिए। वन्यहस्ती जिस प्रकार धीरे-धीरे वश में होता है, प्राणवायु भी उसी प्रकार धीरे-धीरे वश्य और मृदु होती है, हठात् नहीं। प्राणायाम-शिक्षार्थी जब कुम्भक के बाद रेचन करेंगे अर्थात् आकृष्यमाण बाह्यवायु का जब परित्याग करेंगे, तब और भी अधिक सतर्क रहने की जरूरत है।

प्रस्वेदजनको यस्तु प्राणायामेषु सोऽधमः।
कम्पे च मध्यमः प्रोक्त उत्थानश्चोत्तमो भवेत्॥
—योगियाज्ञवल्क्यम्, ६।२५

—प्राणायामकाल में शरीर से घर्म (पसीना) निर्गत होने से वह अधम, कम्प होने से मध्यम एवं शून्य में उत्थित होने से उत्तम योग कहा जाता है।

प्रथमोद्यम में घर्म से अन्यान्य लक्षण प्रकट होते हैं। यथा—

स्वेदः सञ्जायते देहे योगिनः प्रथमोद्यमे।
यदा सञ्जायते स्वेदो मर्दनं कारयेत् सुधीः।
अन्यथा विग्रहे धातुर्नष्टो भवति योगिनः॥

—शिवसंहिता, ३।४९

—प्राणायामसाधना में पहले साधक को देह से घर्म का उद्भव होता है। घर्म होने से उसे सर्वशरीर में मर्दन करें, न करने से समस्त शरीर में धातु विनाश प्राप्त होती है।

द्वितीये हि भवेत् कम्पो दार्दूरी मध्यमे मतः।
ततोऽधिकतराभ्यासाद्गगनेचरः साधकः॥

—शिवसंहिता, ३।५०

—प्राणायाम के द्वितीय कल्प में शरीर में कम्पन होता है, तृतीय कल्प में दर्दूरगति अर्थात् भेक (मेंढक) के समान गति होती है। अर्थात् बद्धपद्मासनस्थित योगी की अवरुद्ध प्राणवायु प्लुतगति के समान सञ्चालित करती है। उसके बाद अधिक समय तक वायु रुद्धकर रख पाने से योगी भूमि परित्याग कर शून्य में विचरण कर सकता है।

अल्पनिद्रा पुरीषञ्च स्तोकं मूत्रञ्च जायते।
अरोगित्वमदीनत्वं योगिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
स्वेदो लाला कृमिश्चैव सर्वथैव न जायते।
तस्मिन् काले साधकस्य भोज्येष्वनियमग्रहः॥
अत्यल्पं बहुधा भुक्त्वा योगी न व्यथते हि सः।
अथाभ्यासवशाद् योगी भूचरीं सिद्धिमाप्नुयात्॥

—शिवसंहिता, ३।५२-५५

प्राणायामसिद्धि का लक्षण यह है कि योगी को अल्प निद्रा, अल्प मूत्र और अल्प पुरीष होता है। शारीरिक या मानसिक कोई रोग नहीं रहता, कोई दुःख नहीं रहता, सर्वदा चित्त सन्तुष्ट रहता है। योगियों के शरीर में घर्म, कृमि, कफ, लार आदि नहीं जन्मते। योगी को आहार के बिना या अल्पाहार से, या बहुविध आहार से क्लेश नहीं भोगना पड़ता है। इस योगबल से साधक को भूचरी सिद्धि लाभ होती है, अर्थात् गम्य या अगम्य सभी स्थानों में ही गमनागमन करने की क्षमता पैदा होती है।

योगशास्त्र में आठ प्रकार के प्राणायाम उल्लिखित हैं। यथा—

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा केवली चाष्टकुम्भिकाः॥

—गोरक्षसंहिता, १।१९५

—सहित, सूर्यभेद, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा और केवली ये आठ प्रकार के कुम्भक हैं।

घेरण्ड कहते हैं,—

सूर्यभेदनमुड्डाख्यं तथा शीत्कारः शीतली।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा प्लावनी चाष्टकुम्भिकाः॥*

—सूर्यभेदन, उड्डीयान, शीत्कार, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा और प्लावनी ये आठ प्रकार के कुम्भक हैं।

इनमें देखा जाता है कि, सहित स्थान पर उड्डाख्य, उज्जायी स्थान पर शीत्कार और केवली स्थान पर प्लावनी नामक कुम्भक उल्लिखित है। उनका पृथक्-पृथक् विवरण क्रम से वर्णन करूँगा।

---

* हठयोगप्रदीपिका (२।४५) में योगी स्वात्माराम ने भी यही मत उल्लेख किया है।—अनुवादक

पहले आसनसिद्धि और नाड़ीशोधन कर, तब प्राणायाम की साधना करनी होती है, ऐसा होने से अति सहज ही यह सम्पन्न हो जाता है।*

सहित प्राणायाम

रेच्य चापूर्य यः कुर्यात् स वै सहितकुम्भकः।

—योगियाज्ञवल्क्यम्, ६।३१

—श्वासत्याग और श्वासग्रहण कर जो प्राणायाम किया जाता है, उसका नाम सहित है।

मुखं संयम्य नासाभ्यां चाकृष्य पवनं शनैः।
यथा लगति कण्ठान्ते हृदयावधि सस्वनः।
पूर्ववत् कुम्भयेत् प्राणान् रेचयेदिड़या ततः॥†

—घेरण्डसंहिता

यही घेरण्डसंहिता का उड्डाख्य प्राणायाम है। उसका क्रम यथा—

इड़या वायुमारोप्य पूरयित्वोदरस्थितम्।
शनैः षोड़शभिर्मात्रैरकारं तत्र संस्मरेत्॥
धारयेत् पूरितं पश्चाच्चतुःषष्ट्या च मात्रया।
उकारमूर्तिमत्रापि संस्मरन् प्रणवं जपेत्॥
यावद्वा शक्यते तावत् धारणं जपसंयुतम्।
पूरितं रेचयेत् पश्चात् प्राणं बाह्यानिलान्वितम्॥

---

* तस्मिन् आसनसिद्धौ सति श्वासप्रश्वासयोर्बाह्यकोष्ठवाय्वोर्या अन्तर्बहिर्गतिः तस्य यो विच्छेदः स प्राणायामः। स च आसनजयात् सुखेन सेत्स्यतीति विभावनीयम्।

—राजमार्तण्ड

† योगी स्वात्माराम रचित "हठयोगप्रदीपिका, २।५२-५३" में भी इस प्रकार है।—अनुवादक

शनैः पिङ्गलया गार्गि द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः।
प्राणायामो भवदेवं पुनश्चैवं समभ्यसेत्॥

—योगियाज्ञवल्क्यम्, ६।४-७

इस सहित कुम्भक का विस्तृत विवरण यहाँ नहीं लिखा गया है। कारण योगी गुरु ग्रन्थ में वह वर्णित है। पाठक ! योगी गुरु ग्रन्थ में प्राणायाम देखकर अभ्यास करें।*

सहितो द्विविधः प्रोक्तः प्राणायामं समाचरेत्।
सगर्भो बीजमुच्चार्य निर्गर्भो बीजवर्जितः॥

—गोरक्षसंहिता, १।१९६

—सहित नामक प्राणायाम दो प्रकार के हैं—सगर्भ एवं निर्गर्भ। बीजमन्त्र उच्चारण कर जो कुम्भक किया जाता है, वह सगर्भ एवं बीजमन्त्र का परित्याग कर जो कुम्भक किया जाता है, उसका नाम निर्गर्भ प्राणायाम है।

श्लेष्मरोगहरञ्चैतदनलैर्दीप्तिवर्धनम्।
नाड़ीजलोदरीधातुगण्डदोषविनाशनम्।
गच्छता तिष्ठता कार्यमुड्डाख्यं कुम्भकन्त्विदम्॥†

—घेरण्डसंहिता

—यह सहित या उड्डाख्य प्राणायाम सिद्ध हो जाने से साधक के श्लेष्माजनित समस्त रोग और जलोदरी धातुगण्डादि दोष विनष्ट होते हैं एवं जठराग्नि की दीप्ति बढ़ती है।

---

* पूरयेत् षोडशैर्वायुं धारयेत्तच्चतुर्गुणैः। रेचयेत् कुम्भकार्धेन अशक्तस्तत्तुरीयतः। तदशक्तौ तच्चतुर्थ्या एवं प्राणस्य संयमः। प्राणायामं विना मन्त्री पूजनेनैति योग्यताम्॥ कनिष्ठानामिकाङ्गुष्ठैर्यन्नासापुटधारणम्। प्राणायामः स विज्ञेयस्तर्जनीमध्यमां विना॥

—राजमार्तण्ड

† योगी स्वात्माराम रचित "हठयोगप्रदीपिका, २।५३-५४" में भी इस प्रकार है।—अनुवादक

सूर्यभेद प्राणायाम

पूरयेत् सूर्यनाड्या च यथाशक्ति बहिर्मरुत्॥
धारयेद्बहुयत्नेन कुम्भकेन जालन्धरैः।

—गोरक्षसंहिता, १।२०७-२०८

—पहले सूर्यनाड़ी (पिङ्गलानाड़ी) द्वारा अर्थात् दक्षिण नासिकाद्वारा यथाशक्ति वायु आकर्षण करें, तत्पश्चात् उस आकृष्ट वायु को जालन्धर मुद्रा के द्वारा धारण कर कुम्भक करें।

जालन्धर मुद्रा यथा—

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये मारुतं धारयेद्दृढम्।
नाभिस्थाग्नौ कपालस्थसहस्रकमलच्युतम्॥
अमृतं सर्वदास्रावं बिन्दुत्वं याति देहिनाम्।
यथाग्निश्च तदमृतं न पिबेच्च पिबेत् स्वयम्॥

—दत्तात्रेयसंहिता

अर्थात् शिरःस्थित सहस्रदल-कमलच्युत अमृतधारा नाभिस्थित जठरानल में पतित न होने देकर स्वयं पान करने का नाम जालन्धरबन्ध है।

यावत् स्वेदं न केशाग्रात् तावत् कुर्वन्तु कुम्भकम्।

—गोरक्षसंहिता, १।२०८

—जबतक केश के अग्रभाग से घर्म (पसीना) निर्गत न हो, तबतक कुम्भक करते रहें।

सर्वे ते सूर्यसंभिन्ना नाभिमूलात् समुद्धरेत्।
इड़या रेचयेत् पश्चात् धैर्येणाखण्डवेगतः॥

—गोरक्षसंहिता, १।२०९

—इस कुम्भक को करते समय प्राण अपान प्रभृति समस्त वायु को सूर्यनाड़ी अर्थात् पिङ्गलानाड़ी द्वारा भेदन कर समानवायु को नाभिमूल से

उद्धृत करें। बाद में इड़ा अर्थात् वाम नासापथ से धैर्य के साथ क्रमशः सम्पूर्ण वेग के साथ रेचन करें।

पुनः सूर्येण चाकृष्य कुम्भयित्वा यथाविधि।
रेचयित्वा साधयेत्तु क्रमेण च पुनःपुनः॥

—गोरक्षसंहिता, १।२१०

फिर से दक्षिण नासा में पूरक, सुषुम्ना में कुम्भक और वाम नासापथ में रेचन करोगे। इस प्रकार पुनःपुनः करना होता है।

मतान्तर से—

आसने सुखदे योगी बद्ध्वा मुक्तासनं ततः।
दक्षनाड्या समाकृष्य बहिःस्थं पवनं शनैः॥
आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुम्भयेत्।
ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत् पवनं सुधीः॥*

—घेरण्डसंहिता

सूर्यभेद प्राणायाम की प्रक्रिया इस प्रकार है—साधक योगगृह में पद्मासन में उपविष्ट होकर जिह्वा उलटकर तालुकुहर में स्थापित करें। तत्पश्चात् वाम हस्त के वृद्धाङ्गुष्ठ से वाम नासापुट धारण करते हुए दक्षिण नासाद्वारा धीरे-धीरे यथाशक्ति वायु आकर्षण करें। बाद में अनामिका और कनिष्ठा अङ्गुलिद्वय द्वारा दक्षिण नासापुट बन्द कर, नाभिमूल से समानवायु को बलपूर्वक उत्तोलन कर प्रपूरित वायु के साथ कण्ठ में धारणपूर्वक कुम्भक करें। जबतक केश के अग्रभाग से घर्म निर्गत न हो, तबतक कुम्भक करना होगा। कुम्भक के अन्त में प्रपूरित वायु को धैर्य के साथ अविच्छिन्न तैलधारा के समान वाम नासापथ में रेचन करें। उसके बाद फिर दक्षिण नासापथ से पूरक, पूर्ववत्

---

* योगी स्वात्माराम रचित ''हठयोगप्रदीपिका, २।४९-५०'' में भी इस प्रकार है।—अनुवादक

कुम्भक एवं वाम नासापथ से रेचन करें। इस प्रकार यथाशक्ति पुनः पुनः करना होता है। ब्राह्ममुहूर्त में एकबार, मध्याह्नकाल में एकबार, सन्ध्याकाल में एकबार एवं निशीथकाल में एकबार, इन चारों समय चारबार करना होता है।

कुम्भकः सूर्यभेदस्तु जरामृत्युविनाशकः।
बोधयेत् कुण्डलीं शक्तिं देहानलं विवर्धयेत्॥

—गोरक्षसंहिता, १।२११

—इस सूर्यभेद नामक कुम्भकद्वारा जरा-मृत्यु विनष्ट, कुलकुण्डलिनीशक्ति उद्‌बोधित एवं दैहिक अग्नि वर्धित होती है।

उज्जायी प्राणायाम

नासाभ्यां वायुमाकृष्य वक्त्रेणैव च धारयेत्।
हृद्‌गलभ्यां समाकृष्य मुखमध्ये च धारयेत्॥
मुखं प्रक्षाल्य संबद्ध्य कुर्याज्जालन्धरं ततः।
आशक्ति कुम्भकं कृत्वा धारयेदविरोधतः॥

—गोरक्षसंहिता

—उभय नासिकापथद्वारा अन्तर्वायु आकर्षणपूर्वक मुख में कुम्भक कर धारण करें। बाद में मुख पक्षालनपूर्वक जालन्धरबन्ध मुद्रायोग से यथाशक्ति कुम्भक कर अविरोध वायुधारण करें। घेरण्डमत से यही शीत्कार-प्राणायाम नाम से उक्त हुआ है।

साधक उपयुक्त स्थान पर पद्मासन में उपविष्ट हो उभय नासिकाद्वारा समान वेग से यथाशक्ति वायु आकर्षण करें। वायु आकर्षणकाल में चिबुक को कण्ठ में स्थापित कर रखना पड़ता है। उसके बाद प्रपूरित वायु को मुख में धारण कर कुम्भक करें। कुम्भक के अन्त में परिष्कार जल के द्वारा मुख

प्रक्षालन कर यत्नपूर्वक रसना तालुमूल में स्थापित करें। उसके बाद पुनः पुनः यथाशक्ति कुम्भक कर अविरोध वायुधारण करना होता है। पूर्वोक्त प्रकार से यह भी चार समय करना होगा।

उज्जायीकुम्भकं कृत्वा सर्वकार्याणि साधयेत्।
न भवेत् कफरोगश्च क्रूरवायुरजीर्णकम्॥
आमवातः क्षयः कासः ज्वरप्लीहा न जायते।
जरामृत्युविनाशाय चोज्जायीं साधयेन्नरः॥

—गोरक्षसंहिता, १।२१२-२१३

—उज्जायी कुम्भक कर सकल प्रकार कार्यसाधन करें। इससे कफरोग, क्रूरवायु, अजीर्ण, आमवात, क्षयरोग, कास, ज्वर, प्लीहा प्रभृति नहीं होते एवं जरा-मृत्यु विनष्ट होती है।

शीतली प्राणायाम

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत् कुम्भकादितः।
शनैश्च घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेदनिलं प्रिये॥

—घेरण्डसंहिता

—जिह्वाद्वारा वायु आकर्षण कर पहले के समान कुम्भक करें। इसके बाद धीरे-धीरे उभय नासापथ से उस वायु को रेचन करें।

साधक सुखासन में स्थिरभाव से उपविष्ट होकर दोनों होंठों को सिकोड़ कर बाहर की हवा को धीर-धीरे आकर्षण करें। इस प्रकार यथाशक्ति वायु खींचकर मुख बन्द कर कौर निगलने के समान कर आकृष्ट वायु को उदर में सञ्चालित करें, बाद में क्षणमात्र उस वायु को कुम्भकद्वारा धारण कर उभय नासापथ में धीरे-धीरे रेचन करें। प्रत्येक दिवारात्रि में तीन-चारबार इस क्रिया का अभ्यास करना होता है।

सर्वदा साधयेद् योगी शीतलीकुम्भकं शुभम्।
अजीर्णं कफपित्तञ्च नैव तस्य प्रजायते॥

—गोरक्षसंहिता, १।२१५

—योगिगण सर्वदा इस शुभजनक शीतलीकुम्भक की साधना करें, ऐसा होने से कभी भी उन्हें अजीर्ण और कफपित्तादि रोग नहीं होंगे।

गुल्मप्लीहादिकान् दोषान् ज्वरं रेतःक्षयं क्षुधाम्।
तृष्णाञ्च शीतली नाम कुम्भकोऽयं निहन्ति वै॥

—घेरण्डसंहिता

—शीतलीकुम्भक की साधना करने से गुल्म, प्लीहा, ज्वर, रेतक्षय, क्षुधा, तृष्णा प्रभृति साधक के सकल दोष विनष्ट होते हैं।

शूलवेदनादि छाती या पेट की कोई आभ्यन्तरीण वेदना अगर हो, तो इस प्रक्रिया से अवश्य ही उसका आरोग्य होता है।*

भस्त्रिका प्राणायाम

भस्त्रेव लौहकाराणां यथाक्रमेण संभ्रमेत्।
ततो वायुञ्च नासाभ्यामुभाभ्यां चालयेच्छनैः॥
एवं विंशतिवारञ्च कृत्वा कुर्याच्च कुम्भकम्।
तदन्ते चालयेद्वायुं पूर्वोक्तञ्च यथाविधि॥

—गोरक्षसंहिता, १।२१६-२१७

—लुहार के भट्टीयन्त्र (धौंकनी) के उठा-पटक के द्वारा जिस प्रकार वायु आकर्षण की जाती है, उसी प्रकार उभय नासापुटद्वारा वायु आकर्षण कर क्रमशः उदर में सञ्चालित करें। इस प्रकार बीसबार वायु सञ्चालन कर

* शीतलीकुम्भक का विशद विवरण मेरे रचित "योगीगुरु" ग्रन्थ में स्वरकल्प में द्रष्टव्य।

कुम्भकद्वारा यथासाध्य वायु धारण करें। तत्पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार से अर्थात् भस्त्रिका (धौंकनी) द्वारा जिस प्रकार वायु निःसृत की जाती है, उसी प्रकार उभय नासापुट द्वारा वायु का रेचन करें। किन्तु सावधान ! रेचनान्त में हाँफना न पड़े, इस पर ध्यान दें।

त्रिवारं साधयेदेनं भस्त्रिकाकुम्भकं सुधीः।
न च रोगो न च क्लेश आरोग्यश्च दिने दिने।।

—गोरक्षसंहिता, १।२१८

—साधकव्यक्ति तीनबार इस प्रकार भस्त्रिकाकुम्भक की साधना करें। इस साधना के द्वारा रोग या क्लेश नहीं रहता, क्रमशः आरोग्य लाभ हुआ करता है।

भ्रामरी प्राणायाम

अर्धरात्रिगते योगी जन्तूनां शब्दवर्जिते।
कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां कुर्यात् पूरककुम्भकम्।।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं शुभम्।
प्रथमं झिल्लीनादश्च वंशीनादं ततः परम्।।

—गोरक्षसंहिता, १।२१९-२२०

—अर्धरात्रिकाल में योगी जन्तुओं के शब्दरहित और योगसाधनोपयोगी स्थान में गमनपूर्वक उभय कर्ण हस्तद्वारा बन्द कर पूरक और कुम्भक करें। अर्थात् कर्ण बन्द कर उभय नासिकापथ से धीरे-धीरे बाहर की वायु आकर्षण करें। उभय हाथों के अंगूठों के द्वारा दोनों कर्णरन्ध्र को बन्द करना पड़ता है ; इस प्रकार फुप्फुस (फेफड़ा) में वायु पूर्ण कर लेकर उसे धारण करें। यथाशक्ति कुम्भक कर थोड़ा-थोड़ा रेचन करें। प्रतिदिन आधी रात को बार-

बार ऐसा करने से दक्षिण कर्ण में शरीराभ्यन्तरस्थ नादशब्द श्रुत होता रहेगा। पहले झिंग-झिंग कीड़े के समान शब्द, फिर वंशीध्वनि सुनायी पड़ती है।

मेघ-झर्झर-भ्रमरी-घण्टा-कांस्यन्ततःपरम्।
तुरीभेरीमृदङ्गादिनिनादानकदुन्दुभिः।
एवं नानाविधो नादो जायते नित्यमभ्यासात्॥
—गोरक्षसंहिता, १।२२१

—बाद में मेघगर्जन, झर्झरीवाद्य की ध्वनि, भ्रमरगुञ्जन, घण्टा, कांस्य, तुरी, भेरी, मृदङ्ग, आनक, दुन्दुभि प्रभृति विविध वाद्यों के निनाद क्रमशः सुनाई पड़ते हैं। इस प्रकार भ्रामरी प्राणायाम नित्य अभ्यास करते-करते नाना प्रकार के शब्द सुनायी पड़ते रहते हैं।

अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः॥
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्।
एवं भ्रामरीसंसिद्धः समाधिसिद्धिमाप्नुयात्॥
—गोरक्षसंहिता, १।२२२-२२४

—हृदयस्थित अनाहतपद्म से जो शब्द उत्थित होता है, उस शब्द की ध्वनि अर्थात् प्रतिशब्द सुनायी पड़ेगा, फिर योगिव्यक्ति नयन निमीलित कर अन्तर में उस अनाहतपद्मस्थ प्रतिध्वनि के अन्तर्गत ज्योति का दर्शन करें। उस दीपकलिकाकार ज्योतिर्मय ब्रह्म में योगियों का मन संयुक्त होकर ब्रह्मरूपी विष्णु के परमपद में लीन हो जायेगा। इस प्रकार भ्रामरीप्राणायाम सिद्ध होने से, समाधिसिद्धि लाभ होती है।*

* भ्रामरीकुम्भक योग से किस प्रकार लययोग साधना करनी होती है, वह मेरे रचित ''योगी गुरु'' ग्रन्थ के साधनाकल्प में ''नादसाधना'' शीर्षक लेख में देखो।

मूर्छा प्राणायाम

पूरकान्ते गाढ़तरं बद्ध्वा जालन्धरं शनैः।
रेचयेन्मूर्छनाख्योऽयं मनोमूर्छा सुखप्रदा॥†

—घेरण्डसंहिता

—साधक योगासन में उपविष्ट होकर उभय नासिकापथ से धीरे-धीरे वायु आकर्षण करें। इस प्रकार आपादमस्तक वायु से पूर्ण कर जालन्धरबन्ध मुद्रायोग से अर्थात् रसना तालुकुहर में प्रविष्ट कराकर कण्ठ में वायु धारण कर कुम्भक करें। फिर उस प्रपूरित वायु को उभय नासापथ में धैर्य के साथ रेचन करें। इस क्रिया को दिवारात्रि में तीन-चारबार करना होता है।

सुखेन कुम्भकं कृत्वा मनश्च भ्रूवोरन्तरम्।
सन्त्यज्य विषयान् सर्वान् मनोमूर्छा सुखप्रदा॥
आत्मनि मनसो योगादानन्दो जायते ध्रुवम्।
उत्पद्यते यत्नतो हि शिक्षेत कुम्भकं सुधीः॥

—गोरक्षसंहिता, १।२२५-२२६

—पहले पूर्वोक्त प्रकार से स्वच्छन्द रूप से कूम्भक कर मन को समस्त वैषयिक कार्यों से निवृत्त कर दोनों भौंहों के बीच आज्ञाचक्र में संयुक्त कर परमात्मा में लीन करें। इस प्रकार आत्मा के साथ मन का संयोगवशतः परमानन्द समुद्भूत होता है; इसलिए पण्डितगण यत्नपूर्वक मूर्छा नामक कुम्भक का अभ्यास करें।

वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम्।
कुण्डलीबोधनं चक्रे क्रोधघ्नं शुभदं शुचि॥

—घेरण्डसंहिता

† योगी स्वात्माराम रचित "हठयोगप्रदीपिका, २।७०" में भी इस प्रकार है।—अनुवादक

—मूर्छानामक प्राणायाम के अभ्यास करने से वात, पित्त, श्लेष्मादोष विनष्ट और शरीर की अग्नि वर्धित होती है, चक्र में कुण्डलिनी उद्बोधिता एवं साधक के क्रोधादि विनाश से शुचि और शुभ होता है।

केवली प्राणायाम

रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम्।
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकम्॥

—योगियाज्ञवल्क्यम्, ६।३०

—रेचक या पूरक का परित्याग कर वायुधारणपूर्वक प्राणायाम करने को केवली कुम्भक कहते हैं।

नासाभ्यां वायुमाकृष्य केवलं कुम्भकञ्चरेत्।
एकादिकचतुःषष्टिं धारयेत् प्रथमे दिने॥
केवलीमष्टधा कुर्याद् यामे यामे दिने दिने।
अथवा पञ्चधा कुर्याद् यथा तत् कथयामि ते॥

—गोरक्षसंहिता, १।२२७-२२८

—उभय नासापुटद्वारा वायु आकर्षण कर केवल-कुम्भक करें। पहले दिन इस कुम्भक साधना में एक अवधि चौंसठबार तक "हंसः" या "सोऽहं" इस मन्त्रद्वारा जपसंख्या रख श्वासवायु धारण करें। प्रतिदिन इस केवली प्राणायाम को आठों प्रहर आठबार करें। असमर्थ होने पर पाँचबार करें। किस प्रकार इसे करना होगा, कह रहा हूँ, सुनो।

प्रातर्मध्याह्ने सायाह्ने मध्यरात्रिचतुर्थके।
त्रिसन्ध्यमथवा कुर्यात् सममाने दिने दिने॥
पञ्चबारं दिने वृद्धिर्वारैकञ्च दिने तथा।
अजपापरिमाणञ्च यावत् सिद्धिः प्रजायते॥

—गोरक्षसंहिता, १।२२९-२३०

—साधक प्रतिदिन प्रातःकाल, मध्याह्न, सायाह्न, मध्यरात्रि एवं शेष रजनी में ये पाँचों समय पाँचबार कुम्भक करें। उसमें असमर्थ होने पर केवल तीनबार मात्र करें अर्थात् प्रभात, मध्याह्न और सायाह्न इस त्रिसन्ध्याकाल में तीनबार करें। जबतक अजपा परिमाण में अर्थात् इक्कीस हजार छः सौ बार (२१६००) कुम्भक करने में समर्थ न हुआ जाय, तबतक प्रतिदिन पाँचबार कर कुम्भक वृद्धि करें। यदि पाँचबार वृद्धि करने में अक्षम होते हों, तो प्रतिदिन एकबार करके भी वृद्धि करें।

घेरण्डमत से—

अन्तःप्रवर्तितोदारमारुता पूरितोदरः।
सुखात्पयस्यगाधेऽपि प्लवते पद्मपत्रवत्॥*

—घेरण्डसंहिता

यह प्लावनी प्राणायाम केवली प्राणायाम का नामान्तर मात्र है।

प्राणायामं केवलींश्च तदा वदति योगवित्।
कुम्भके केवलीसिद्धौ किं न सिध्यति भूतले॥

—गोरक्षसंहिता, १।२३१

—इस प्रकार प्राणायाम को योगिगण केवली प्राणायाम कहते हैं। केवली कुम्भक के सिद्ध होने से भूतल पर क्या नहीं सिद्ध हो सकता ? अर्थात् सर्वसिद्धि हुआ करती है।

इस प्रकार से जिस किसी प्राणायाम का अभ्यास करने से फलस्वरूप साधक पहले ही अत्यन्त शान्ति बोध करेंगे। वास्तविक विश्राम किसे कहते हैं यह समझ सकेंगे। सारा दिन मेहनत कर एकबार प्राणायाम करने से ऐसा विश्रामसुख अनुभूत होगा कि जिसका जीवन में कभी भी अनुभव नहीं किया गया है। क्रमशः और भी अभ्यास से मुख की ज्योति बढ़ेगी। साधक के

* योगी स्वात्माराम रचित "हठयोगप्रदीपिका, २।७१" में भी इस प्रकार है।—अनुवादक

मुखमण्डल से शुष्क चिन्ता की रेखा दुरीभूत होगी। गले का स्वर मीठा होगा। यौवन की नवीन किरण दिखाई पड़ेगी। सुख का चिर-वसन्त आ हृदय अधिकार करेगा।

समाधि साधना

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

—पातञ्जलयोगदर्शन, ३।३

—केवल वही पदार्थ [स्वरूप आत्मा] है, ऐसा अभ्यासज्ञान मात्र रहेगा, और कोई ज्ञान नहीं रहेगा, इस प्रकार ध्येय वस्तु में चित्त की जो तन्मयता अर्थात् ध्येय वस्तु में चित्त का लय हो जाना ही समाधि है।

समाधिर्ब्रह्मणि स्थितिः।*

—गरुड़पुराण, पूर्वखण्ड, ४९।३८

—परब्रह्म में चित्त स्थिर रखने का नाम समाधि है।

ध्यानद्वादशकैरेकः समाधिः प्रतिपद्यते।
आत्मसंयमयोः सम्यगैक्यं भवति गोचरः॥

—गोरक्षसंहिता, ३।३०

—बारह बार ध्यान करने से एकबार समाधि सिद्धि होती है। इस समाधिद्वारा आत्मा और जीव की एकता उपलब्धि हो सकती है।†

---

* अहं ब्रह्मेत्यवस्थानं समाधिर्ब्रह्मणि स्थितिः। (गरुड़पुराण, पू०ख०, ४९।३८)—अनुवादक

† प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहार उदाहृतः।
प्रत्याहारैर्द्वादशभिर्धारणा परिकीर्तिता॥
भवेदीश्वरसङ्गत्यै ध्यानं द्वादशधारणम्।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते॥

उभयोरात्मनोरैक्यं समाधिश्च विधीयते।
यथा संक्षीयते प्राणो मनश्चैव विलीयते।।

—गोरक्षसंहिता, ३।३१

—जीवात्मा और परमात्मा इन दोनों का ऐक्य ही समाधि है। इस समाधि की अवस्था में मन, प्राण सभी लयप्राप्त होते हैं। अपि च—

निर्गुणध्यानसम्पन्नः समाधिञ्च समभ्यसेत्।
वायुं निरुध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवेद् ध्रुवम्।।
समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः।

—दत्तात्रेयसंहिता

—निर्गुण ध्यानसम्पन्न व्यक्ति समाधियोग का अभ्यास करें। कुम्भकद्वारा वायुरोध कर साधक जीवन्मुक्त होता है। जीवात्मा और परमात्मा की समतावस्था को समाधि कहते हैं। अन्यथा केवल एकाग्रचित्त होने को ही समाधि नहीं कहते हैं। यथा—

तत्त्वावबोधो भगवन् सर्वाशातृणपावकः।
प्रोक्तः समाधिशब्देन न तु तूष्णीमवस्थितिः।।

—योगवाशिष्ठ, उपशम प्र०, ६२।८

समाधेः परतो ज्योतिरनन्तं सप्रकाशकम्।
तस्मिन् दृष्टे क्रियाकाण्डं यातायातं निवर्तते।।

—स्कन्दपुराण, काशीखण्ड (पूर्वार्ध), ४१।९४-९६

—द्वादश प्राणायामों में एक प्रत्याहार हुआ करता है। इस प्रकार द्वादश प्रत्याहार में एक धारणा होती है, द्वादश धारणाओं में एक ध्यान होता है। इस ध्यानकाल में ईश्वरसन्दर्शन हुआ करता है। इस प्रकार द्वादश ध्यान में समाधिलाभ हुआ करता है। समाधिकाल में स्वप्रकाश अनन्तज्योतिः परिदर्शन होती है ; यह ज्योति के दर्शन करने से फिर इहलोक में नहीं आना पड़ता है, समस्त कर्मभोग निवृत्त होकर निर्वाण मुक्तिलाभ होता है।

—हे भगवन्! ब्रह्मज्ञान सभी आशातृणों के लिए पावकस्वरूप है। उसी ब्रह्मज्ञान का नाम समाधि है, केवल मौनी होने की स्थिति का नाम समाधि नहीं है।

यहाँ तक ज्ञान और योग के विषय में जो कहा गया है, उसमें प्रकृत योग ही जो ब्रह्मज्ञान है एवं प्रकृत ब्रह्मज्ञान ही जो योग है, यह स्पष्ट हो गया। ब्रह्म में चित्त स्थिर रखने के लिए जो सारे विघ्न अतिक्रमण किये जाते हैं, ज्ञान साधना द्वारा जो लोग उसमें असमर्थ होते हैं, वे प्राणरोधरूप अष्टाङ्ग योग की साधना द्वारा उस विषय में कृतकार्यता लाभ के लिए प्रयास करते हैं। तभी शास्त्र में उक्त हुआ है—

नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम्।
अत्र वः संशयो मा भुज्ज्ञानं सांख्यं परं मतम्॥†

—सांख्यज्ञान के तुल्य ज्ञान नहीं है एवं योगबल के समान बल नहीं है। इस विषय में किञ्चिन्मात्र भी संशय न करो, सांख्यज्ञान ही प्रधान ज्ञान है।

योगशब्द से आत्मज्ञान और प्राणसंरोध दोनों ही समझे जाते हैं, किन्तु प्राणरोध को ही योगशब्द में रूढ़िता प्राप्त हुई है। यह संसारसमुद्र उत्तीर्ण होने के लिए योग और ज्ञान ये दोनों ही उपाय समान एवं सफलप्रद हैं। क्लेशासहिष्णु सुकोमलचित्त व्यक्ति के सम्बन्ध में हठात् प्राणसंरोध-योग असाध्य है, और विचारानभिज्ञ कठोरचित्त व्यक्ति के लिए निश्चय-ज्ञान असाध्य है। समाधियोग से ही ज्ञान उत्पन्न हुआ करता है। ध्यान गाढ़ होने से, ध्येयवस्तु और मैं ऐसा ज्ञान नहीं रहता ; चित्त तब ध्येयवस्तु में ही

---

† यह श्लोक महाभारत, शान्तिपर्व में निम्न प्रकार है।—अनुवादक

नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम्।
तावुभावेकचर्यौ तावुभावनिधनौ स्मृतौ॥ ३१६।२

विनिवेशित रहता है, कह सकते हैं कि उसी में लीन हो जाता है ; उस लयावस्था को ही समाधि कहते हैं।

योगाचार्य महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि समाधि दो प्रकार की है, यथा—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। सम्प्रज्ञात समाधि में ध्येय पदार्थ का ज्ञान रहता है एवं असम्प्रज्ञात समाधि में ऐसा कुछ भी नहीं रहता।

सम्प्रज्ञात समाधि—सम्प्रज्ञात समाधि में ध्येयवस्तु दो प्रकार की है—स्थूल और सूक्ष्म। यह स्थूल और सूक्ष्म फिर दो प्रकार के हैं—बाह्य और आध्यात्मिक। पञ्चमहाभूत से उत्पन्न पदार्थों का नाम बाह्य-स्थूल एवं पञ्चतन्मात्रतत्त्व का नाम बाह्य-सूक्ष्म है। समस्त इन्द्रियों को आध्यात्मिक-स्थूल एवं अहंतत्त्व, महत्तत्त्व, प्रकृति और आत्मा को आध्यात्मिक-सूक्ष्म कहते हैं। स्थूल और सूक्ष्म एवं बाह्य और आध्यात्मिक भेदानुसार जिन चार प्रकार के पदार्थों का उल्लेख किया गया है, वे समस्त ही ध्येयवस्तु कहलाते हैं। इन चार प्रकार की ध्येय वस्तुओं के अन्तर्गत किसी पदार्थ में ध्यानसंयोग में गाढ़ चित्तनिवेश कर सकने का नाम सम्प्रज्ञात समाधि है।

समस्त पदार्थों के चार प्रकार के विभागों के कारण सम्प्रज्ञात समाधि की चार प्रकार अवस्थाएँ हैं। यथा—

वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः।

—पातञ्जलयोगदर्शन, १।१७

—वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता। इन चार प्रकार की अवस्थायुक्त समाधियों का नाम सम्प्रज्ञात समाधि है।

वितर्कावस्था—बाह्य स्थूलपदार्थों का साक्षात्कारस्वरूप ज्ञानलाभ होना।

विचारावस्था—बाह्य सूक्ष्मपदार्थों का साक्षात्कारस्वरूप ज्ञानलाभ होना।

आनन्दावस्था—आध्यात्मिक स्थूलपदार्थों का साक्षात्कारस्वरूप ज्ञानलाभ होना।

अस्मितावस्था—आध्यात्मिक सूक्ष्मपदार्थों का साक्षात्कारस्वरूप ज्ञानलाभ होना।

इन चार प्रकार की समाधि अवस्थाओं में यथाक्रम से बाह्य, आन्तर, बौद्ध और अध्यात्म इन चार जगतों का ज्ञान लाभ होता है। इन चार प्रकार की अवस्थाओं में से जिस किसी प्रकार की अवस्था की समाधि क्यों न हो, उसे ही सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

सम्प्रज्ञात समाधि के दो प्रकार के भाव हैं। यथा—भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय। भवप्रत्यय समाधि का भाव अविद्यामूलक एवं उपायप्रत्यय समाधि का भाव विद्यामूलक है। भवप्रत्यय समाधि में संसारासक्ति रहती है एवं उपायप्रत्यय समाधि में संसारासक्ति नहीं रहती, यही प्रभेद है। यथा—

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्।

—पातञ्जलयोगदर्शन, १।१९

विदेह-लय और प्रकृति-लय इन दो प्रकार के योगियों का जो सम्प्रज्ञात योग है, वह भवप्रत्यय अर्थात् अज्ञानमूलक है, क्योंकि वे संसारागमन के कारण हैं, मुक्ति के कारण नहीं।

योगी देहपात के बाद यदि पञ्चमहाभूत में अथवा सूक्ष्मतम इन्द्रिय में लय पाते हैं, तब उसे विदेह-लय कहते हैं, और जो तन्मात्र-तत्त्व में या अहंतत्त्व में अथवा महत्तत्त्व में किंवा अव्यक्त प्रकृति में चित्त का लय करते हैं, उनके उस लय को प्रकृति-लय कहते हैं। इन उभय प्रकार के लय होने को ही भवप्रत्यय अर्थात् अविद्यामूलक भाव कहते हैं, कारण उनका चित्त फिर सुषुप्तिभङ्ग के बाद जाग्रदवस्थाप्राप्ति के समान यथाकाल में सांसारिक अवस्था को प्राप्त होता है ; अर्थात् समाधि होने पर भी सांसारिक बीज नष्ट नहीं होता है, यथाकाल में अङ्कुरित होकर जीव को पुनः संसारी कर डालता है। इसलिए इस सम्प्रज्ञात समाधि का और एक नाम सबीज समाधि है। यथा—

ता एव सबीजः समाधिः।

—पातञ्जलयोगदर्शन, १।४६

उक्त चतुर्विध समाधियों को सबीजसमाधि कहते हैं, कारण वे बीज के समान अङ्कुरजनक हैं। समाधिभङ्ग के बाद फिर उससे संसाराङ्कुर उत्पन्न होता है ; इस प्रकार की समाधि का नाम सम्प्रज्ञात समाधि है। वेदान्तशास्त्र में यही सविकल्प समाधि के नाम से उक्त हुआ है। इस प्रकार के समाधिकाल में, जिस प्रकार मृण्मय हस्ती में हस्ति-ज्ञान के बावजूद मृत्तिका-ज्ञान रहता है, उसी प्रकार द्वैतज्ञान के बावजूद अद्वैतज्ञान रहता है।

असम्प्रज्ञात समाधि—सम्प्रज्ञातसमाधि जिसप्रकार संसारागमन के बीज से संश्लिष्ट है, असम्प्रज्ञात समाधि वैसी नहीं है। वह निर्बीज, निरवलम्ब एवं कैवल्य या निर्वाणमुक्ति की हेतु है। यथा—

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः

—पातञ्जलयोगदर्शन, १।१८

—मनोवृत्ति के विराम या निवृत्ति से चित्त में जो एक प्रकार का शून्यभाव उपस्थित होता है, अर्थात् चित्त का जब किसी प्रकार का अवलम्बन नहीं रहता, तब उसे असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

असम्प्रज्ञात समाधि के अभ्यास से ही असम्प्रज्ञात समाधि उपस्थित होती है। असम्प्रज्ञात समाधि का कठोरतर दाढर्य जन्मने से चित्त जब और बाह्य जगत् के साथ संस्पर्श नहीं करना चाहेगा, कोई अवलम्बन नहीं चाहेगा, मनोवृत्तिसमुदाय लयप्राप्त होंगी, तभी असम्प्रज्ञात समाधि होगी। असम्प्रज्ञात समाधि को शब्दान्तर से निर्बीज समाधि कहते हैं।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

—पातञ्जलयोगदर्शन, १।२०

अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि के समान कोई इन्द्रिय, महाभूत, तन्मात्र या प्रकृति में चित्तार्पण न कर, पहले से ही अपनी आत्मा में, इष्टदेवता में या

परब्रह्म में यदि चित्त लय किया जाय, तो क्रमशः श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा स्वयं ही उपस्थित होकर आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्मसाक्षात्कार लाभ होता है।

यहाँ प्रथमतः योग के प्रति चित्त प्रसन्न होने का नाम श्रद्धा है। श्रद्धा से उत्साह के जन्मने से उसे वीर्य कहा जाता है ; वीर्य से अनुभूत विषय का अविस्मरण होने का नाम स्मृति है ; भाव्य विषय में ध्यान तत्पर होने का नाम स्मृति है। स्मृति या ध्यान प्रगाढ़ हो आने से एकाग्रता या समाधि उत्पन्न होती है। समाधि से प्रज्ञा अर्थात् ज्ञातव्य विषय का साक्षात्कार लाभ अर्थात् आत्मसाक्षात्कार, इष्टदेवता-साक्षात्कार या परब्रह्म-साक्षात्कार लाभ होता है। ऐसा होने से ही कृतकृतार्थ हुआ जाता है।

असम्प्रज्ञात-समाधि ही वेदान्तमत से निर्विकल्प-समाधि के रूप में उक्त होती है। निर्विकल्प-समाधि काल में, जिस प्रकार जलमिश्रित जलाकाराकारित लवण के लवणत्वज्ञान के अभाव में केवल जलमात्र ही बोध होता है, उसी प्रकार अद्वितीय ब्रह्मकाराकारित चित्तवृत्ति के ज्ञान के रहने से अद्वितीय ब्रह्मवस्तुमात्र ही ज्ञात होता है।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।

—पातञ्जलयोगदर्शन, २।४५

ईश्वर में चित्तार्पण कर पाने से अन्य किसी प्रकार की साधना नहीं करने से भी केवल भक्तिबल से ही सिद्धिलाभ होता है अर्थात् असम्प्रज्ञात-समाधिलाभ होता है एवं अन्त में निर्वाणमुक्ति की प्राप्ति होती है।

निरन्तरकृताभ्यासात् षण्मासात् सिद्धिमाप्नुयात्।

—शिवसंहिता, ५।९६

"अधिमात्रतम" नामक योग के श्रेष्ठाधिकारी साधक विशेषरूप से चेष्टा करने से छः महीने में ही सिद्ध हो सकते हैं।

अस्तु, सिद्धगुरु के नहीं पाने से कोई कभी भी प्राणसंरोधरूप योग अभ्यास में प्रवृत्त न हों। कारण, प्राणरोधरूप योग के अभ्यास के समय

नियमों के किसी प्रकार अन्यथाचरण होने से, नानाप्रकार की उत्कट पीड़ाएँ जन्मने की सम्भावना रहती है। योगेश्वर सदाशिव ने कहा है—

योगोपदेशं संप्राप्य लब्ध्वा योगविदं गुरुम्।
गुरूपदिष्टविधिना धिया निश्चित्य साधयेत्॥ २१
भवेद्वीर्यवती विद्या गुरुवक्त्रसमुद्भवा।
अन्यथा फलहीना स्यान्निर्वीर्याप्यतिदुःखदा॥ ११

—शिवसंहिता, ३।२१,११

—योगविद्गुरु लाभकर उनसे योगोपदेश प्राप्त होकर, उन्हीं के उपदेशानुसार निश्चयबुद्धि के साथ साधना करें। कारण, गुरु के उपदेशानुसार कार्य करने से योगविद्या वीर्यवती होने से सत्वर ही सिद्धिलाभ किया जा सकता है। तद्भिन्न सिद्धिलाभ नहीं होता ; बल्कि साधक को नाना प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं।

साधनाभिलाषी व्यक्ति पहले आसन अभ्यास और ठीक-ठीक नाड़ीशोधन कर पूर्वोक्त अष्टविध प्राणायामों में जिनकी जो इच्छा हो वे उसी प्राणायाम का अभ्यास करें। सुन्दररूप में प्राणायाम के अभ्यास हो जाने से, बाद में कही गई जिस किसी प्रक्रिया का अवलम्बन कर समाधि का अभ्यास करेंगे। जो लोग प्राणायाम आदि क्रियाओं को कठिन समझा करते हैं, उन्हें प्राणायाम के बदले मेरे रचित "योगी गुरु" पुस्तक के "कुण्डलिनी चैतन्य का कौशल" शीर्षक विषय की कोई प्रक्रिया अवलम्बन कर कुण्डलिनी चैतन्य होने से, बाद में कही गई जिस किसी क्रिया का अभ्यास करना होगा।

प्रकृति-पुरुष योग या कुण्डलिनी-उत्थापन

जितने प्रकार की योग की प्रणालियाँ हैं, उनमें कुण्डलिनी उत्थापन या प्रकृति-पुरुष का योग श्रेष्ठ है। कुण्डलिनी को जागरित कर जोंक के समान अर्थात् जोंक जिस प्रकार एक तृण से और एक तृण का अवलम्बन करती

है, उसी प्रकार मूलाधार से क्रम से समस्त चक्रों में उठाकर अन्त में शिरसि सहस्रार में लेकर परमपुरुष के साथ युक्त करना ही प्रधान योग है। जो व्यक्ति बहु पुण्यफलों से कुलकुण्डलिनीशक्ति को भजते हैं, वे धन्य और कृतार्थ होते हैं। यथा—

महाकुण्डलिनीशक्तिं यो भजेत्तु भुजङ्गिनीम्।
स कृतार्थः स धन्यश्च स दिव्यो वीरसत्तमः॥

—भुजङ्गिनीरूपिणी महाकुण्डलिनी-शक्ति को जो व्यक्ति भजते हैं, वे कृतार्थ और धन्य एवं यथार्थ वीरश्रेष्ठ हैं।

कुण्डलिनी उत्थापन की मानस-क्रिया की प्रणाली ऐसी है।—साधक योगसाधनोपयोगी स्थान पर कम्बल, मृगचर्म आदि जिस किसी आसन पर पूर्व किंवा उत्तर की ओर मुख कर उपविष्ट होकर धूपादि की गन्ध से गृह पूर्ण करें और स्वयं आनन्दयुक्त हों। तत्पश्चात् अपनी-अपनी सुविधा के अनुरूप अभ्यस्त जिस किसी योगासन में स्थिरभाव से सीधा होकर उपवेशन करें। प्रथमतः पञ्चप्राण, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि—इन सप्तदश के आधारस्वरूप जीवात्मा को मूलाधारचक्रस्थित कुलकुण्डलिनी के साथ एकीभूत कर चिन्तन करें। मूलाधारपद्म और कुण्डलिनीशक्ति का मानसनेत्र से दर्शन कर "हुँ" इस कुर्चबीज उच्चारणपूर्वक उभय नासिकापथ से वायु आकर्षण कर मूलाधार में सञ्चालित करते-करते चिन्तन करें, मूलाधारस्थित शक्तिमण्डलान्तर्गत कुण्डलिनी के चतुर्दिकस्थित कामाग्नि प्रज्वलित हो रही है। वह अग्नि समुद्दीपित होने पर कुण्डलिनी जागरित हो उठेंगी। तब "हंस" मन्त्र उच्चारणपूर्वक अश्विनीमुद्रायोग से गुह्यदेश सङ्कुचित कर कुम्भकद्वारा वायुरोध करने से कुण्डलिनी ऊर्ध्वगमनोन्मुखी होंगी। उस समय साधक कुण्डलिनीशक्ति को महातेजोमयी रूप में चिन्तन करें। उस समय कुण्डलिनी एक मुख स्वाधिष्ठान में रख अन्य मुख के द्वारा मूलाधारस्थित ब्रह्मा और डाकिनीशक्ति एवं उस पद्म के चतुष्पत्रस्थित वं, शं, षं, सं इन मातृकावर्णों,

समस्त देवताओं और चार वृत्तियों का ग्रास करेंगी अर्थात् वे सब के सब उनके (कुण्डलिनी के) शरीर में लयप्राप्त होंगे ; यह पृथ्वीमण्डल भी लयप्राप्त होकर उनके मुख में लं यह बीज अवस्थान करेगा। तब वे उस मुख को भी स्वाधिष्ठान में उठायेंगी। यूँ ही मूलाधारपद्म अधोमुख और मुद्रित होगा एवं म्लान हो जायेगा।*

मूलाधारपद्म परित्याग कर कुण्डलिनी स्वाधिष्ठानपद्म में आकर ही पूर्व के मुख मणिपुर में उत्तोलन करेंगी एवं अपर मुख द्वारा स्वाधिष्ठानपद्मस्थित विष्णु और राकिनीशक्ति, पद्मपत्रस्थित देवतागण वं, भं, मं, यं, रं, लं इन छः मातृकावर्णों एवं प्रश्रय, अविश्वास, अवज्ञा, मूर्छा, सर्वनाश और क्रूरता इन छः वृत्तियों का ग्रास करेंगी। पूर्वोक्त पृथ्वीबीज लं जल में लयप्राप्त होगा एवं जल भी वं-बीज में परिणत होकर कुण्डलिनी के मुख में अवस्थान करेगा। तब वे उस मुख को क्रम से मणिपुरपद्म में उठाएँगी। ये समस्त प्रणालियाँ भावनाद्वारा अभ्यस्त होने पर, जब कुण्डलिनी उठती रहेंगी, तब साधक स्पष्टरूप से अनुभव और प्रत्यक्ष कर सकेंगे। कारण वे जितनी दूर उठेंगी, वहाँ तक मेरुदण्ड के भीतर सिड़ सिड़ करेगा, रोमाञ्च होगा एवं साधक मन ही मन अपार आनन्द का अनुभव करेंगे।

तत्पश्चात् कुण्डलिनी मणिपुर आकर पूर्वमुख अनाहतपद्म में उत्तोलन करेंगी एवं अपर मुखद्वारा मणिपुरपद्मस्थित रुद्र और लाकिनीशक्ति, पद्मपत्रस्थित देवतागण, डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं, पं, फं ये दस मातृकावर्ण एवं लज्जा, पिशुनता, ईर्ष्या, सुषुप्ति, विषाद, कषाय, तृष्णा, मोह, घृणा और भय ये दस वृत्तियाँ ग्रास करेंगी। पूर्वोक्त वं-बीज अग्निमण्डल में लीन हो जायेगा

* साधक को यहाँ एक बात का स्मरण रखना आवश्यक है कि समुदाय पद्म ही भावना के समय वह ऊर्ध्वमुख और विकसित होता है। कुण्डलिनी चैतन्यलाभ कर जब जिस पद्म में जायेंगी तब वही पद्म विकसित होगा। किन्तु जब जो पद्म त्याग करेंगी, तब वह पद्म मूलाधार के समान अधोमुख, मुद्रित और म्लान हो जायेगा।

एवं अग्नि भी रं-बीज में परिणत होकर कुण्डलिनी के मुख में अवस्थान करेगा। तब वे इस मुख को भी क्रमशः अनाहतचक्र पर उठायेंगी। मणिपुरचक्र को ब्रह्मग्रन्थि कहते हैं। इस ब्रह्मग्रन्थि को भेद करने के समय साधक के मेरुदण्ड के भीतर चिन् चिन् करता है, वेदना का अनुभव होता है। इस समय साधक में उदरामय रोग प्रकट होता है एवं शरीर अत्यन्त कृश और दुर्बल हो जाता है।

अनन्तर कुण्डलिनी अनाहतपद्म में आकर पूर्वमुख विशुद्धपद्म में उत्तोलन कर अपर मुखद्वारा अनाहतपद्मस्थित देव-देवी, कं, खं, गं, घं, ङं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं, ठं ये द्वादश मातृकावर्ण एवं आशा, चिन्ता, चेष्टा, ममता, दम्भ, विकलता, विवेक, अहङ्कार, लोलता, कपटता, वितर्क और अनुताप ये द्वादश वृत्तियाँ ग्रास करेंगी। पूर्वोक्त रं-बीज वायुमण्डल में लीन हो जायेगा एवं वायु भी यं-बीज में परिणत होकर कुण्डलिनी के मुख में अवस्थान करेगा। तब वे क्रमशः इस मुख को विशुद्ध चक्र में उठाएँगी। अनाहतपद्म को विष्णुग्रन्थि कहते हैं।

अनन्तर कुण्डलिनी विशुद्धपद्म में आकर पूर्वमुख ललनापद्म नामक गुप्त चक्र में उत्तोलन कर अपर मुखद्वारा विशुद्धपद्मस्थित अर्धनारीश्वर, शिव, शाकिनीशक्ति, पद्मपत्रस्थित समुदाय देव-देवी, अं, आं, इं, ईं, उं, ऊं, ऋं, ॠ, लृं, ॡ, एं, ऐं, ओं, औं, अं, अः ये सोलह मातृकावर्ण एवं निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड़ज, मध्यम, धैवत, पञ्चम ये सप्तस्वर और हुँ, फट्, वौषट्, वषट्, स्वधा, स्वाहा, नमः, विष, अमृत आदि ग्रास करेंगी। पूर्वोक्त वायुबीज यं आकाशमण्डल में लीन हो जायेगा एवं आकाश भी हं-बीज में परिणत होकर कुण्डलिनी के मुख में अवस्थान करेगा। तब वे क्रमशः यह मुख ललनाचक्र में उठायेंगी।

कुलकुण्डलिनी ललनाचक्र में आकर एक मुख आज्ञाचक्र में उत्तोलन कर अपर मुख द्वारा ललनाचक्रस्थित श्रद्धा, सन्तोष, स्नेह, दम, मान, अपराध,

शोक, खेद, अरति, सम्भ्रम, ऊर्मि और शुद्धता ये द्वादश वृत्तियाँ ग्रास करेंगी। तब वे क्रमशः यह मुख आज्ञापद्म में उठायेंगी।

अनन्तर कुण्डलिनी आज्ञापद्म में आकर आज्ञापद्मस्थ शिव, शक्ति और हं, लं, क्षं, ये तीन मातृकावर्ण, सत्त्व, रजः, तमः ये तीन गुण एवं ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि पद्मस्थित अन्याय समुदाय ग्रास करेंगी। पूर्वोक्त आकाशबीज हं मनश्चक्र में लीन हो जायेगा। मन और मनश्चक्रमध्यस्थ शिव भी कुण्डलिनी के शरीर में लीन होगा। इस पद्म का नाम रुद्रग्रन्थि है। इस ग्रन्थि के भेदन करने से साधक हृष्ट-पुष्ट-बलिष्ठ और तेजोयुक्त होंगे, शरीर नीरोग होगा।

अनन्तर कुण्डलिनी सोमचक्र के अन्दर से होकर जायेंगी एवं सुषुम्ना-मुख के नीचे कपाटस्वरूप अर्धचन्द्राकार मण्डल भेदन कर जितना ही उत्थित होती रहेंगी, उतना ही क्रमशः नाद, बिन्दु, हकारार्ध और निरालम्बपुरी आदि ग्रास करते जायेंगी अर्थात् वे सब कुण्डलिनी-शरीर में लयप्राप्त होंगे। यह अर्धचन्द्राकार कपाट भेदन होते ही कुण्डलिनी स्वयं उत्थित होकर ब्रह्मरन्ध्रस्थित सहस्रदलकमल में परमपुरुष के साथ संयुक्त होंगी।

आद्याशक्ति कुलकुण्डलिनी इस प्रकार से स्थूलभूत से लेकर प्रकृति तक चौबीस तत्त्व का ग्रास कर शिरसि सहस्रार में उठ परमपुरुष के साथ संयुक्त और एकीभूत होंगी। तब प्रकृति-पुरुष के सामरस्य-सम्भूत अमृतधारा द्वारा क्षुद्र-ब्रह्माण्डरूप शरीर प्लावित होता रहेगा। इस समय साधक समस्त जगत् को विस्मृत और बाह्यज्ञानशून्य होकर किस तरह अनिर्वचनीय अभूतपूर्व अपार आनन्द में निमग्न होंगे, उसे लिखकर व्यक्त करने की क्षमता नहीं है। यह आनन्द अनुभव के बिना मुख से कहकर भी समझाया नहीं जा सकता। उस अव्यक्त अपूर्व भाव को व्यक्त करने के लिए शब्द नहीं हैं। वह अनिर्देश्य अननुभूत आनन्द अनिर्वचनीय ! अवर्णनीय !! अलेखनीय है !!!

सहस्रदलपद्म में कुण्डलिनी को महातेजोमयी अमृतानन्दमूर्ति के रूप में चिन्तन करें। तब सुधासमुद्र में निमज्जित और रसाप्लुत कर परमपुरुष के साथ

सामरस्य-सम्भोग कराकर पुनः कुण्डलिनी को यथास्थान में लाना होगा। इस समय उन्हें अमृतधारा-प्लावित महामृतरूपा आनन्दमयी के रूप में चिन्तन करना होगा।

कुण्डलिनी को उतारते समय साधक "सोऽहं" मन्त्र का उच्चारण कर उभय नासिका द्वारा धीरे-धीरे श्वासत्याग करेंगे। ऐसा होने से वे नीचे की ओर आयेंगी। प्रत्यागमनकाल में निरालम्बपुरी, प्रणव, नाद, बिन्दु आदि उद्गीर्ण कर जब कुण्डलिनी आज्ञापद्म में उपनीत होंगी, तब उनसे मन, परमशिव, हाकिनीशक्ति और सत्त्व, रजः, तमः ये त्रिगुण मातृकावर्ण एवं पद्मस्थित अन्यान्य समुदाय सृष्ट होकर पूर्ववत् यथास्थान अवस्थित होंगे। अनन्तर मनश्चक्र से हं आकाशबीज उत्पन्न होने से, उसे मुख में लेकर उस मुखद्वारा ललनाचक्र का भेदनकर विशुद्धपद्म में उपस्थित होंगी।

तत्पश्चात् यहाँ आने से उनके मुख से अर्धनारीश्वर शिव और शाकिनीशक्ति एवं मातृकावर्ण, सप्त स्वरादि—जो उन्होंने ग्रास किये थे, तत्समुदाय और अमृत प्रभृति सृष्ट होकर यथास्थान संस्थित होंगे। तब अपर मुख भी इस पद्म में प्रत्यागमन करेगा। आकाश-बीज हं से आकाश आविर्भूत होगा। आकाश से यं-बीज उत्पन्न होकर उनके मुख में अवस्थान करेगा। वे तब अनाहतपद्म में उस मुख का आनयन करेंगी।

अनाहतपद्म में आने पर कुण्डलिनी के मुख से पद्मस्थित समस्त देव-देवियाँ मातृकावर्ण और आशा प्रभृति समुदाय वृत्तियाँ उत्पन्न होकर पूर्ववत् यथास्थान रहेंगी ; क्रमशः अपर मुख इस पद्म में उपनीत होगा। यं इस वायुबीज से वायु की सृष्टि होगी। वायु से अग्निबीज रं आविर्भूत होने से पूर्ववत् उसे मुख में लेकर मणिपुरपद्म में उपस्थित होंगी।

मणिपुर में आकर कुण्डलिनी अपने मुख से यह पद्मस्थित रुद्र और लाकिनीशक्ति, मातृकावर्ण, लज्जादि वृत्तिसमुदाय एवं अन्यान्य समस्त की सृष्टि कर पहले के समान यथास्थान संस्थापन करने से अपर मुख क्रमशः

इस पद्म में आयेगा। अग्निबीज रं से वरुणबीज वं उत्पन्न होकर कुण्डलिनीमुख में अवस्थान करेगा।

कुण्डलिनी वं-बीज मुख में लेकर स्वाधिष्ठानपद्म में आयेंगी। उनके मुख से ये पद्मस्थित विष्णु और राकिणीशक्तिः मातृकावर्ण, अविश्वासादि वृत्तिसमुदाय एवं अन्यान्य समस्त ही आविर्भूत होकर पूर्ववत् यथास्थान स्थित होंगे। तब अपर मुख भी क्रमशः इस पद्म में आकर उपस्थित होगा। वरुणबीज वं से जल उत्पन्न होगा एवं जल से पृथ्वीबीज लं उत्पन्न होकर कुण्डलिनी के मुख में अवस्थान करेगा।

अनन्तर कुण्डलिनी लं-बीज मुख में लेकर स्व-आधार मूलाधारपद्म में उपस्थित होंगी, यूँ ही उनके मुख से ब्रह्मा और डाकिनीशक्ति, मातृकावर्ण एवं अन्यान्य समस्त ही उत्पन्न होकर यथास्थान अवस्थिति करेंगे। पृथ्वीबीज लं से पृथ्वीमण्डल की सृष्टि होगी। तब वे अपर मुख क्रमशः उस पद्म में लाकर ब्रह्मविवर में रखकर ब्रह्मद्वार रोध कर सुख में निद्रिता होकर अन्य मुखद्वारा निःश्वास-प्रश्वास त्याग करती रहेंगी। तब पूर्ववत् जीवात्मा भ्रान्ति और मायामोह में संमुग्ध होकर जीवभाव में यथास्थान अवस्थान करेगी।

इस प्रणाली का कुम्भकयोग से भावनाद्वारा क्रमशः अभ्यास करना होता है। कुण्डलिनी सर्वस्वरूपिणी हैं, अतः कुण्डलिनी सारी देह में सभी के मूलरूप में मूलाधार में अवस्थिति कर रही हैं। शाक्त, शैव, वैष्णव, सौर, गाणपत्य, बौद्ध, ब्राह्म, पारसी, सिख, मुसलमान, ईसाई, तान्त्रिक प्रभृति जिस किसी भी सम्प्रदायभुक्त क्यों न हों, सभी उपरोक्त नियम से कुण्डलिनी उत्थापन कर सांख्ययोग से साधना कर सकेंगे।

जो स्थूलमूर्ति के उपासक हैं, उनमें जो शाक्त अर्थात् शक्तिमन्त्र के उपासक हैं, वे कुण्डलिनी को उठाते समय 'हंस' कहकर उठाएँगे एवं उतारते समय 'सोऽहं' कहकर उतारेंगे। और कुण्डलिनी को उक्त प्रकार से सहस्रार में उत्थापित कर उन्हें गुरूपदिष्ट इष्टदेवता, अर्थात् जो जिस देवी के उपासक

हैं, वे कुण्डलिनीशक्ति को वही देवी एवं परमपुरुष की तन्निर्दिष्ट भैरव कल्पना कर उभय का एकत्र सामरस्य सम्भोग करेंगे। यथा—

मूलाधारे वसेत् शक्तिः सहस्रारे सदाशिवः।*

और जो लोग वैष्णव हैं, वे भी उक्त प्रकार से कुण्डलिनी को सहस्रार में उठाकर पुरुष के साथ संयुक्त करने के समय कुण्डलिनी को परा प्रकृतिरूपिणी राधा एवं सहस्रारस्थित परमपुरुष को श्रीकृष्ण कल्पना कर उभय का सामरस्य सम्भोग करेंगे। वैष्णवशास्त्र में उक्त है—

---

* शक्तिसाधक स्वनामधन्य महात्मा रामप्रसाद के भजनसंगीत में है—

जाग माँ आमार देहमध्ये। (कुलकुण्डलिनी)
(आमि) ज्ञान-चन्दन भक्ति-जवा दिव माँ तोर श्रीपादपद्मे॥
अपूर्व छय पद्म आछे माँ मेरुदण्डेर मध्ये मध्ये।
डाकिन्यादि शक्ति तोमार रयेछे तार प्रति पद्मे।
सुषुम्नार सूक्ष्मपथे माँ शक्ति संगे गो योगाद्ये।
चल सहस्रदल पद्म परे माँ आमि ताइ भाबि गो भवाराध्ये॥
परमहंसरूपे पिता आछेन तथा शोन् विशुद्धे।
परमहंसीरूपिणी माँ तुइ, एकबार युगल मिलने देखा दे॥
प्रसाद बड़ भाबछे गो माँ, कि हबे शमनेर युद्धे।
अभय दे अभये शमनभये आर छलना करिस्ने आद्ये॥

[अयि माँ कुलकुण्डलिनि ! तुम मेरे शरीर में जागो माँ, मैं ज्ञान का चन्दन और भक्ति की जपा (अड़हुल फूल) तुम्हारे श्रीचरण-कमलों में अर्पित करता हूँ। माँ ! मेरे इस शरीर के मेरुदण्ड के बीच बीच में अपूर्व (दिव्य) छः कमल हैं, उन प्रत्येक कमलों में डाकिनी आदि तुम्हारी दिव्य शक्तियाँ बिराज रही हैं। अयि माँ योग की आदिशक्ति ! तुम अपनी शक्तियों के साथ चलो माँ, सुषुम्ना के पथ में होकर उस सहस्रदल-कमल पर। अयि माँ, संसारवासियों की आराध्ये ! मैं हमेशा यही चिन्तन करता हूँ॥ हाँ, सुनो विशुद्धे ! वहीं पर (सहस्रार में) परमहंसस्वरूप में पिता (शिवजी) विराज रहे हैं, इसलिए तुम परमहंसस्वरूपिणी (शक्ति) रूप में उनके साथ युगल-मिलन में मुझे एकबार दर्शन दो माँ ! यह प्रसाद को इस बात की बड़ी चिन्ता है माँ, कि शमन (मौत) से लड़ते समय, उसका मैं कैसे सामना करूँ ? अयि अभये ! उस शमन (मौत) के भय से मुझे अभय दे, और मुझसे छलना मत करो आद्ये !]

मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरमनाहतम्।
विशुद्धश्च तथाज्ञाख्यं षट्चक्रश्च विभाव्य च॥
कुण्डलिन्या स्वशक्त्या च सहितं परमेश्वरम्।
सहस्रदलपद्मस्थं हृदये स्वात्मनः प्रभुम्॥
ददर्श द्विभुजं कृष्णं पीतकौशेयवाससम्।
सस्मितं सुन्दरं शुद्धं नवीनजलदप्रभम्॥

—नारदपञ्चरात्रम्, प्रथमरात्र, ३।७०-७२

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा नामक षट्चक्र की हृदय में भावना कर स्वशक्ति और कुण्डलिनी के साथ सहस्रदलपद्मस्थित परमात्मा-प्रभु का ध्यान कर, द्विभुज एवं पीतकौशेयवस्त्र-परिहित, ईषद्-हास्ययुक्त, सुन्दर और विशुद्ध एवं नवीन मेघ के समान प्रभाविशिष्ट श्रीकृष्णचन्द्र के दर्शन करें।

कुण्डलिनी उत्थापन कर ब्रह्मतत्त्व-साधना की बहुविध प्रणालियाँ शास्त्र में उक्त हैं। उनमें सहज, श्रेष्ठ और सुखसाध्य कई प्रणालियाँ नीचे लिखी गई हैं। जिन्हें जो सुविधाजनक होगी, वे उसी प्रणाली का अवलम्बन कर ब्रह्मतत्त्व की साधना करेंगे। विषय एक ही है, किन्तु प्रणालियाँ भिन्न-भिन्न हैं मात्र।

रसानन्द योग या योनिमुद्रा साधना

योनिमुद्रा का अवलम्बन कर पूर्वोक्त प्रकार से कुण्डलिनीशक्ति को सहस्रार में उत्थापित किया जा सकता है। यथा—

योनिमुद्रां समासाद्य स्वयं शक्तिमयो भवेत्।
सुशृङ्गार-रसेनैव विहरेत् परमात्मनि॥

आनन्दमयः संभूय ऐक्यं ब्रह्मणि सम्भवेत्।
अहं ब्रह्मेति वाद्वैतः समाधिस्तेन जायते॥

—घेरण्डसंहिता, ७।१२-१३

—योनिमुद्रा का अवलम्बन कर साधक उसी परमात्मा में अपने को शक्तिमय सोचे अर्थात् अपने को प्रकृतिरूपा शक्ति एवं परमात्मा को पुरुषरूप शिव चिन्तन करें, ऐसा होने से प्रकृति-पुरुष या शिव-शक्ति का ज्ञान होगा। तब स्त्री-पुरुषवत् अपने साथ परमात्मा का शृङ्गाररसपूर्ण विहार हो रहा है, ऐसा चिन्तन करें। इस प्रकार के सम्भोग से उत्पन्न परमानन्दरस में मग्न होकर परब्रह्म के साथ अभेदरूप में मिल गया हूँ, ऐसा ज्ञान जनमेगा। ऐसा होने से 'मैं ही ब्रह्म हूँ' ऐसा अद्वैतज्ञान उत्पन्न होकर परब्रह्म में चित्त लीन हो जायेगा।

पूर्वोक्तरूप में वैष्णव-साधक स्वयं की राधारूप में कल्पना कर परमपुरुष श्रीकृष्ण के साथ रास-रस में मत्त होंगे। योनिमुद्रा का क्रम इस प्रकार है—

आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे पूरयेन्मनः।
गुदमेढ्रान्तरे योनिस्तमाकुञ्च्य प्रवर्तते॥
ब्रह्मयोनिगतं ध्यात्वा कामं बन्धूकसन्निभम्।
सूर्यकोटि प्रतीकाशं चन्द्रकोटि सुशीतलम्॥
तस्योर्ध्वं तु शिखा सूक्ष्मा चिद्रूपा परमा कला।
तया पिहितात्मानमेकीभूतं विचिन्तयेत्॥
गच्छति ब्रह्ममार्गेण लिङ्गत्रयक्रमेण वै।
अमृतं तद्विसर्गस्थं परमानन्दलक्षणम्॥
श्वेतरक्तं तेजसाढ्यं सुधाधारप्रवर्षिणम्।
पीत्वा कुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत् कुलम्।
पुनरेवाकुलं गच्छेन्मात्रायोगेन नान्यथा॥

सा च प्राणसमा ख्याता ह्यस्मिंस्तन्त्रे मयोदिता।
पुनः प्रलीयते तस्यां कालाग्न्यादिः शिवात्मकः॥
योनिमुद्रा परा ह्येषा बन्धस्तस्याः प्रकीर्तितः।
तस्यास्तु बन्धमात्रेण तन्नास्ति यन्न साधयेत्॥

—शिवसंहिता, ४।१-८

पहले पूरकयोगद्वारा स्वीय मूलाधारपद्म में वायु के साथ मन को स्थापित करना होगा। गुह्यद्वार और उपस्थ के मध्यवर्ती स्थान को योनिमण्डल कहते हैं। इसी योनिस्थान को आकुञ्चित कर योनिमुद्रा की साधना में प्रवृत्त हों। इस योनिमण्डल को ब्रह्मयोनि भी कहा जाता है। इस ब्रह्मयोनि के बीच बन्धूकपुष्प-सदृश रक्तवर्ण, कोटिसूर्य के समान तेजोमय एवं कोटिचन्द्र के समान सुशीतल स्थिरतर कन्दर्प नामक वायु है। उसके ऊर्ध्वभाग में वह्निशिखा के समान सूक्ष्म चैतन्यस्वरूपा परमा कला (कुण्डलिनीशक्ति) हैं। साधक इस प्रकार ध्यान कर, फिर आत्मा उस परमा कला कुण्डलिनीशक्ति के द्वारा परिव्याप्त और एकीभूत है, यही चिन्तन करें। तत्पश्चात् साधक कुम्भक-योगप्रभाव से वायु के साथ ये कुण्डलिनीशक्ति (स्वयं) स्वयम्भूलिङ्ग, वाणलिङ्ग, इतरलिङ्ग, इस लिङ्गत्रय का भेदन कर सुषुम्नानाड़ी के रन्ध्र से होकर ब्रह्ममार्ग में गमन कर रही हैं, ऐसा चिन्तन करें। इसरूप में कुण्डलिनीशक्ति अकुल-स्थान (शिरःस्थित अधोमुख सहस्रदल कमलकर्णिका) में उपनीत होकर विसर्गस्थित दिव्य कुलामृत पान करती रहेंगी। यह कुलामृत परमानन्दमय, श्वेत-रक्तवर्ण (सत्त्वरजोमय) और तेजःसम्पन्न है ; इससे दिव्य सुधाधारा वर्षण हो रही है। कुण्डलिनी इस प्रकार दिव्य कुलामृत का पान कर फिर कुलस्थान (मूलाधारपद्मस्थ ब्रह्मयोनिमण्डल) में प्रत्यागमन करेंगी। कुलकुण्डलिनीशक्ति का इस प्रकार गमनागमन प्राणायाममात्रायोग में ही करना होगा। उस मूलाधारपद्म में कुलकुण्डलिनीशक्ति आत्मा की प्राणस्वरूपा होकर रहती हैं। इस प्रकार गमनागमन के बाद फिर वह कुण्डलिनीशक्ति कालाग्न्यादि शिवात्मक

ब्रह्मयोनि में प्रलीन हो रही हैं, यही चिन्तन करो, इसका नाम योनिमुद्रा है। यह सभी मुद्राओं में श्रेष्ठ है ; इस (योनिमुद्रा) के बन्धमात्र से ही साधक, ऐसा कोई विषय नहीं है, जिसमें सिद्धिलाभ न कर सकें।

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा पतितो धरणीतले।
उत्थाय च पुनः पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥

—कुलार्णवतन्त्र, ७।१००

योनिमुद्रायोग में इस प्रकार पुनः पुनः कुण्डलिनीशक्ति को कुलामृत पान कराने से साधक का और पुनर्जन्म नहीं होता।

योगिवर गोरक्षनाथ के मत से योनिमुद्रा ऐसी है—

सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्नासामुखम्।
अङ्गुष्ठतर्जनीमध्यानामादिभिश्च साधयेत्॥
काकीभिः प्राणं संकृष्य अपाने योजयेत्ततः।
षट्चक्राणि क्रमात् ध्यात्वा हुँ-हंसमधुना सुधीः॥
चैतन्यमानयेत् देवीं निद्रिता या भुजङ्गिनी।
जीवेन सहितां शक्तिं समुत्थाप्य कराम्बुजे॥
शक्तिमयः स्वयं भूत्वा परंशिवेन सङ्गमम्।
नानासुखं विहारञ्च चिन्तयेत् परमं सुखम्॥
शिवशक्ति-समायोगादेकान्तं भुवि भावयेत्।
आनन्दश्च स्वयं भूत्वा अहं ब्रह्मेति सम्भवेत्॥
योनिमुद्रा परा गोप्या देवानामपि दुर्लभा।
सकृत्तु लाभात् संसिद्धिः समाधिस्थः स एव हि॥

—गोरक्षसंहिता, १।८९-९४

साधक सिद्धासन में उपविष्ट होकर दोनों हाथों के अंगुठों द्वारा कर्णद्वय, तर्जनीद्वय द्वारा चक्षुर्द्वय, मध्यमाद्वय द्वारा नासिकाविवरद्वय एवं अनामिकाद्वय

और कनिष्ठांगुलिद्वय द्वारा मुखविवर रुद्ध कर, काकीमुद्रा द्वारा अर्थात् दोनों होंठों को काकचञ्चु के समान पतला कर प्राणवायु का समाकर्षण कर अपानवायु से युक्त करें। तत्पश्चात् शरीरस्थ षट्चक्र का ध्यान कर "हुँ हंस" इस मन्त्रद्वारा निद्रिता भुजङ्गिनीदेवी को अर्थात् कुलकुण्डलिनी को सचैतन्य कर जीवात्मा के साथ शक्ति को शिरःस्थित सहस्रदलपद्म में उपस्थापित करें। सुधीव्यक्ति स्वयं को शक्तिमय भावना कर उस कमलकर्णिकामध्य परमपुरुष के साथ सम्मिलित होकर स्त्री-पुरुष के समान सङ्गमासक्त हों एवं स्वयं को आनन्दमय और परमसुखी सोचें। इस प्रकार से चिन्तन करते-करते या सोचते-सोचते "मैं ही ब्रह्म हूँ" ऐसा ज्ञान होगा, ऐसा होने से ही योनिमुद्रा सिद्ध होती है। यह योनिमुद्रा अतिशय गोपनीय है, देवगण भी इसे प्राप्त नहीं कर पाते हैं। यह मुद्रा एकबार मात्र करने से ही सम्पूर्ण सिद्धि होती है और समाधिस्थ हुआ जा सकता है।

समाधिभङ्ग होने के बाद योगी फिर अन्तर्बाह्य कोई भ्रान्ति दर्शन नहीं करते, यही यथार्थ ब्रह्मज्ञान है।

यह प्रक्रिया अत्यन्त आनन्दप्रद एवं श्रेष्ठ है। नारीसहवासकाल में शुक्रबहिर्गमन के समय शरीर और मन में जैसा अनिर्देश्य आनन्द का अनुभव और अव्यक्त भाव हुआ करता है, साधक समाधिकाल में तदपेक्षा करोड़ों गुना अधिक आनन्द अनुभव किया करते हैं। शरीर और मन के उस अव्यक्त अपूर्व भाव को व्यक्त करने का साधन नहीं है।

ब्रह्मयोग या भूतशुद्धि साधना

भूतशुद्धियोग में भी कुण्डलिनी उत्थापित हुआ करती हैं। नित्य जपपूजादि में भूतशुद्धि करना एकान्त आवश्यक है। भूतशुद्धि किये बिना किसी भी कार्य में अधिकार प्राप्त नहीं होता है। किन्तु लाख व्यक्तियों में एक व्यक्ति

भी यथार्थ भूतशुद्धि जानते हैं कि नहीं इसमें सन्देह है। इड़ा या पिङ्गला के पथ से यह नहीं होगा ; सुषुम्नापथ से देह के सारे तत्त्व, समस्त वृत्तियाँ उस कुण्डलिनीशक्ति की सहायता से सर्वतोभाव से एकमुखी करना ही भूतशुद्धि का मुख्य उद्देश्य है। सुन्दर तरह से प्राणायाम अभ्यास के बिना कोई भी भूतशुद्धि करने में समर्थ नहीं होता।

पहले उक्त हुआ है कि एकक और अद्वितीय होकर ब्रह्मानन्दरस उपभोग करने के लिए शिव-शक्तिरूप में या पुरुष-प्रकृतिरूप में प्रकाशित होकर परब्रह्म ने सृष्टिविन्यास किया है। अब शिवशक्तिभाव का परित्याग कर केवल परब्रह्मभाव का अनुभव करना हो तो उन शिवशक्ति को या पुरुष-प्रकृति को एकत्र कर फिर चणकाकार (चने के समान) एक आवरण में प्रवेश कराना होगा, ऐसा न कर सकने पर फिर पूर्णब्रह्मज्ञान नहीं होगा, आजन्म प्रकृति-पुरुषज्ञान में आबद्ध रहना होगा। इसलिए ब्रह्मज्ञानपिपासु व्यक्ति यत्न के साथ ब्रह्मतत्त्व की साधना करें। प्रकृति-पुरुष को एकत्र करने का नाम ब्रह्मतत्त्व है। यथा—

मूलाधारे वसेत् शक्तिः सहस्रारे सदाशिवः।
तयोरैक्ये महेशानि ब्रह्मतत्त्वं तदुच्यते॥

—तन्त्रवचन

—मूलाधारकमलस्थिता कुण्डलिनीशक्ति के साथ सहस्रारस्थित परमशिव का जो सम्मिलन है, उसे ही ब्रह्मतत्त्व कहते हैं।

भूतशुद्धि योग में इस ब्रह्मतत्त्व साधना की प्रणाली ऐसी है—

साधक अपने सुविधानुरूप आसन में उपयुक्त स्थान पर उपवेशन कर मन की स्थिरता के लिए थोड़ी देर नाभिदेश में दृष्टिस्थापन कर बैठे रहें। तदनन्तर बाएँ गणेश और दाहिने गुरु की कल्पना कर उन्हें प्रणाम करें। अनन्तर साधक अपने अङ्क (गोद) में उत्तान पाणिद्वय (चित कर हस्तद्वय) रख कर प्रथमतः पञ्चप्राण, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि इन सप्तदश का आधार

जीवात्मा को मूलाधारपद्मस्थित कुण्डलिनी के साथ एकीभूत चिन्तन कर मूलाधारपद्म और कुण्डलिनी को मानसनेत्र से (ध्यान द्वारा) दर्शन करें। बाद में 'यं' यह वायुबीज उच्चारणपूर्वक सोलहबार जप करते-करते वाम नासिका से वायु आकर्षण कर मूलाधारस्थित ब्रह्मयोनिमध्य बन्धूकपुष्प के समान रक्तवर्ण करोड़ों सूर्यों के समान तेजोमय और करोड़ों चन्द्रमाओं के समान सुशीतल जो कन्दर्प नामक स्थिर वायु है, उसे ही उद्दीपित करें। तत्पश्चात् 'रं' यह वह्निबीज उच्चारणपूर्वक बत्तीसबार जप करते-करते दक्षिण नासिका से वायु आकर्षण कर कुण्डलिनी के चारों ओर स्थित वह्नि को प्रज्वलित करें एवं अभिनिविष्ट मन से चिन्तन करें कि कुण्डलिनी से परिव्याप्त और एकीभूत आत्मा के जो पापादि कर्म थे, वे अग्निद्वारा भस्मीभूत और वायुद्वारा उड़कर स्थानान्तरित हुए। उक्त प्रकार से वायुद्वारा वह्नि समुद्दीपित होने से हुंकार द्वारा कुण्डलिनी का उत्थान करवाकर हंस मन्त्र के द्वारा पृथिवीतत्त्व के साथ उन्हें (कुण्डलिनी को) अपने स्वाधिष्ठानचक्र में उत्तोलन कर स्थापन करें एवं तत्त्वसमुदाय को उनमें (कुण्डलिनी में) संयोजित करें।

अभिनिविष्टचित्त से अविच्छिन्न तैलधारा के समान किसी एक विषय पर चिन्तन करने को इच्छाशक्ति (Will force) कहते हैं। साधक उस इच्छाशक्ति को मूलाधारपद्मस्थित कुण्डलिनीशक्ति के ऊपर अभिनिविष्ट करने से, उससे उनका (कुण्डलिनी का) उद्‌बोधन होता है। जिस इन्द्रिय के ऊपर मन सन्निविष्ट किया जाता है, वही इन्द्रियशक्ति उस समय उद्‌बोधित होती है—जग उठती है। कुण्डलिनी भी शक्ति हैं, अतएव उन पर मन का अभिनिवेश करने से वे भी जागरिता होती हैं। तब हुङ्कार अर्थात् गम्भीर स्वर विस्तारपूर्वक 'हूँ' यह शब्द उच्चारण करने से वही स्वर को आश्रय कर कुण्डलिनी स्वाधिष्ठान में उठ पड़ती हैं। और "हंस" शब्द श्वास-प्रश्वास का मन्त्र है ; इस हंस या श्वास-प्रश्वास का केन्द्रस्थल मूलाधार है, मूलाधार से ही वह उद्‌भूत हुआ करती हैं ; लं यह पृथ्वीबीज भी उनका अवभासक

है, अतः वह श्वास-प्रश्वास भी पृथ्वीतत्त्व के साथ संयुक्त नहीं होने से कुण्डलिनी नहीं उठ पाती हैं।

कुण्डलिनी को स्वकीय अधिष्ठान में स्थापनपूर्वक पृथिव्यादि तत्त्वसमुदाय को जलादि तत्त्वों में लीन करें, गन्धादि घ्राण के साथ समुदाय पृथ्वी को जल में लीन करें। अनन्तर रसना के साथ रस-जल अग्नि में लीन करें, तत्पश्चात् रूपादि और दर्शनेन्द्रिय के साथ अग्नि को वायु में लीन करें। तदनन्तर शब्द के साथ आकाश को अहङ्कार-तत्त्व में लीन कर उसे बुद्धितत्त्व में लीन करें। तदनन्तर बुद्धितत्त्व को प्रकृति में लीन कर, ब्रह्म में उस प्रकृति को लीन करें।

किस प्रकार से वे पृथिव्यादि तत्त्व अन्य तत्त्वों में लीन होते हैं, वह कुण्डलिनी उत्थापन-क्रिया में वर्णित हुआ है। उक्त प्रक्रिया अवलम्बन कर कुण्डलिनी को सहस्रार में लेकर परमपुरुष के साथ संयुक्त और एकीभूत कर उन दोनों की सामरस्यसम्भूत अमृतधारा में अपने शरीर को प्लावित और आनन्दयुक्त रूप से भावना करें। इस अवस्था में साधक को ब्रह्मतत्त्वज्ञान लाभ हुआ करता है। अनन्तर "सोऽहं" इस मन्त्रद्वारा लय प्राप्त होकर कुण्डलिनी के साथ जीवात्मा और चौबीस तत्त्वों को फिर स्वस्थान पर चालित करें।

शास्त्र में और भी कई प्रकार की भूतशुद्धि की व्यवस्था है। किन्तु वे सब प्रायः ही पूजादि में व्यवहृत होती हैं। ब्रह्मतत्त्वसाधना में उपरोक्त प्रकार की भूतशुद्धि आशुफलप्रद है। अतएव साधकगण उक्त भूतशुद्धि-प्रणाली से ब्रह्मतत्त्व साधना करें। पाठकों की अवगति के लिए नीचे अन्य एक प्रकार की भूतशुद्धि लिखी गयी, यथा—

रमिति जलधारया वह्निप्राकारं विचिन्त्य स्वाङ्के उत्तानौ करौ कृत्वा सोऽहमिति मन्त्रेण जीवात्मानं हृदयस्थं दीपकलिकाकारं मूलाधारस्थकुलकुण्डलिन्या सह सुषुम्नावर्त्मना मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपुरकानाहत-विशुद्धाज्ञाख्य-षट्चक्राणि

भित्त्वा, शिरोवस्थिताधोमुखसहस्रदलकमलकर्णिकान्तर्गत-परमात्मनि संयोज्य तत्रैव पृथिव्यप्तेजोवायुराकाश गन्ध-रूप-रस-स्पर्श-शब्द-नासिका-जिह्वा-चक्षुस्त्वक्-श्रोत्र-वाक्-पाणि-पाद-पायूपस्थ-प्रकृति-मनोबुद्ध्यहङ्कार-चतुर्विंशति-तत्त्वानि लीनानि विभाव्य, यमिति वायुबीजं धूम्रवर्णं वामनासापुटे विचिन्त्य तस्य षोड़शबारजपेन वायुना देहमापूर्य नासापुटौ धृत्वा तस्य चतुःषष्टिबारजपेन कुम्भकं कृत्वा वामकुक्षिस्थकृष्णवर्ण-पापपुरुषेण सह देहं संशोध्य तस्य द्वात्रिंशद्बारजपेन दक्षिणनासायां वायुं रेचयेत्। पुनर्दक्षिणनासापुटे रमिति वह्निबीजं रक्तवर्णं ध्यात्वा तस्य षोड़शबारजपेन वायुना देहमापूर्य नासापुटौ धृत्वा चतुःषष्टिबारजपेन कुम्भकं कृत्वा कृष्णवर्ण-पापपुरुषेण सह मूलाधारोत्थितेन वह्निना दग्ध्वा तस्य द्वात्रिंशद्बारजपेन वामनासया भस्मना सह वायुं रेचयेत्। ततः ठमिति चन्द्रबीजं शुक्लवर्णं वामनासायां ध्यात्वा तस्य षोड़शबारजपेन ललाटे चन्द्रं नीत्वा नासापुटौ धृत्वा वमिति वरुणबीजस्य चतुःषष्टिबारजपेन ललाटस्थचन्द्राद्गलितसुधया मातृकावर्णात्मिकया समस्त-देहं विरच्य लमिति पृथ्वीबीजं द्वात्रिंशद्बारजपेन देहं सुदृढं विचिन्त्य दक्षिणेन वायुं रेचयेत्। ततो हंस इति मन्त्रेण जीवं स्वस्थाने संस्थाप्य देवरूपमात्मानं विचिन्तयेत्।

प्रोक्त भूतशुद्धि का संस्कृत अति कोमल है, सहजता से भाव समझ में आ जाता है, इसलिए उसका अनुवाद देने का प्रयोजन नहीं समझा। विशेषतः मेरे रचित "योगी गुरु" पुस्तक में इस प्रकार की भूतशुद्धि का अनुवाद प्रदत्त हुआ है एवं सबके करणीय सहजसाध्य भूतशुद्धि भी लिखी हुई है। किसी को भी प्रयोजन होने पर उक्त पुस्तक में सहजसाध्य भूतशुद्धि देख लें।

राजयोग या ऊर्ध्वरेता की साधना

साधक पहले कुण्डलिनी उत्थापन की जिस किसी क्रिया का अवलम्बन कर उसमें परिपक्व होने के बाद राजयोग की प्रणाली से ऊर्ध्वरेता की साधना करें। योगशास्त्र में भी ऐसा ही उपदेश उक्त हुआ है। यथा—

पूर्वाभ्यस्तौ मनोवातौ मूलाधारनिकुञ्चनात्।
पश्चिमं दण्डमार्गन्तु शङ्खिन्यन्तः प्रवेशयेत्॥
ग्रन्थित्रयं भेदयित्वा नीत्वा भ्रमरकन्दरम्।
ततस्तु नादयेद् बिन्दुं ततः शून्यालयं व्रजेत्॥
—योगशास्त्र

पूर्व पूर्व अभ्यासयोग से मूलाधार निकुञ्चन कर मन और प्राणवायु को पश्चिम दण्डमार्ग में स्थित शङ्खिनी-नाड़ी के अभ्यन्तर में प्रवेश करायें। बाद में ग्रन्थित्रय अर्थात् नाभिमूल में ब्रह्मग्रन्थि, हृद्देश में विष्णुग्रन्थि एवं ललाट पर रुद्रग्रन्थि है, इस ग्रन्थित्रय का भेदन कर भ्रमरकन्द अर्थात् सहस्रार में उपनीत होकर उस कमलकर्णिका के बीच जो शक्तिमण्डल है, उसके अभ्यन्तर में तेजोमय विशुद्ध-स्फटिकसदृश श्वेतवर्ण जो एक बिन्दु* है, उस बिन्दुस्थान से नाद (ॐ) श्रवण करते-करते शून्यालय में गमन करें अर्थात् समाधिस्थ हों।

अथवा मूलसंस्थानमुद्वातैः सम्प्रबोधयेत्।
सुप्तां कुण्डलिनीं नाम विसतन्तुनिभाकृतिम्॥
सुषुम्नान्तःप्रवेशेन पञ्चचक्राणि भेदयेत्।
ततः शिवे शशाङ्केन ऊर्ध्वं निर्मलरोचिषि।
सहस्रदलपद्मान्तःस्थिते शक्तिं नियोजयेत्॥
—योगशास्त्र

---

* बिन्दुरूपी परमपुरुष का सविशेष वृत्तान्त मेरे रचित ''योगीगुरु'' नामक पुस्तक में लिखित है। योगिगण योगबल से इस बिन्दु को प्रत्यक्ष किया करते हैं। इसे ही ब्रह्मसाक्षात्कार कहते हैं।

सहस्रारे महापद्मे त्रिकोण-निलयान्तरे।
बिन्दुरूपे महेशानि परमेश्वर ईरितः॥
—लिङ्गेश्वरतन्त्र

मूलाधारस्थित मृणालतन्तुसदृशी अति सूक्ष्माकृति प्रसुप्ता अर्थात् निद्रिता कुण्डलिनी को रं वह्निबीज बल से मूलाधारोत्थित वह्नि को प्रबोधित अर्थात् जागृत कर सुषुम्नानाल के बीच प्रवेश के पश्चात् पञ्चचक्र अर्थात् स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा—ये पञ्चचक्र भेदनपूर्वक सहस्रदल-कमलान्तर्गत शशाङ्कसदृश निर्मलकान्ति परमात्मा परमशिव के साथ संयुक्त करें।

अथ तत्सुधया सर्वां सबाह्याभ्यन्तरां तनुम्।
प्लावयित्वा ततो योगी न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥
तत उत्पद्यते तस्य समाधिर्निस्तरङ्गिणी।
एवं निरन्तराभ्यासात् योगसिद्धिः प्रजायते॥

—योगशास्त्र

इसके बाद स्त्रीपुरुष के समान शिवशक्ति के शृङ्गाररसपूर्ण विहार से जो सुधाक्षरण हो रहा है, उस सुधाधाराद्वारा सर्वाङ्ग प्लावित हो रहा है, इस प्रकार ध्यानविशिष्ट हुए रहें। बाद में और कोई चिन्तन न करें। ऐसा होने से निस्तरङ्ग अर्थात् निर्वात जलाशय के समान निश्चला समाधि उत्पन्न होगी। इस प्रकार से निरन्तर अभ्यास करने से योगसिद्धि होती है।

महायोगी महेश्वर के वामदेव नामक उत्तर-आम्नाय (उत्तरदिक्स्थ मुख) से यह राजयोग उक्त हुआ है। अधिमात्र नामक साधक राजयोग के अधिकारी हैं। राजयोग सर्वयोगों का राजा एवं द्वैतभाववर्जित है। यथा—

चतुर्थो राजयोगः स्यात् स द्विधाभाववर्जितः।

—शिवसंहिता, ५।१७

ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग ये तीनों राजयोगों के एक-एक अङ्ग हैं। प्राणायामादि हठयोग राजयोग-साधना को सविशेष सहायता करते हैं, इसलिए हठयोग राजयोग के एक सहज उपाय के रूप में योगियों के द्वारा स्वीकृत है। जो साधारण लोगों के समान प्राणसंरोधरूप योगाभ्यास में अक्षम

हैं, वे कर्म, ज्ञान और भक्ति का आश्रय ग्रहण कर राजयोग की साधना करें। किन्तु इसमें भी अधिकारिभेद स्वीकृत है। जो जैसा अधिकारी हैं, वे उसी योग के आश्रय में साधना करें। भगवान् ने कहा है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥
तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥
स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीःकाम उद्धव।
न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत्॥
अस्मिँल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया॥

—श्रीमद्भागवत, ११।२०।६-११

—मैंने मनुष्यों का श्रेयःसाधन अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप चतुर्वर्ग साधन के लिए ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग इन तीन प्रकार के योगों के विषय में कहा है। तद्भिन्न श्रेयःसाधन का और कोई उपाय कहीं नहीं है। इन तीन प्रकार के योगों में जो लोग निर्विण्ण अर्थात् दुःखदायकबोध से धर्म और कर्मविषय से विरक्त हैं, उनके लिए ज्ञानयोग ही सिद्धिप्रद है। और कर्म और कर्मफल के विषय में जो लोग दुःखबुद्धिशून्य अर्थात् कामी हैं, जिन्हें संसारभोग से तृप्ति नहीं हुई है, उन्हें कर्मयोग ही सिद्धि प्रदान करता है। और किसी प्रकार भाग्योदयवश मेरे (ईश्वर के) प्रसङ्ग में जिन्हें नितान्त

श्रद्धा जन्मी है एवं कर्म और तत्फलादि विषय में जो विरक्त या अत्यासक्त नहीं हैं, भक्तियोग ही उनके लिए सिद्धिप्रद है। जबतक कर्मादिविषयों से विरक्ति नहीं जनमती किंवा मेरे कथाश्रवणादिविषयों मे श्रद्धा उपस्थित नहीं होती, तबतक नित्य-नैमित्तिकादि कर्म करें। हे उद्धव ! स्वधर्म में रहकर कामना परित्यागपूर्वक यदि कोई भी व्यक्ति यज्ञादि साधना करते हैं एवं निषिद्ध कर्म नहीं करते हैं, तो वे स्वर्ग अथवा नरक में गमन नहीं करते हैं। निषिद्धकर्मत्यागी स्वधर्मानुष्ठायी शुद्धचेता व्यक्ति इहलोक में ही वर्तमान रहकर विशुद्ध ज्ञानयोग को प्राप्त करते हैं या भाग्यवशतः मेरी भक्ति लाभ करते हैं।

अतएव जिस किसी प्रणाली का अवलम्बन कर राजयोग की साधना कर पाने से ही साधक को श्रेयःसाधन प्राप्त हुआ करता है। मगर जो लोग योगशास्त्रान्तर्गत राजयोग की साधना करते हैं, उनके सौभाग्य की तो सीमा ही नहीं है। इस राजयोग में सिद्धिलाभ होने से साधक ऊर्ध्वरेता और जरामरणवर्जित होते हैं ; यथा—

अभ्यसात्तु स्थिरः शान्त ऊर्ध्वरेताश्च जायते।
परमानन्दमयो योगी जरामरणवर्जितः ।।

—योगशास्त्र

—इस राजयोग में अभ्यस्त होने से योगिगण शान्त, ऊर्ध्वरेता और जरामरणवर्जित एवं परमानन्दमय होते हैं।

अतएव मैं साधकगण को यत्न के साथ राजयोग की साधना करने का अनुरोध करता हूँ। क्योंकि—

दत्तात्रेयादिभिः पूर्वं साधितोऽयं महात्मभिः।
राजयोगो मनोवायु स्थिरं कृत्वा प्रयत्नतः ।।

—योगशास्त्र

—दत्तात्रेय आदि महात्मागण ने मन और प्राण को स्थिर कर यत्न के साथ इस राजयोग की साधना की थी।

नादबिन्दुयोग और ब्रह्मचर्य-साधना

शरीरस्थ शुक्रधातु को अविचलित और अविकृत रखने के उपाय को ब्रह्मचर्य कहते हैं। यथा—

वीर्यधारणं ब्रह्मचर्यम्

—पातञ्जलयोगदर्शन (पदबोधिनी वृत्ति)

—वीर्यधारण का नाम ब्रह्मचर्य है।

अतएव सर्वावस्था में मैथुन वर्जन कर वीर्यधारण करना कर्त्तव्य है।*

शुकदेव को अकृतदार रहकर ब्रह्मचर्यपालन के नानाविध उपदेश देकर देवर्षि नारद ने कहा है—

द्वन्द्वारामेषु भूतेषु य एको रमते मुनिः।
विद्धि प्रज्ञानतृप्तं तं ज्ञानतृप्तो न शोचति॥

—महाभारत, शान्तिपर्व, ३२९।२४

—जो अपने चतुर्दिक् दाम्पत्यसुखपरितृप्त असंख्य व्यक्तियों को अवलोकन करके भी उनके बीच स्वयं एकाकी अवस्थान करने में समर्थ हैं, वे ही ज्ञानतृप्त हैं। उन्हें कदापि शोक प्रकट नहीं करना पड़ता है।

द्वन्द्वारामेषु सर्वेषु य एको रमते बुधः†।
परेषामननुध्यायंस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥

—महाभारत, शान्तिपर्व, २६९।३१

---

* मेरे रचित "योगीगुरु" पुस्तक में शुक्रधारण की प्रयोजनीयता सम्यक् लिखित है। ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में सविशेष तथ्य जानने के लिए मेरे रचित "ब्रह्मचर्य-साधन" पुस्तक का अवश्य पाठ करें।

† 'मुनिः' इति पाठान्तरम्।—अनुवादक

—जो अपने चतुर्दिक् दम्पतियों को परस्पर अनुरक्त देखकर भी अपने ईर्ष्याशून्यहृदय में एकाकी विहार कर सकते हैं, देवतागण उन्हीं को ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञ) कहा करते हैं।

सङ्गं न कुर्यात्प्रमदासु जातु योगस्य पारं परमारुरुक्षुः।
मत्सेवया प्रतिलब्धात्मलाभो वदन्ति या निरयद्वारमस्य॥
योपयाति शनैर्माया योषिद्देवविनिर्मिता।
तामीक्षेतात्मनो मृत्युं तृणैः कूपमिवावृतम्॥

—श्रीमद्भागवत, ३।३१।३९-४०

—जो व्यक्ति योग के पार गमन करने की इच्छा करते हैं, वे कभी भी रमणी का साहचर्य न करें ; कारण ब्रह्मसिद्ध योगी लोग कहा करते हैं, जो मेरी (परमेश्वर की) सेवाद्वारा आत्मा को प्राप्त हुए हैं, नारी उनके लिए नरक का द्वारस्वरूप है। देवनिर्मित प्रमदारूपिणी माया शुश्रूषादि द्वारा अल्प-अल्प आनुगत्य करती रहती है ; किन्तु ज्ञानी व्यक्ति तृणाच्छन्न कूप के समान उसे अपनी मृत्यु मानें।

भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव को कहा था—

स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।
क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः॥
न तथास्य भवेत् क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः।
योषित्सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः॥

—श्रीमद्भागवत, ११।१४।२९-३०

—आत्मवान् धीरव्यक्ति स्त्रियों एवं स्त्रीसङ्गियों का सङ्ग दूर से परित्याग कर भयशून्य देश में एकाकी अवस्थित रहकर आलस्य परित्याग कर सर्वदा मेरा (परमेश्वर का) चिन्तन करें। कारण स्त्री और स्त्रीसङ्गी के साहचर्य से उन्हें जिस प्रकार का क्लेश एवं बन्धन उपस्थित होता है, अन्य किसी प्रकार से भी वैसी सम्भावना नहीं है।

ज्ञानयोग के श्रेष्ठाधिकारी श्रीमत् शङ्कराचार्य ने अपने "मणिरत्नमाला" ग्रन्थ में प्रश्नोत्तरछल में लिखा है—

किमत्र हेयं कनकं च कान्ता। ८

—मुमुक्षु व्यक्ति के लिए कौन-कौन-सी वस्तुएँ त्यागने के योग्य हैं? —धन और स्त्री।

का शृङ्खला प्राणभृतां हि नारी। १५

—जीव का दुश्छेद्य बन्धन क्या है? —स्त्री।

त्याज्यं सुखं किं स्त्रियमेव सम्यग्। २०

—कौन सुख सम्यक्रूप से परित्याग के योग्य है? —स्त्रीसम्भोग।

द्वारं किमेकं नरकस्य नारी। ३

—नरक का द्वार क्या है? —नारी।

सम्मोहयत्येव सुरेव का स्त्री। ६

—सुरा के समान मनुष्य को कौन उन्मत्त करता है? —स्त्री।

विज्ञान्महाविज्ञतमोऽस्ति को वा
नार्या पिशाच्या न च वञ्चितो यः। १५

—इस जग में विज्ञ से भी महाविज्ञतम कौन है? —जिसे पिशाची-रूपिणी नारी वञ्चना नहीं कर सकी है।*

---

* यहाँ नारियों का जैसा पुरुषों की साधना के अन्तरायरूप में वर्णन है, पुरुषों को भी पक्षान्तर में स्त्रियों की साधना सम्बन्ध में वैसा ही जानना होगा। अन्यथा शास्त्रकारगण पुरुषों के पक्षपाती थे और स्त्रियों को घृणा की दृष्टि से देखते थे ऐसी बात नहीं। ऐसा होता तो वे स्त्री को गृहलक्ष्मी, पुरुष की सहधर्मिणी एवं शरीर के अर्धांशस्वरूप कभी नहीं कहते। यहाँ तक कि आगमशास्त्र ने नारीमात्र को देवीरूप में देखने का उपदेश दिया है। विशेषतः जो सर्वत्र ही ईश्वर का अस्तित्व देखते हैं, वे किसी से भी घृणा नहीं कर सकते। वे क्या स्त्री, क्या पुरुष सभी को ब्रह्ममय समझते हैं।

अतएव जो ब्रह्मचर्य-वृत्ति सम्यक्रूप से पालन करते हैं, शास्त्रानुसार उन्हें ब्रह्मलोक या मोक्षप्राप्ति निर्दिष्ट है। स्वयं महादेव ने कहा है—

ऊर्ध्वरेता भवेद् यस्तु स देवो न तु मानुषः।

—ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्र, ५३

—जो ब्रह्मसाधना में सिद्धिलाभ कर ऊर्ध्वरेता हुए हैं, वे मर्त्यलोकवासी होकर भी मनुष्यपदवाच्य नहीं हैं। वे ही यथार्थ देवता हैं। क्योंकि—

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।

—पातञ्जलयोगदर्शन, २।३८

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठा होने से वीर्यलाभ होता है। अर्थात् ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठित व्यक्ति की देह में ब्रह्मण्यदेव की विमल ज्योतिः प्रकाश पाया करती है। सीधी-सी बात है—ब्रह्मचर्य पालन करने से स्वतः ही ब्रह्मज्ञान या तत्त्वज्ञान प्रकाशित होता है।

अब देखना होगा, क्या करने से सम्यक् ब्रह्मचर्यवृत्ति का पालन होता है। परमयोगी याज्ञवल्क्य कहते हैं—

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्ष्यते॥*

—योगियाज्ञवल्क्यम्, १।५५

—कर्म, मन और वाक्य के द्वारा हर तरह से मैथुनेच्छा का परित्याग करने को ब्रह्मचर्य कहते हैं।

ब्रह्मचर्यपालन का अन्य कोई लक्षण या कार्य वर्तमान नहीं रहने से भी जो सारे व्यक्ति चेष्टा और यत्न द्वारा केवलमात्र मैथुन परित्याग करने में सक्षम होते हैं, शास्त्रकारगण उन्हें ही यथार्थ ब्रह्मचारी के रूप में निर्देश किया करते

---

* यह श्लोक गरुड़पुराण, पूर्वखण्ड २४३।६ में तथा कूर्मपुराण, उपरिभाग ११।१८ में भी है।—अनुवादक

हैं। केवलमात्र स्त्रीसहवास को मैथुन नहीं कहते, वह अष्टाङ्ग या अष्टलक्षणयुक्त है। यथा—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः।।*

—दक्षसंहिता, ७।३१-३२

—कामप्रवृत्ति के साथ रमणी का स्मरण, कीर्तन, केलि, दर्शन, गुह्यकथन, मन ही मन सङ्कल्प, उद्योग एवं क्रियानिष्पत्ति, इन आठों को ही पण्डितगण मैथुन के अष्ट अङ्गरूप में उल्लिखित किये हैं। इनका विपरीत अर्थात् वर्जन करना ही ब्रह्मचर्य है, अतः मुमुक्षुव्यक्ति चेष्टा और यत्न के साथ यह अष्टविध मैथुन का परिवर्जन करें।

जिन्हें ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा है कि "जीवन जाय तो जाये, तथापि इन्द्रियों के वशीभूत होकर कभी भी धर्मपथ का उल्लङ्घन नहीं करूँगा, जीवित रहते कभी भी जितेन्द्रियतावृत्ति का परित्याग नहीं करूँगा"; वे ही ब्रह्मचर्यवृत्तिपालन में समर्थ हुआ करते हैं। यह जितेन्द्रियतावृत्ति सहज ही लाभ नहीं की जा सकती। ब्रह्मगतप्राण न होने पर जितेन्द्रिय नहीं हुआ जाता है। ऐसे अनेक व्यक्ति देखे जाते हैं, जो इन्द्रियपरितृप्ति से बिल्कुल ही विमुख हैं, किन्तु मन का कलुष क्षालित नहीं किये हैं। लोकलज्जा या धर्म के दिखावा से, लोगों के निकट प्रतिपत्ति लाभाशा में संयतेन्द्रिय के समान कार्य करते हैं, किन्तु भीतर ही भीतर इन्द्रियों का प्रबल दाह है। इन्द्रियासक्त व्यक्तियों से इस प्रकार के साधु-महात्माओं का प्रभेद बड़ा ही अल्प है, उभय ही तुल्यरूप में इहलोक की नरकाग्नि में दग्ध हो रहे हैं। इन्द्रियपरितृप्ति करो या न करो,

---

* क्वचित् 'विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्।।" इति पाठान्तरम्।—अनुवादक

जब भ्रम में भी इन्द्रियपरितृप्ति की बात मन में नहीं आयेगी, जब धर्मरक्षार्थ इन्द्रियचरितार्थ करने पर भी वह दुःख का विषय छोड़ सुख का विषय बोध नहीं होगा, तभी समझना होगा कि प्रकृत इन्द्रियसंयम हुआ है। अन्यथा लोकदिखावे वाली साधुता का अभिमान कोई कार्यकरी नहीं होता। भगवान् ने कहा है—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढ़ात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ३।६

—जो व्यक्ति सारे कर्मेन्द्रियों को संयत कर मन ही मन इन्द्रियों के सारे विषय स्मरण करता है, वह मूढ़ात्मा कपटाचारी कहलाता है।

अतएव मनद्वारा ज्ञानेन्द्रियों को वशीभूत कर नारीसहवासासक्ति परित्याग न कर पाने से ब्रह्मचर्यसाधना नहीं होती है। सीधी भाषा में, सर्वतोभाव से अष्टाङ्ग मैथुन वर्जन करना ही ब्रह्मचर्य है। जब स्त्रीसहवास की इच्छा मन में बिल्कुल ही उदित नहीं होगी, तभी समझें कि वास्तविक ब्रह्मचर्यसाधना हुई है।

पहले देखना होगा कि पुरुषों को रमणी-सम्मिलन की इच्छा इतनी प्रबल क्यों होती है ? जिस प्रकार रोगोत्पत्ति का कारण निर्णय न कर कभी भी रोग का मूलोच्छेद नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार स्त्री और पुरुष के सम्मिलन-आकाङ्क्षा का कारण अवधारण न करने से उस आकुल आकाङ्क्षा को रोध नहीं किया जा सकता। इस जगत् में ऐसी एक आकर्षणी शक्ति है जिसके द्वारा प्रकृति और पुरुष का सम्मिलन हुआ करता है। महदादि अणु तक सभी एक ही नियम में गूँथे हुए हैं। उस आकुल आकर्षणशक्ति के बल से मानव काम की अनल उत्तेजना हृदय में धारण कर दौड़ता फिरता है—नर नारी के प्रति, नारी नर के प्रति आकाङ्क्षा की शतभुजाएँ लेकर जकड़ लेने

के लिए प्रधावित हो रहे हैं, स्त्री-पुरुष परस्पर के प्रति अनुरक्त हो उठते हैं। इतनी आकाङ्क्षा इतना उच्छ्वास शायद और किसी में नहीं है। इसका वास्तविक कारण यह है कि प्रकृति और पुरुष के सम्मिलनजन्य जो निर्मल आनन्द है, प्रकृति-अंशसम्भूता रमणी के प्रति पुरुष उस मिलन-आनन्द की अनुभूति स्मरण कर दौड़ पड़ता है। और प्रकृति का जो रस उपभोग कराने की वासना है, उसी वासना से रमणी पुरुष के प्रति आसक्त होती है। यह सम्मिलन-शक्ति ही पुराण का मदन है, तभी उसका अन्य नाम मनसिज है। अर्थात् यह सम्मिलन-इच्छा मानव के मन से जनमती है, तभी मदन का नाम मनसिज है। इस सम्बन्ध में थोड़ी-सी विशेष आलोचना की जाय।

सृष्टि के पूर्व प्रकृति-पुरुषमूर्तिहीन केवल एक ज्योतिमात्र थी। सृष्टि के आरम्भकाल में वह सर्वव्यापी ज्योतिः आत्मा अभेदभाव से नादबिन्दुरूप में प्रकाशमान होती है। नाद और बिन्दु सगुण शिव-शक्ति (यथा—"बिन्दुः शिवात्मको शक्तिर्नादः") इत्यादि हैं। बिन्दु परमशिव और पराप्रकृति की आद्याशक्ति ही नादरूपा है। इस नादबिन्दुयोग से ही सृष्टिविन्यास हुआ है। यथा—

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिरुभयोर्मेलनात् स्वयम्।
सर्वभूतानि* जायन्ते स्वशक्त्या जड़रूपया॥

—शिवसंहिता, १।१००

—बिन्दुरूप शिव और रजोरूपा शक्ति है, उभय के मिलन होने से ईश्वर की जड़रूपा स्वशक्ति द्वारा जीव की उत्पत्ति होती है।

इसलिए रजः को मातृशक्ति और बिन्दु को पितृशक्ति कहते हैं। इस मातृशक्ति और पितृशक्ति के संयोग से जीवप्रवाह अव्याहत हो रहा है। इस सम्मिलनद्वारा सृष्टि, स्थिति, लयकार्य सम्पन्न हो रहे हैं।

* 'स्वप्रभुतानि' इति पाठान्तरम्।—अनुवादक

यह मातृपितृशक्ति ही जीव का स्त्रीत्व और पुरुषत्व है। इसके द्वारा ही स्त्रीदेह-पुरुषदेह निर्मित हुई हैं। संसार में जितनी ही शक्तियों का परिचय मिलता है, वे समस्त ही स्त्रीत्व और पुरुषत्व हैं। ये दोनों शक्तियाँ ही परस्पर की भावाभिभव चेष्टाओं या आत्मलाभ के उद्देश्य से परस्पर में आलिङ्गित होकर नानास्थानों पर नाना प्रकार से विकसित होती हैं एवं उसके द्वारा अखिल ब्रह्माण्ड की सृष्टि, स्थिति और लयकार्य सम्पन्न करती हैं। किन्तु मैं प्राणिजगत् के स्त्रीत्व और पुरुषत्व की बातें आलोचना करूँगा।

जिस स्त्रीत्व और पुरुषत्व की बात कही गई, वे अपनी अस्तित्व की रक्षा और परिवृद्धि के लिए सर्वदा ही परस्पर के सम्मिलन की चेष्टा कर रहे हैं। उसके द्वारा उभय के ही तेज और बल की वृद्धि हुआ करती है। वह ओजस्विनी शक्तिद्वय ही मानव-मानवी को एकीभूत करती है। लौहखण्डद्वय की परिस्फुरित विरुद्ध दोनों चुम्बकशक्तियाँ जिस प्रकार परस्पर के सम्मिलन की इच्छा से अवलम्बित लौहद्वय को साथ लेकर सम्मिलित होती हैं, स्त्री-पुरुष के उद्वेलित स्त्रीत्व एवं पुरुषत्वशक्ति भी उसी प्रकार अपनी-अपनी आश्रित स्त्री और पुरुष की मनोवृत्तियों को साथ लेकर एकत्र होती हैं ; उसके द्वारा आनुभविक दृष्टि से स्त्री और पुरुष के मनोद्वय की एकता परिलक्षित होती है। तभी वेद में पति होता, पत्नी ऋत्विक् है ; पति चिदाधार, पत्नी विश्वप्रकृति है। पुरुष संन्यास, स्त्री शिक्षा, अभीष्टदेवता, जन्म-संसार-मृत्युकारिणी ; पुरुष ज्ञान, स्त्री प्रेम ; पितृ-अंश-उदासीन—केवल जीवन का उन्मेषक, और मातृ-अंश देहसृष्टिकारक—कर्मफल-भोग-प्रवर्तक है। स्त्रीशक्ति से मनुष्य जन्मग्रहण करता है, स्त्रीशक्ति लेकर मनुष्य संसारी होता है, सृष्टिप्रवाह का प्रवर्तन करता है, फिर स्त्रीशक्ति में ही ध्वंसप्राप्त होता है।

स्त्री-पुरुष के सम्मिलन के दो उद्देश्य देखे जाते हैं, एक सृष्टिप्रवाह को अव्याहत रखना, द्वितीय आत्मसम्पूर्ति। मनुष्य सुख चाहता है—केवल मनुष्य ही क्यों कहूँ, जगत् के जीवमात्र ही सुख चाहते हैं। सुखप्राप्ति का अन्यतम

नाम आत्मसम्पूर्ति है। स्त्री-पुरुष के सम्मिलनजनित ऐन्द्रियिक सुख में वह पूर्णसुख नहीं है। वह सुख तो अल्पक्षणस्थायी एवं पश्चात्तापप्रद होता है। मातृशक्ति और पितृशक्ति विभक्तभाव से क्रिया कर रही हैं, क्रियाविशेष का अवलम्बन कर उन दोनों शक्तियों के मिलन से आत्मसम्पूर्ति लाभ हुआ करता है, तब मनुष्य पूर्ण होता है। पूर्ण होने से जगत् की जो प्रधान आसक्ति नर-नारी की मिलनेच्छा है, वह दूरीभूत हो जाती है। किन्तु एक बात का स्मरण रखना होगा, घृत आयु और बल की वृद्धि करता है, फिर अस्वाभाविक भोजन से उदर की पीड़ा होती है, तद्रूप स्त्री-पुरुष की सम्मिलन-क्रिया भी ज्ञान के साथ संसाधित नहीं होने से आत्मसम्पूर्ति तो दूर की बात—आत्महत्या ही हुआ करती है। तब जिस किसी प्रकार स्थायीरूप से उनका मिलन कर ले पाने से और यह मिलनेच्छा आसक्ति में परिणत नहीं होती है।

स्त्रीजाति के प्रति पुरुष का जो आकुल आकर्षण है, जो उन्माद कामना है, वह क्यों है, शायद सभी समझ गये हैं। कीट-पतङ्ग से लेकर मनुष्य तक सभी जिसके प्रबलाकर्षण से आकर्षित हैं, जो मातृशक्ति और पितृशक्ति मिलन-आशा से उन्मत्त हैं, वह क्या सोचने मात्र से परित्याग की जा सकती है ? जो लोग आत्मसम्पूर्ति लाभ नहीं कर नारी का परित्याग करते हैं, उनका पतन अनिवार्य है ; कुछ दिन त्याग कर रहने पर भी फिर आसक्ति जन्मती है। विश्वामित्र ऋषि की तपस्या से मज्जागत होकर प्राण मात्र धक्-धक् कर रहे थे, समस्त वृत्तियों का उन्होंने परित्याग किया था, किन्तु हठात् किसी अशुभ मुहूर्त में मेनका के आगमन के साथ-साथ वृत्तियाँ जग उठी थीं, ऋषि का पतन हुआ। तभी अधुनातन किसी कवि ने कहा है—

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैवमोहं गताः।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं भुञ्जन्ति ये मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद्विन्ध्यस्तरेत् सागरम्॥

—भर्तृहरिः शतकत्रयम् (शृ०श०, ६५)

—विश्वामित्र, पराशर प्रभृति जो सारे महर्षिगण जल और पत्र खाकर जीवनधारण करते थे, वे भी जब स्त्री के मुखपद्म दर्शन कर आनन्द से मोहप्राप्त हो गये थे, तब घृतसंयुक्त शालि-अन्न एवं दधि-दुग्ध भोजन कर अन्य मानवगण यदि इन्द्रियनिग्रह कर पाते, तो पङ्गु भी सागरलङ्घन करने में समर्थ होते।

बात आधुनिक होने पर भी सचमुच सोचने का विषय है। वास्तविक स्त्री-पुरुष की मिलनेच्छा विधिकृत है, जीव के इच्छाधीन नहीं। आत्मा ने प्रकृति-पुरुष के मिलन में सामरस्य-सम्भूत आनन्द का सम्भोग किया है, उस मिलनानन्द के उपभोग के लिए जीव निरन्तर व्याकुल है। तभी रमणी को देखने पर पुरुष पूर्व अनुभूति स्मरण कर दानव की दीप्त नजर से देखता रहता है, पतङ्ग के समान रमणी की रूपवह्नि में कूद पड़ता है। मातृशक्ति के विकास में पितृशक्ति की यह आकुल आकाङ्क्षा—पितृशक्ति की यह उन्मत्त कामना है। बालिका में मातृशक्ति का विकास नहीं होता, वृद्धा में वह शक्ति अन्तर्हित हुई है, तभी बालिका या वृद्धा पितृशक्ति के आकर्षण में समर्थ नहीं है। युवती में ही मातृशक्ति का पूर्ण विकास होता है, तभी पेचकीसदृशी युवती भी पुरुष की दृष्टि में अनिन्द्यसुन्दरी होती है। अब कामिनी के लिए मनुष्य क्यों पागल रहता है, क्यों उन्मत्त रहता है, समझ गये ?—एक बूंद पदार्थ का धारण ही उसका कारण है, इस रजोबिन्दु से मिलन की इच्छा ही उसका उद्देश्य है।

किन्तु मनुष्य जो साधना करने जाता है, उसे नहीं जानने के कारण ही बिन्दु का पतन होता है। तब पुरुष फिर नारी का वदन निरीक्षण करना नहीं चाहता। क्षणपूर्व जिस रमणी में सुधांशु-सौन्दर्य देखा था, वह अब रक्त-क्लेद-परिपूर्ण मांसपिण्ड प्रतीत होता है। क्षणपूर्व जिसका निःश्वास सुरभि पवन के रूप में प्रतीत होता था, अब वह मरुभूमि का तप्तश्वास अनुभूत होता है। जो मनुष्य मुहूर्त पूर्व ही रमणी को सुख का खान समझता था,

अब वह और उसकी ओर ताकने की भी इच्छा नहीं करता। मुहूर्त में क्यों ऐसा विषम विप्लव, क्यों ऐसा घोर परिवर्तन ? जिस उद्देश्य से बिन्दु आया था, जो आनन्द प्रदान करने को प्रस्तुत हुआ था, तुम्हारी अनभिज्ञता के कारण मातृशक्ति के साथ मिलन नहीं हुआ, तभी उस मिलनानन्द की कणिका मात्र उपलब्ध करा कर अभिमान से झर पड़ा है। फिर जब वह शक्ति उत्तेजित होती है, तब फिर रमणी में अमृतभ्रम पैदा हो जाता है। फिर पितृशक्ति का क्षय होने से ही वासना बुझ जाती है।

भारतीय आर्य-ऋषिगण योगबल से यह निगूढ़ तत्त्व अवगत होकर ज्वलितकण्ठ जीव को अमृतधारा से स्निग्ध करने का उपाय निर्देश कर गये हैं। उन्होंने जान लिया था कि रमणी की आसंग-स्पृहा परित्याग करने की शक्ति किसी में भी नहीं है ; तभी रमणी को जननीत्व में परिणत करने का उपाय उद्भावन कर गये हैं।* और योगिगण नाद-बिन्दु-संयोग की प्रणाली का अवलम्बन कर प्रकृति की अनलवाहु के पंजे से बचने की व्यवस्था लिख गये हैं।

प्रकृति रमणीमूर्ति या मातृशक्तिरूप में सर्वदा आकर्षित किया करती है एवं बाँधकर रखती है। यदि उस शक्ति को साधनाद्वारा वश कर उसमें आत्मसम्मिश्रण कर लिया जाय, यदि रजोबिन्दु का या शिव-पार्वती का मिलन संघटन किया जा सके, तो उसकी और आकाङ्क्षा नहीं रह जाती ; जिसके आकर्षण से जीव नरक के न्यक्कार के प्रति दौड़ पड़ता है, उस आकाङ्क्षा की आग बुझ जाती है, बिन्दु की रक्षा होती है, और उस मिलन से क्षणभर के लिए जो आनन्द आता है, वह आनन्द स्थायीरूप से साधक के हृदय में विराजमान रहता है। कामना की आग बुझते ही साधक में स्वतः

---

* तन्त्रशास्त्रमतानुसार पञ्चतत्त्व की साधना से रमणीत्व जननीत्व में परिणत होता है। उसकी साधनाप्रणाली 'तान्त्रिकगुरु' पुस्तक में लिखित है।

ही दिव्यज्ञान का प्रकाश होता है। यह पूर्णतम ब्रह्मज्ञान है। यह एक ब्रह्मज्ञानी की अनन्त साधना है, यह पितृमातृशक्ति का संयोजन या हरगौरी का पूर्णमिलन है—आत्मा आत्मा का घुलना-मिलना ; विद्युत् विद्युत् के आपस में जकड़ कर जैसे एक-दूसरे में मिल जाना होता है, यह भी उसी प्रकार का मिलन है। इसमें और विच्छेद नहीं होता। दोनों शक्तियाँ एक होकर आत्मसम्पूर्ति लाभ करती हैं, अपूर्ण मनुष्य पूर्णत्व को प्राप्त होता है। मगर, इस रस का रसिक हुए बिना यह तत्त्व सहजता से नहीं समझा जा सकता। केवल बाहर की दृष्टि से उसका अनुभव नहीं होने का। जो लोग योगबल से, साधनाप्रभाव से अन्तर्दृष्टि लाभ कर चुके हैं, वे ही इसे समझ सकते हैं।

रजः और बिन्दु साक्षात् शक्ति और शिव या प्रकृति और पुरुष हैं ; इन दोनों के मिलन से जीव की सृष्टि है। किन्तु योगी यदि उस ज्ञान को पूर्णरूप से लाभ कर सके, तो उस मिलन में ही उसकी पूर्णता-संसिद्धि या आत्मसम्पूर्ति हुआ करती है। सदाशिव ने कहा है—

अहं बिन्दू रजः शक्तिरुभयोर्मेलनं यदा।
योगिनां साधनावताम्भवेद्दिव्यं वपुस्तदा॥

—शिवसंहिता, ४।८७

—मैं बिन्दु और रजःशक्ति हूँ ; साधनावान् योगी इस ज्ञान से जब दोनों का मिलन करा सकता है, तब उसके शरीर में देवतुल्य कान्ति होती है।

बिन्दुर्विधुमयो ज्ञेयो रजः सूर्यमयस्तथा।
उभयोर्मेलनं कार्यं स्वशरीरे प्रयत्नतः॥

—शिवसंहिता, ४।८६

—बिन्दु चन्द्रमय और रजः सूर्यमय। अतएव योगी को सर्वदा यत्नपूर्वक अपने शरीर में उभय का मिलन कराना कर्तव्य है।

उस रजोबिन्दुरूपी प्रकृति और पुरुष के सम्मिलन करने का नाम है नादबिन्दुयोग। उसका क्रम इस प्रकार है, यथा—

मणिपुरपद्म के कर्णिकाभ्यन्तर में विशुद्ध ताम्रवर्ण रजः है। पूरकयोग से कुण्डलिनीशक्ति की सहायता से वह रजः उत्तोलनपूर्वक सहस्रदल-कमलकर्णिका में शुद्ध-स्फटिकतुल्य स्वच्छ श्वेतवर्ण एवं कोटिसूर्य के समान तेजोमय जो बिन्दु है, उसके साथ सम्मिलन करें।

पूर्वोल्लिखित अभ्यासयोग से ही उसे सम्पन्न करना होता है। ऐसी प्रक्रिया को ही नादबिन्दुयोग कहते हैं। इस साधना से पूर्णसिद्धि लाभ हुआ करती है। इससे प्रकृति वशीभूत, आत्मजय और आध्यात्मिक मरण का भय निवारित होता है। यह योगी की सूक्ष्म साधना है।

इस प्रणाली के अतिरिक्त शास्त्र में रसतत्त्व-साधना का या नादबिन्दुयोग का स्थूल उपाय वर्णित है। वह बाह्य साधना है। नारी की सहायता से वह सम्पादित होती है। स्त्री पुष्पिता होने से प्रथम तीन दिन इस क्रिया के अभ्यास का उपयुक्त समय होता है। ऋतुकाल ही पूर्णरस का काल या मातृशक्ति का विकास-काल है। उद्भिद्, कीट-पतङ्ग एवं सर्वविध पशुओं में केवल ऋतुकाल में मातृशक्ति का विकास होता है; किन्तु मानवी में सर्वदा ही रस का विकास होता है अतः यहाँ माँ का सर्वदा ही आविर्भाव है। तभी शास्त्र में उक्त हुआ है—"स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु" (मार्कण्डेय चण्डी, ११।६)। सर्वदा विकास रहने पर भी ऋतुकाल में केवल वह अधिक परिपुष्ट, अधिक विकसित, और अन्य समय अपेक्षाकृत अल्प विकास है। इसलिए ऋतु का प्रथम तीन दिन ही साधना का उपयुक्त काल है। इस समय में साधक अमरोलीमुद्रायोग से योनिकुहर से लिङ्गनाल द्वारा रजः आकर्षणपूर्वक उत्तोलन कर सहस्रार में बिन्दु के साथ सम्मिलित करें। रजःशक्ति की सहायता से बिन्दु स्थिरभाव धारण करता है। जिस प्रकार अति तरल—अति चञ्चल पारद की रक्षा करने के लिए गन्धक का प्रयोजन होता है, उसी प्रकार

बिन्दुधारण के लिए रजःशक्ति का आवश्यक है ; बिन्दु और रजः एकत्र करने से उसे धारण किया जा सकता है। वह आकाङ्क्षा का पदार्थ—चिरविरह की अमूल्य निधि प्राणों में आकर सन्तप्त हृदय को सुशीतल किया करती है। अन्यथा शत चेष्टाओं के बावजूद कोई बिन्दुधारण में समर्थ नहीं होता है। क्योंकि, स्त्रीस्मरणमात्र से बिन्दु चञ्चल और विकृत हो जाता है ; साधक के अज्ञात में—अजानितभाव से कब बाहर आयेगा इसकी निश्चयता क्या है ? तभी मातृशक्ति के संयोजन द्वारा पितृशक्ति की रक्षा करने की व्यवस्था है। किन्तु इस पुस्तक में उसे खोलकर नहीं लिखा जा सकता। इसलिए शास्त्र से मूलमात्र उद्धृत किया। यथा—

आदौ रजः स्त्रियो योन्या यत्नेन विधिवत् सुधीः।
आकुञ्च्य लिङ्गनालेन स्वशरीरे प्रवेशयेत्॥
स्वकं बिन्दुञ्च सम्बध्य लिङ्गचालनमाचरेत्।
दैवाच्चलति चेदूर्ध्वं निरुद्धो योनिमुद्रया।
वामभागेऽपि तद्बिन्दुं नीत्वा लिङ्गं निवारयेत्।
क्षणमात्रं योनितोऽयं पुमांश्चालनमाचरेत्॥
गुरूपदेशतो योगी हुंहुङ्कारेण योनितः॥
अपानवायुमाकुञ्च्य बलादाकृष्य तद्रजः॥

—शिवसंहिता, ४।८१-८४

इस स्थल पर इसकी विस्तृत रूप से व्याख्या करनी और रसतत्त्व की अन्यान्य गूढ़ बातों को प्रकट करना असम्भव है। क्योंकि, रसतत्त्व की साधना-प्रणाली गुह्यतम है, उसे साधारण्य में प्रकट करना अन्याय है। विशेषतः यह साधना का विषय साधारण लोगों के लिए अश्लील विवेचना का विषय हो सकता है ; आधुनिक-फैशन के पाश्चात्य-शिक्षादृप्त सुसभ्य महाशयगण शायद कुरुचि ज्ञान से पुस्तक को दूर निक्षेप कर सरल-स्वच्छ

नासिका को कुञ्चित कर बैठेंगे। विषम काल आ पड़ने के कारण भय लगता है। अभी ''ऊरू'' शब्द का उच्चारण कर लज्जा से रसना दंशन करनी पड़ती है, जबकि मातापिता के समक्ष युवती के सुगोल फुल्ल गुलाबी कपोल से अधर-संयोग सुरुचिसम्मत है, पीनस्तनद्वय अर्ध-अनावृत रख पुरुष का हाथ पकड़ रमणी का नृत्य सुसभ्य-जनानुमोदित है। सभ्यता की बला (आफत) लेकर ही मरने की इच्छा होती है ! जो मनुष्य को मनुष्यत्व प्रदान करता है, उसकी शिक्षा या उसका प्रचार सभ्यताविरुद्ध है ! पूर्व में सभी गुरुगृह में नाना शास्त्रपाठ कर अन्त में रतिशास्त्र का पाठ सीखते थे, अब उक्त शास्त्र विलुप्तप्राय है, तभी मनुष्य अब पशु से भी अधम है ; कुछ भी ज्ञात नहीं है, जबकि पशु के समान नारी में आसक्त है। तभी उनके द्वारा उत्पादित सन्तानें पाशव प्रकृति लेकर जन्मग्रहण कर देश में पापस्रोत वृद्धि कर रही हैं। विदेशी विधर्मी राजाओं के कल्याण से मनुष्य के महामङ्गलप्रद शास्त्रादि के प्रकाशन का उपाय नहीं है।* इसी कारण मुझे यहाँ निरस्त होना पड़ा। यथार्थ साधक मेरे निकट आने से चुंगी के सहारे किस प्रकार उक्त क्रिया का अभ्यास करना होता है, उसका मौखिक उपदेश दे सकता हूँ।†

एक साधारण-सी क्रिया द्वारा अभ्यास में सहायता हो सकती है। वेग से मूत्रनिःसरणकाल में, गुह्यदेश आकुञ्चित कर पूरकयोग से वेग को रुद्ध कर मुत्रधारा फिर से शरीराभ्यन्तर में आकर्षण करें। अवश्य एक दिन में वह सम्पन्न होने का नहीं। समस्त शिक्षाएँ ही क्रमाभ्यास का फल हैं। अतएव

---

* कोलकाता के प्रसिद्ध पण्डित कामशास्त्र का प्रकाशन कर लालबाजार के पुलिसकोर्ट में अभियुक्त हुए थे।

[इस पुस्तक के प्रथम प्रकाशकाल १९०८ ई०। उस समय भारतवर्ष अंग्रेजों का शासनाधीन था। इसलिए ग्रन्थकार ने यह कहा है। —प्रकाशक]

† पूज्यपाद ग्रन्थकार ने स्थूल का कार्य समाप्त कर विगत १३४२ बङ्गाब्द के १३वें अग्रहायण (29th Nov., 1935) शुक्रवार में ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त किया है। —प्रकाशक

जल्दबाजी करने से इसमें सिद्धिलाभ नहीं होता है। प्रोक्त अभ्यास से पारदर्शी होने पर ज्ञानी व्यक्ति उस मूल का पाठ करके भी कार्य सम्पादन कर सकेंगे। किन्तु सावधान ! —आत्मसम्पूर्ति करने जाकर कहीं आत्महत्या न कर बैठें। कारण ब्रह्मगतप्राण सच्चे निष्कामी साधक के अतिरिक्त अन्य इस तत्त्व के अधिकारी नहीं हैं।

बिन्दुः करोति सर्वेषां सुखं दुःखञ्च संस्थितम्।
संसारिणां विमूढ़ानां जरामरणशालिनाम्।।
अयं शुभकरो योगो योगिनामुत्तमोत्तमः।

—शिवसंहिता, ४।९१-९२

—जरामरणशील विमूढ़ संसारियों के बिन्दु ही सुख-दुःख का कारण है, अतएव योगियों के लिए सर्वश्रेष्ठ यह योग ही शुभकर है—इसमें सन्देह नहीं है। कारण इससे प्रकृति की प्रधान आसक्ति की आग बुझ जाती है—जीव जिसकी आकाङ्क्षा में दौड़धूप करता है, उसकी ज्वाला कम हो जाती है, जीव तब जीवन्मुक्त हो जाता है।*

भगवान् सदाशिव ने कहा है—

सिद्धे बिन्दौ महारत्ने किं न सिध्यति भूतले।
यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशो भवेत्।।

—शिवसंहिता, ४।९०

—जब बिन्दुधारण करने की क्षमता जन्मती है, तब पृथ्वीतल में क्या नहीं सिद्ध होता है ? जिसके प्रभाव से ब्रह्माण्डोपरि मेरी (शिव की) एतादृश महिमा हुई है।

---

* इस प्रणाली के अतिरिक्त वैष्णवशास्त्र में इसकी निगूढ़ साधना वर्णित है। किन्तु ब्रह्मगतप्राण प्रेमिक साधक के अतिरिक्त अन्य किसी को उसका अधिकार नहीं है। मेरे रचित "प्रेमिकगुरु" ग्रन्थ में "शृङ्गार-साधना" "रसतत्त्व और साध्य-साधना" इत्यादि वैष्णवशास्त्र की गुह्य साधनाप्रणालियाँ विशदरूप में लिखी गयी हैं।

अतएव पाठक ! इसे उपन्यासकार की कल्पनासम्भूत प्रेमकहानी न समझें। बहुत-से लोग "पुत्रः पिण्डप्रयोजनात्" यह वाक्य पाठ या श्रवण कर सोचते हैं, पुत्र नहीं होने से मानव की मुक्ति नहीं होती है। अवश्य किसी महत् कारण को छोड़ सामर्थ्य रहते हुए भी विवाहद्वारा प्रजासृष्टि नहीं करने से भगवान् का आदेश अमान्य करना होता है। किन्तु जो भाग्यवान् युवा पार्थिव विवाह के पूर्व ही प्रेमाधार परमेश्वर के साथ सुदृढ़ प्रणयबन्धन में आबद्ध हो पड़ते हैं, वे यदि तुच्छ पार्थिव प्रणय की उपेक्षा कर चिरजीवन अविवाहित रहते हैं, तो उससे उनका थोड़ा भी प्रत्यवाय नहीं होता। फिर भी शास्त्रकारों ने भिन्न-भिन्न अधिकारियों के लिए भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किये हैं, वे सबके ऊपर समान रूप से प्रयोज्य नहीं हो सकते। मोक्षधर्मपरायण ब्रह्मचारियों को नरक का भय दिखाना तो दूर, शास्त्रकारों ने उनका देवतारूप में वर्णन किया है। नारद शुकदेवादि विवाह न करके भी त्रिलोकपूजित हुए हैं। मनु ने कहा है—

अनेकानि सहस्राणि कुमार ब्रह्मचारिणाम्।
दिव्यं† गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम्॥

—मनुसंहिता, ५।१५९

—सहस्र सहस्र अविवाहित ब्रह्मचारी सन्तान उत्पादन न कर ब्रह्मचर्यद्वारा दिव्यगति को प्राप्त हुए हैं।

भगवान् चैतन्यदेव ने भी शिष्यों को चिरजीवन अविवाहित रहने के लिए उपदेश प्रदान किया है। यथा—

अष्टमास रहि प्रभु भट्टे विदाय दिल।
विवाह ना करिह बोलि निषेध करिल॥

---

† क्वचित् 'दिवम्' इति पाठान्तरम्।—अनुवादक

महात्मा ईशा ने शिष्यों को विवाहसम्बन्ध में निषेधाज्ञा दी थी।* जो भी हो, अविवाहित या कुमार ब्रह्मचारी के अतिरिक्त अन्य गृहस्थ व्यक्ति भी सत्यवादी और ज्ञाननिष्ठ होने से एवं ऋतुकाल के अतिरिक्त अन्य समय स्त्रीगमन न करने से ब्रह्मचारिरूप में गण्य हो सकते हैं। यथा—

भार्यां गच्छन् ब्रह्मचारी ऋतौ भवति वै द्विजः।

—महाभारत, शान्तिपर्व, २२१।११

अजपा-गायत्री साधना

वर्तमान समय में हमारे देश के लोगों की जैसी अवस्था है, उससे योगाभ्यास अनेकों के लिए कठिन होगा इसमें सन्देह नहीं है, इसलिए उनके लिए अजपा-गायत्री साधना लिखी गई है। जपों में अजपा-जप श्रेष्ठ साधना है। साधक लिखित कौशल का अवलम्बन कर यह स्वत-उत्थित अश्रुतपूर्व अलोकसामान्य ''हंस'' ध्वनि का श्रवण कर अपार्थिव परमानन्द का उपभोग कर सकेंगे। अजपा-जप अर्थात् हंसमन्त्र जप करने से साधक को सोऽहं अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ, यह ज्ञान हुआ करता है। अतएव योगसाधना की अपेक्षा अजपा-गायत्री जप किसी भी अंश में न्यून नहीं है। जिनके पास अल्प समय है एवं योगसाधना कठिन लगती है, वे अजपा-गायत्री साधना कर आत्मज्ञान लाभ कर परमानन्द उपभोग कर सकते हैं।

मूलाधारस्थ पद्म और स्वयम्भूलिङ्ग अधोमुख में रहने से चित्राणी-नाड़ी-मध्यस्थिता ब्रह्मनाड़ी का मुख भी अधोभाग में है। द्विमुखविशिष्ट सार्धत्रिवलयाकृति कुण्डलिनीशक्ति एकमुख उस ब्रह्मविवर में रख ब्रह्मद्वार रोधपूर्वक सो रही हैं ; अन्यमुख दण्डाहत भुजङ्गिनी के समान है, इस मुख

---

* Holy Bible, St. Mathew, XIX, 10.11.12 देखो।

के द्वारा श्वासप्रश्वास हो रहा है। यही जीव का निश्वास-प्रश्वास है। श्वासवायु के निर्गमनकाल में हंकार और ग्रहणकाल में सःकार उच्चारित होता है। ''सोऽहं-हंस-पदेनैव जीवो जपति सर्वदा।'' हंस-विपरीत ''सोऽहं'' जीव सर्वदा जप कर रहा है। इस हंसशब्द को ही अजपा-गायत्री कहते हैं।

एकविंशतिसहस्रषट्शताधिकमीश्वरि।
जपते प्रत्यहं प्राणी सान्द्रानन्दमयीं पराम्॥
विना जपेन देवेशि जपो भवति मन्त्रिणः।
अजपेयं ततः प्रोक्ता भवपाशनिकृन्तनी॥

जितनी बार श्वासप्रश्वास होता है, उतनी बार ''हंस'' परम मन्त्र का अजपा जप होता है, एवं प्रत्येक मनुष्य का एक अहोरात्र में २१६०० बार निश्वास बहिर्गत और प्रश्वास अन्तःप्रविष्ट हुआ करता है। यही मनुष्य का स्वाभाविक जप है। इस अजपा-गायत्री द्वारा जीव को आत्मसम्पूर्ति लाभ होता है। ''हंस''—'हं' भीतर से सत्त्व का अंश खींचकर बाहर के जगत् में फेंककर प्रकृति की परितुष्टता संसाधित कर दे रहा है ; और 'सः' बाहर के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द को भीतर में खींच लेकर सत् के साथ सम्बन्ध स्थापन कर रहा है। 'हं' शिव या पुरुष है—'सः' शक्ति या प्रकृति है। हंस श्वास-प्रश्वास का मिलन—पुरुष-प्रकृति का मिलन है, अतः आत्मसम्पूर्ति है।

यह हंस ही जीव का जीवात्मा है। मूलाधार से हंस शब्द उत्थित होकर जीवाधार अनाहत-कमल में ध्वनित होता है। बिना आघात के ध्वनित होने के कारण इस पद्म का अनाहत नाम हुआ है। वायु के द्वारा चालित होकर अनाहत से 'हंस' नासिका से श्वास-प्रश्वासरूप में बहिर्गत हो रहा है। अतएव जीव से स्वतः ही हंसध्वनि उत्थित हो रही है। हंसबीज मनुष्य देह का जीवात्मा है। यह हंसध्वनि सामान्य चेष्टा से साधक की कर्णगोचर होती है। इस हंस के विपरीत 'सोऽहं' साधक की साधना है। अनाहतपद्म में जीवात्मा आहोरात्र साधना या योग या ईश्वरचिन्तन कर रहा है। मानव का

तमसाच्छन्न विषयविमूढ़ मन उसकी उपलब्धि नहीं कर पाता है। सद्गुरु की कृपा से यह जान पाने से फिर माला-झोला लेकर विडम्बना भोग नहीं करनी पड़ती है।

यह अजपा-जप मोक्षदायक है। रोज प्रातःकाल में किंवा अर्धरात्रसमय में अजपा-गायत्री की साधना करनी होती है। इसका नियम ऐसा है—

साधक आसन में उपविष्ट होकर ब्रह्मरन्ध्र में गुरु का ध्यान करते हुए भक्तिभाव से उन्हें प्रणाम करें। फिर अनाहतपद्म में वाणलिङ्ग शिव के मस्तक पर निर्वात निष्कम्प दीपकलिकाकार हंसबीज-प्रतिपाद्य तेजोमय जीवात्मा को मानसनेत्र से दर्शन कर हंसध्यान करें। ध्यान—

गमनागमस्थं गमनादिशून्यं चिद्रूपरूपं तिमिरान्तकारम्।
पश्यामि तं सर्वजनप्रधानं नमामि हंसं परमार्थरूपम्॥

अनन्तर अजपा जप की अङ्गन्यासादि करने होते हैं।

षड़ङ्गन्यास—ॐ हं सां सूर्यात्मने तेजोवत्यै शक्तये हृदयाय स्वाहा। ॐ हं सीं सोमात्मने प्रभाशक्तये शिरसे स्वाहा। ॐ हं सूं निरञ्जनात्मने अविद्याशक्तये शिखायै स्वाहा। ॐ हं सैं निराभासात्मने महाशक्तये कवचाय स्वाहा। ॐ हं सौं अनन्तात्मने ईक्षणशक्तये नेत्रत्रयाय वौषट्। ॐ हं सः अनन्तात्मने शक्तये अस्त्राय फट्।

ऋष्यादिन्यास—अस्य अजपा-गायत्रीमन्त्रस्य हंस ऋषिः अव्यक्तगायत्रीच्छन्दः परमहंसो देवता हं बीजं सं शक्तिः सोऽहं कीलकं परमात्मप्रीतये उच्छ्वास-निश्वासाभ्यां षट्शताधिकैकविंशतिसहस्राजपाजपसमर्पणेन मोक्षप्राप्तये विनियोगः। शिरसि हंसऋषये नमः। मुखे अव्यक्तगायत्रीच्छन्दसे नमः। हृदि परमहंसाय देवतायै नमः। मूलाधारे हं बीजाय नमः। पादयोः सः शक्तये नमः। सर्वाङ्गे सोऽहं कीलकाय नमः।

अनन्तर सहस्रार में गुरुध्यान, हृदय में हंसध्यान एवं मूलाधार में कुण्डलिनी का ध्यान कर फिर उन्हें तेजोमय चिन्तन करें। इसके बाद उन तीन तेजों

की एकता कर, उस तेजःप्रभाव से अपने को भी तेजोमय और अभिन्न भावना करते हुए अनाहतपद्म में जीवात्मा के प्रति लक्ष्य कर एक सौ आठबार या तदधिक यथासाध्य सोऽहं मन्त्र का जप करें। जप का नियम—'सः' शब्द (उच्चारण के समय 'सो') मन ही मन उच्चारण कर उभय नासापुट से श्वास आकर्षण करें। उस समय चिन्तन करें, नासापुट से वह आकृष्ट वायु नीचे उतर कर एवं कुण्डलिनी के मुख से श्वास बहिर्गत होकर ऊपर उठकर उभय वायु एकत्र अनाहतपद्मस्थित जीवाधार वायुयन्त्र (यं) में आघात कर रही हैं। उसके बाद 'हं' शब्द उच्चारण कर श्वास परित्याग करें। इसी समय उभय वायु उभय ओर चली जा रही हैं चिन्तन करना होगा। इस प्रकार पुनः पुनः करना होता है। उभय वायु एकत्र सम्मिलनकाल में स्वतः ही सोऽहं उच्चारित होता है। अर्थात् उभय वायु उभय ओर से आकर वायुयन्त्र में (प्रवेशकाल में) सो—हं (निर्गतकाल में) ध्वनित हुआ करती हैं। और इसके विपरीतक्रम में जप करने से ही हंस जप हुआ करता है।* इस प्रकार से जप करते-करते जब स्वतः उत्थित अजपा-गायत्री श्रुतिगोचर होगी, तब एकमन से वह नादध्वनि सुनते सुनते साधक को सोऽहं (मैं ही ब्रह्म हूँ) ज्ञान उत्पन्न होगा।

ऊपर्युक्तरूप से यथासाध्य जप कर, फिर जपसमर्पण करें। विधिपूर्वक जपसमर्पण किये बिना साधक का जपजनित तेज विनष्ट हो जाता है।

अजपा जपसमर्पण—मूलाधारमण्डपे स्वर्णवर्णचतुर्दलपद्मे द्रुतसौवर्ण-वर्णवादिसान्तचतुर्वर्णान्विते गायत्रीसहिताय रक्तवर्णाय गणनाथाय षट्शतसंख्यम-जपाजपमहं समर्पयामि नमः। स्वाधिष्ठानमण्डपे विद्रुमनिभे विद्युत्पुञ्ज-प्रभावे वादिलान्त-षड्वर्णान्विते षड्दलपद्मे सावित्रीसहिताय ब्रह्मणे अजपामन्त्रं षट्सहस्रमहं समर्पयामि नमः। मणिपुरमण्डपे सुनीलप्रभे महानीलप्रभाडादिफान्त-

* जो इस प्रकार जप करने में अक्षम हैं, वे साधारण जप की तरह हंसः सोऽहं मन्त्र का एक सौ आठबार जप करें।

दशवर्णविभूषिते दशदलपद्मे लक्ष्मीसहिताय विष्णवे षट्सहस्रमजपाजपमहं समर्पयामि नमः। अनाहतमण्डपे तरुणरविनिभे महावह्निकर्णिकाभकादिठान्त-द्वादशदलपद्मे गौरीसहिताय शिवाय षट्सहस्रमजपाजपमहं समर्पयामि नमः। विशुद्धमण्डपे धूम्रवर्ण-रक्तवर्णाकारादिअःकारान्त षोड़शस्वरान्विते षोड़शदलपद्मे प्राणशक्तिसहिताय जीवात्मने सहस्रसंख्यमजपाजपमहं समर्पयामि नमः। आज्ञामण्डपे विद्युत्पुञ्जनिभे शुभ्रहक्षवर्णान्विते द्विदलपद्मे मायासहितपरमात्मने एकसहस्रमजपाजपमहं समर्पयामि नमः। ब्रह्मरन्ध्रमण्डपे कर्पूराभे नानावर्णोज्ज्वल-दलविभूषिते नानावर्णसमुदयोज्ज्वले सहस्रारे नादबिन्दूपरिस्थित-ब्रह्मरूप-सशक्तिकगुरवे एकसहस्रसंख्यमजपाजपमहं समर्पयामि नमः।

अनन्तर "षट्शताधिकैकविंशतिसहस्रजपेन परदेवतारूपः श्रीपरमेश्वरः प्रीयताम्" यह मन्त्र पाठपूर्वक मानसिक सङ्कल्प कर दूसरे दिन के लिए फिर हंस का ध्यान करना पड़ता है। यह ध्यान इस प्रकार से है—

आराधयामि मणिसन्निभमात्मलिङ्गं मायापुरीहृदयपङ्कजसन्निविष्टम्।
श्रद्धानदीविमलचित्तजलावगाहं नित्यं समाधिकुसुमैरपुनर्भवाय॥

अजपा-गायत्री द्विविधा—व्यक्ता और गुप्ता है। ऊपर्युक्त प्रकार से जप का नाम व्यक्ता है, और भ्रामरी-कुम्भक-योग से निःश्वास रुद्ध करते हुए अन्तर से जो जप किया जाता है, वही गुप्ता है।* जो गुप्त है, वह अति गुप्त है, अतएव उसे गुप्त रखना ही अच्छा है। जो भी हो, लिखित उपाय का अवलम्बन कर रोज भक्ति और श्रद्धा के साथ इस क्रिया के अनुष्ठान करने से अचिर ही साधक तत्त्वज्ञान लाभ कर कृतकृतार्थ और अपार्थिव परमानन्द को प्राप्त करेंगे।

---

* यह प्रणाली मेरे रचित "योगी गुरु" ग्रन्थ में लिखित है। उक्त पुस्तक के "नादसाधन" शीर्षक प्रबन्ध देखें।

अजपा-गायत्री की सिद्धि कर उसके साथ गुरुदत्त इष्टमन्त्र अथवा अन्य जिस किसी मन्त्र के जप करने से वह भी अचिर में चैतन्य होता है एवं साधक की मन्त्रसिद्धि हुआ करती है। न्यासादि किये बिना भी साधक दिवारात्र सांसारिक कार्य करते-करते भी हंसध्यान में सोऽहं ज्ञान में निमग्न रह सकते हैं।†

जीवात्मा के देहत्याग के पूर्वमुहूर्त तक यह अजपा परममन्त्र जप हुआ करता है। अतएव देहत्याग का समय जानकर शेष ''हं''-के साथ देहत्याग कर पाने से शिवरूप में ब्रह्मलोक की प्राप्ति हुआ करती है।

ब्रह्मानन्द-रस साधना

पृथ्वी के सारे धर्मसम्प्रदायों में जितने प्रकार के साधन-भजन के उपाय प्रचलित हैं, सर्वविध प्रणालियों का उद्देश्य है चित्तवृत्ति निरोधपूर्वक आत्मज्ञान लाभ करना। इन्द्रियपथ से बहिर्गत, भिन्न-भिन्न विषयों में विक्षिप्त और बहुस्थानों में व्याप्त चित्तवृत्ति को यदि प्रयत्न के द्वारा, पथरोध के द्वारा एकत्र किया जाय, क्रम-सङ्कोचप्रणाली से पुञ्जीकृत या केन्द्रीकृत किया जाय, तो उस पुञ्जीकृत या केन्द्रीकृत चित्तवृत्ति के अग्रस्थित जिस किसी वस्तु का सबकुछ ही उसका प्रकाश्य होगा। जिस प्रकार विस्तृत, तरल या विरलावयव सूर्यकिरण है—जिसे हम प्रभा या आलोक कहते हैं—वह किसी को भी दग्ध नहीं करती है, प्रत्युत उसमें उत्ताप ही नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है ; किन्तु कौशलक्रम से या उपाय के बल से, उस तरलायित आलोकराशि को यदि केन्द्रीकृत किया जाय, घना या पुञ्जीकृत किया जाय, तो देखेंगे कि, उस सूर्यालोकसमूह के पुञ्जनस्थान में अर्थात् केन्द्रभवन में प्रलयाग्नि के

---

† मेरे रचित ''तान्त्रिकगुरु'' ग्रन्थ में अजपा के साथ इष्टमन्त्र जप की प्रणाली भी लिखित है।

समान दाहिकाशक्ति आविर्भूत हुई है। आतश पत्थर के नीचे रुई अथवा शुष्क तृण रखने से उस रुई या तृण में आग पकड़ लेती है। फिर समय-समय पर आग पकड़ने में विलम्ब होता है, कारण उसका Focus (फोकस) ठीक नहीं होने के कारण आग नहीं पकड़ती है। ऐसा होने से पत्थर को थोड़ा-थोड़ा या तो ऊपर की ओर या नीचे की ओर लें, उसके बाद जब उस पत्थर का Focus ठीक होगा, तभी नीचे की रुई या तृण में आग पकड़ लेगी। पत्थर की किस शक्ति में या सूर्यकिरण की किस क्षमता में सहसा आग होती है, यह शायद बहुत-से लोग ही जानते हैं। इतस्ततोविक्षिप्त या सहस्रमुख विरलावयव सूर्यकिरण आतशपत्थर की शक्ति से एककैन्द्रिक होने से उसका केन्द्रस्थान अग्निरूप में परिणत होता है, अतएव केन्द्रस्थानस्थित दाह्यवस्तुमात्र ही दग्ध हुआ करती है। उसी प्रकार इतस्ततोविक्षिप्त या सहस्रमुखी चित्तवृत्ति को एककैन्द्रिक कर पाने से ही समस्त साधनाओं में सिद्धिलाभ किया जा सकता है। आर्यऋषियों ने आतशपत्थर के द्वारा सूर्यकिरण को केन्द्रीकृत या पुञ्जीकृत कर उसके द्वारा तृणपुञ्ज दग्ध होते देख सर्वव्यापी चित्तवृत्ति को एककैन्द्रिक कर उसके द्वारा योग के सूक्ष्म अध्यात्मविज्ञान, व्यवहृतविज्ञान और अतीतानुगत-विज्ञान आविष्कारपूर्वक प्रकृष्ट क्षमता का परिचय प्रदान किया है। यथा—

यथाऽर्करश्मिसंयोगादर्ककान्तो हुताशनम्।
आविःकरोति तूलेषु दृष्टान्तः स तु योगिनः॥

—सूर्यरश्मिसंयोग से सूर्यकान्तमणि वह्नि का आविष्कार (उत्पादन) करती है, इसे देख योगियों ने सर्वज्ञत्व की शिक्षा की है।*

---

* हमारे पूर्वजों की इन सारी महत् कीर्तियों और अद्भुत आविष्कारों से आजकल बहुत-से ही लोग ज्ञात नहीं हैं। पाश्चात्य व्यक्तिगण ने पतङ्ग के पेंच से विद्युत् का आवेश देख ताड़ित्-विज्ञान का आविष्कार किया है। रन्धनस्थाली के मुख की ढक्कन

वास्तविक चित्त की एकाग्रता लाभ कर पाने से मानवजीवन सार्थक होता है ; एवम्भूत साधक की सर्वसिद्धियाँ करतलगत हैं। मकान में बैठ एकाग्रचित्त से अविच्छिन्न तैलधारा के समान प्रवासी बन्धु का चिन्तन करें, वह जितने दूर देश में अवस्थान क्यों न करे, पलभर में नयनगोचर होगा। इसी प्रकार देवदेवियों या देवलोक के दर्शन किये जाते हैं। जगत् के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द के साथ अविच्छिन्न रूप से शरीरस्थ रूपरसादि को मिला पाने से अनन्त की प्रतीति हुआ करती है। पाश्चात्य नरनारियाँ साधना में एकाग्रता-शक्ति (Will force) लाभ कर जगत् की नरनारियों को मुग्ध और चमत्कृत कर दे रहे हैं। मैडम ब्लाभाटास्कि, कर्नल अल्कट आदि व्यक्ति इस देश में आकर कितने अद्‌भुत-अद्‌भुत कारनामे दिखाकर हमें मुग्ध कर चुके हैं, अनेकों ने इसे अपनी आँखों से प्रत्यक्ष किया है।

चित्त की एकाग्रतासाधना ही योग का मुख्य उद्देश्य है। जिस किसी उपाय का अवलम्बन कर चित्त की एकाग्रता लाभ कर पाने से ही मानवजीवन का पूर्णत्व है। जो भाग्यक्रम से पूर्वजन्म के सुकृतिबल से चित्त की एकाग्रता सम्पादन में सक्षम हैं, उन्हें प्राणसंरोधरूप कठोर योगाभ्यास का कोई प्रयोजन

वाष्पबल से उत्पातित होते देख भाप के इंजन की सृष्टि किये हैं, पके फल को गिरते देख माध्याकर्षण (गुरुत्वाकर्षण) से अवगत हुए हैं ; पाश्चात्यशिक्षित युवक, अंग्रेजों के इन अद्‌भुत आविष्कारों से अवगत होकर शतमुखों से उनका गुणगान करने में और कुसंस्काराच्छन्न अशिक्षित हिन्दुकुल में जन्म होने से अदृष्ट को शत धिक्कार देने में व्यस्त रहते हैं। घर की खबर नहीं जानने के कारण ही उन्हें आक्षेप कर कालक्षेप करना पड़ता है। बाह्यविज्ञान तो दूर की बात, आर्यों ने कितने-से अगणित अज्ञात नूतन नूतन सूक्ष्म अध्यात्मविज्ञान का आविष्कार कर और भी प्रकृष्ट क्षमता का परिचय दिया है। हमलोग जितना ही उन विषयों से अवगत हो रहे हैं, उतना ही पूर्वजों की महिमा को जानकर हमारा हृदय आनन्द से स्फीत हो उठता है।

नहीं है। वे केवल आत्मज्ञान के लिए ब्रह्मविचारद्वारा ज्ञान अर्जन करें एवं प्रत्यक्ष अनुभव के लिए ब्रह्मानन्द-रस की साधना करें। यथा—

साधक अपने को (जीवात्मा को) शक्ति (राधा या दुर्गा) एवं परमात्मा को पुरुष (श्रीकृष्ण या सदाशिव) समझें या भावना करें। स्त्री-पुरुषवत् जीवात्मा के साथ परमात्मा का शृङ्गाररसपूर्ण विहार हो रहा है, इस प्रकार चिन्तन करें एवं इस प्रकार के सम्भोग से उत्पन्न परमानन्दरस में मग्न होकर परब्रह्म के साथ स्वयं अभेदरूप में परम प्रेम में प्रलीन हो जायें। उस समय इस प्रकार चिन्तन करें—

अहमात्मा परं ब्रह्म सत्यं ज्ञानमनन्तकम्।
ब्रह्मविज्ञानमानन्दः स तत्त्वमसि केवलम्॥
अहं ब्रह्मास्म्यहं ब्रह्म अशरीरमनिन्द्रियम्।
अहं मनोबुद्धिर्मरुदहङ्कारादि-वर्जितम्।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिमुक्तं ज्योतिस्तदीयकम्।
नित्यं शुद्धं बुद्धियुक्तं सत्यमानन्दमद्वयम्।
योऽसावादित्यपुरुषः सोऽसावहमखण्ड ॐ* ॥

—गरुड़पुराण, पूर्वखण्ड, ४९।३९-४२

इस प्रकार चिन्तन करते-करते साधक समाधिस्थ होंगे। समाधि भङ्ग होने पर फिर अन्तर-बाह्य में भ्रान्तिदर्शन नहीं होते एवं तभी ब्रह्मानन्द-रस का उपभोग हुआ करता है। इस साधना से ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञ व्यक्ति भवबन्धन से मुक्तिलाभ किया करते हैं। जिनका चित्त स्थिर और शान्त नहीं है, वे पहले पूर्वोक्त जो कोई योग का अभ्यास कर फिर ब्रह्मानन्दरस की साधना करें।

* 'सोऽसावहमखण्डितम्' इति पाठान्तरम्।—अनुवादक

विभूति-साधना

योगसिद्ध होने पर साधक को नानाविध विभूतियाँ लाभ हुआ करती हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है, ''जितेन्द्रिय, स्थिरचित्त जितप्राण, मुझमें (परमेश्वर में) चित्तधारणकारी योगी के निकट सारी सिद्धियाँ उपस्थित होती हैं।'' यथा—

जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः॥

—श्रीमद्भागवत, ११।१५।१

हम कल्पना के सहारे जो-जो हैं के रूप में धारणा कर सकते हैं, योगबल से वे सब प्राप्त हो जाया करते हैं। सरलरूप से विवेचना करके देखने पर यह असम्भव नहीं लगता है। मानवात्मा जब परमात्मा का अंश है, तब परमात्मा के जो-जो गुण और शक्तियाँ हैं, मानवात्मा के पास भी इनका होना उचित ही है। फिर भी दोनों में इतना तारतम्य लक्षित होता है क्यों ?—स्थान और अवस्थानभेद से केवल यह तारतम्य पैदा होता है। बादल का जल, सरोवर का जल, नदी और समुद्र का जल, सारा जल एक जल होकर भी प्रत्येक की विशेष-विशेष विभिन्नताएँ हैं; उसी प्रकार परमात्मा और मानवात्मा का मूल एक होकर भी स्थानविशेष में स्थापित होने से भिन्न-भिन्न गुण प्राप्त हुए हैं। मानवशरीर में आबद्ध होने से आत्मा का एक भाव, मानवशरीर के बाहर रहकर उसका अन्य एक भाव है। जब यही वास्तविक रहस्य है, तब किसी भी रूप में मानवात्मा को मानवशरीर से विच्छिन्न कर पाने से, मानवात्मा जो परमात्मा की शक्ति प्राप्त कर लेगा, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? योग का मुख्य उद्देश्य है, मानवात्मा को मानवशरीर से विच्छिन्न कर परमात्मा के साथ संयुक्त करना। जब योगबल से यह सुसिद्ध हो सकता है, तब मानव के लिए ऐश्वरिक सारी शक्तियाँ लाभ करना किसी

भी तरह से असम्भव नहीं। एकबार किसी भी क्रम से मानवात्मा को मानवशरीर से विच्छिन्न कर पाने से ही मानवात्मा ठीक परमात्मा की अवस्था को प्राप्त हुआ करता है। योग का यही उद्देश्य है।

शरीर में पञ्च इन्द्रिय ही प्रधान हैं। चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वक्—इन पञ्च इन्द्रियों की सहायता से हम पृथ्वी के समस्त पदार्थों की अनुभूतियाँ लाभ किया करते हैं, किन्तु हम यह भी जानते हैं कि चक्षु नहीं रहने पर भी देखा जा सकता है, कर्ण नहीं रहने पर भी सुना जा सकता है, जिह्वा नहीं रहने पर भी आस्वाद पाया जा सकता है, नासिका नहीं रहने पर भी गन्ध ली जा सकती है एवं त्वक् के बिना भी स्पर्श का अनुभव किया जा सकता है। स्वप्न में पञ्च इन्द्रियों का अस्तित्व नहीं रहने पर भी उन सभी इन्द्रियों के कार्य होते देखे जाते हैं। इससे स्पष्ट समझा जा सकता है कि शरीर नहीं रहने पर भी आत्मा का अस्तित्व रहता है। स्वप्नद्वारा हम समय-समय पर और भी एक विषय देख पाते हैं। स्वप्न में मनुष्य की दूरदृष्टि और भविष्यज्ञान होता है। भविष्य में घटने वाली घटना स्वप्न में अनेक समय हम बहुत पहले ही जान लेते हैं, अथवा दूर भविष्य में जो होगा, शायद वह बहुत पहले ही हो रहा है ऐसा अनुभव करते हैं।*

---

* बचपन में विद्यासागर महाशय की "बोधोदय" नामक पुस्तक में पढ़ा था "सारे स्वप्न अमूलक चिन्ता मात्र हैं।" तबतक स्वप्नदर्शी व्यक्तियों को उक्त वाक्य से प्रबोधित कर अपनी विज्ञता का परिचय देता था ; क्योंकि, स्कुलपाठ्य पुस्तक की बात मिथ्या नहीं हो सकती, यह विश्वास अभ्रान्तज्ञान से हृदय में दृढ़बद्ध था। किन्तु कार्य-कारण के प्रत्यक्षफल से अब उक्त वाक्य में श्रद्धा नहीं है, वह अपूर्व विश्वास उड़ गया है। क्योंकि, मेरे भाग्य में कई बार स्वप्नफल प्रत्यक्ष हुए हैं एवं अपनी आँखों से कई लोगों को स्वप्न में औषध पाकर रोगमुक्त होते देखा है। बांग्लादेश के खुलना जिलावासी कोई व्यक्ति स्वप्न देखकर दो मील दूर से घर आया, तो आते ही चोर को पकड़ा। सुतरां दुग्धपोष्यशिशुपाठ में और आस्था स्थापन नहीं कर पाता हूँ।

इससे यहीं तक समझा जाता है कि शरीर से मानवात्मा यत्किञ्चित् विच्छिन्न होने से उसकी शक्ति बढ़ती है। अतएव योगबल से मानवात्मा को सम्पूर्णरूप से शरीर से विमुक्त कर पाने से सर्वविध ऐश्वरिक शक्ति लाभ करना किसी भी तरह से असम्भव नहीं है।

योग से विभूतिलाभ योग की सम्पूर्ण साधना के बाद ही घटता है, ऐसी बात नहीं। योगप्रक्रिया के साथ-साथ एक-एक कर क्षमता लाभ हुआ करती है—यहाँ तक कि प्रथम साधना के साथ ही साथ कई क्षमताएँ अपने से ही लाभ हुआ करती हैं। आसन-साधना से और भी कई शक्तियाँ लाभ होती हैं, प्राणायाम सिद्ध होने से मानव असीम शक्तिसम्पन्न हो जाता है। योग का उद्देश्य मुक्ति तो है सच, किन्तु इस मुक्तिलाभ के बहुत पूर्व ही विभूतिलाभ हुआ करता है। इन सारी शक्तियों का लाभ इतना ही मनोरम है, इतना ही लोभप्रद है एवं इतना ही सुखदायक है, कि अनेक-से योगी इन सकल क्षमता और शक्ति का लाभ कर, योग का मुख्य उद्देश्य जो मुक्तिलाभ है, उसे विस्मृत कर इन सारी शक्तियों के उपयोग के लिए व्यग्र हो जाते हैं ; परिणामतः वे योगभ्रष्ट हो जाते हैं। कोई तो एक ही क्षमता लाभ कर, तो कोई दो, कोई ततोधिक क्षमता लाभ कर योगभ्रष्ट हो जाते हैं ; उन्हें और मुक्तिलाभ नहीं होता। संसार में वे लोग योगलब्ध बस वही दो-एक शक्तियों का उपयोग कर, भोज-बाजीकर के समान लोगों को आश्चर्यचकित और मुग्ध कर अर्थ उपार्जन किया करते हैं। अतएव मुमुक्षु व्यक्ति कदाचित् विभूतिलाभ को ही योगफल का चरमोत्कर्ष नहीं समझें। योग का चरम उद्देश्य है मुक्ति ; विभूतिलाभ में खो जाने से मोक्ष या कैवल्यलाभ से वञ्चित रहना पड़ता है। आसक्तिशून्य होने जाकर कहीं फिर आसक्ति की आग में दग्ध न होना पड़े।

फिर भी जो शक्तिलाभ कर प्रतिपत्ति विस्तार करने की इच्छा करते हैं, उन्हें प्राणायाम तक ही साधना करनी काफी है। प्राणायाम की साधना कर

संयम के अभ्यास करते ही उन्हें बहुविध शक्तिलाभ होगा या उसके बाद धारणा, ध्यान और समाधि साधना से मुक्तिलाभ हुआ करता है। अतएव मुक्तिलाभ उद्देश्य नहीं रहने पर भी योग में विभूतिलाभ हो सकता है।

योगसाधनाद्वारा साधक बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् के सारे तत्त्व जान सकते हैं, समस्त रस का आस्वादन कर सकते हैं ; बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् के ऊपर असाधारण कर्तृत्व करने की अलौकिक क्षमता लाभ कर सकते हैं ; उस क्षमताबल से योगी में अनेक प्रकार की अद्‌भुत अभावनीय शक्तियाँ जन्मती हैं ; वाक्‌सिद्धि, इच्छानुसार गमनागमन, दूरदृष्टि, दूरश्रवण, सूक्ष्मदर्शन, परशरीर में प्रवेश, अन्तर्धान, अन्तर्यामित्व, शून्यपथ में अविरोध और अनायास विचरण, कायव्यूह धारण, अणिमादि अष्टसिद्धिलाभ, देवत्वलाभ एवं मृत्युज्ञान होता है।*

योग के आरम्भ से उसके पूर्णताकाल तक चार भाव या अवस्थाएँ हैं। चार अवस्थाओं के नाम—प्रथमकल्पी, मधुमती, प्रज्ञाज्योति एवं अतिक्रान्तभावनीय।

योग का आरम्भ कर जब विशेष सिद्धिलाभ नहीं होता, संयम में रत रहकर भी विशेषरूप से कार्य सम्पन्न नहीं होता, तब उसे प्रथमकल्पी अवस्था कहते हैं। इस समय योगी संयमकाल में विशेष किसी अलौकिक पदार्थ के

---

* अनूर्मिमत्त्वं देहेऽस्मिन् दूरश्रवणदर्शनम्।
मनोजवः कामरूपं परकायप्रवेशनम्॥
स्वच्छन्दमृत्युर्देवानां सहक्रीडानुदर्शनम्।
यथासङ्कल्पसंसिद्धिराज्ञाप्रतिहतागतिः॥
त्रिकालज्ञत्वमद्वन्द्वं परचित्ताद्यभिज्ञता।
अग्न्यर्काम्बुविषादीनां प्रतिष्टम्भोऽपराजयः।
एताश्चोद्देशतः प्रोक्ता योगधारणसिद्धयः॥
—श्रीमद्भागवत, ११।१५।६-९

दर्शन करने में सक्षम नहीं होते, केवलमात्र अत्यल्प आलोक किंवा सामान्य ज्ञानविकास उपलब्धि करते हैं मात्र।

इस अवस्था से उत्तीर्ण होने के वाद जो अवस्था आती है, उसका नाम है मधुमती। मधुमती अवस्था में उपनीत होने से योगीव्यक्ति इन्द्रियों को स्ववश में आनयन और सर्वभावों के अधिष्ठातृत्व एवं सर्वज्ञत्व लाभ करते हैं।

इस द्वितीय अवस्था को अतिक्रम करने से जो अवस्था उपस्थित होती है, उसका नाम है प्रज्ञाज्योतिः। इस अवस्था में देवता और सिद्धपुरुषों का साक्षात्कार होता है।

चतुर्थ अवस्था का नाम है अतिक्रान्तभावनीय। इस अवस्था में योगिगण अत्यधिक विवेकज्ञानसम्पन्न होते एवं विवेकज्ञान के अवान्तर फल के प्रति विरक्त और जीवन्मुक्त होते हैं।

केवल विभूतिलाभ या अमानुषी शक्तिलाभ ही जिनका लक्ष्य है, योगमार्ग में संयम ही उनका प्रधान अवलम्बन है। संयम क्या है ? —धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों का एकत्र प्रयोग। पहले धारणा, बाद में ध्यान और समाधि है। जब मन वस्तु के बाह्यभाग का परित्याग कर उसके आभ्यन्तरिक भावों के साथ अपने को एकीभूत करने की उपयुक्त अवस्था में उपनीत होता है, जब दीर्घ अभ्यास के द्वारा मन केवल वही धारणा कर मुहूर्तभर में उस अवस्था में उपनीत होने की शक्ति लाभ करता है, तब उसी को संयम कहते हैं। संयम के द्वारा साधक के लिए कुछ भी असाध्य नहीं रहता है। सामान्य शक्ति से लेकर महाशक्ति-साधना तक सभी इस संयम के अन्तर्गत हैं। मगर उसका सामान्य से महत् में, क्षुद्र से बृहत् में, स्थूल से सूक्ष्म में अभ्यास करना होता है। संयमविजय से अज्ञानान्धकार विदूरित होकर प्रज्ञालोक प्रकाशित होता है। संयमद्वारा जो-जो विभूतियाँ लाभ होती हैं, पातञ्जलयोगदर्शन से उसका आभास दिया जा रहा है।

अष्टसिद्धि

अनाहतपद्म में संयम करने से अर्थात् उस पद्म के मानसनेत्र से दर्शन कर ध्यान करने से अणिमादि अष्टसिद्धियाँ या अष्टैश्वर्य लाभ हुआ करते हैं। अष्टैश्वर्य यथा—

अणिमा महिमा मूर्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः।
प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमीशिता॥
गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यति।
एता मे सिद्धयः सौम्य अष्टौ चौत्पत्तिका मताः॥

—श्रीमद्भागवत, ११।१५।४-५

अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व एवं कामावसायित्व ये अष्टविध सिद्धियाँ अष्टैश्वर्य हैं।

अणिमा का अर्थ है बृहत् शरीर को अणु के समान करने की शक्ति ; महिमा—शरीर को या जिस किसी अङ्ग को इच्छानुसार बृहत् करने की शक्ति ; लघिमा—शरीर को इच्छानुसार लघु या हल्का करना ; प्राप्ति—जगत् के समस्त द्रव्यों के लाभ की क्षमता ; प्राकाम्य—दृश्यादृश्य समस्त पदार्थों के भोग और दर्शनादि करने की शक्ति ; ईशित्व—सबके ऊपर प्रभुत्व करने की क्षमता ; वशित्व—सबको स्ववश में रखने की शक्ति ; कामावसायित्व—सभी प्रकार की मनोरथसिद्धि, सत्यसङ्कल्प अर्थात् जैसा सङ्कल्प वैसा काम।

दैहिक, ऐन्द्रियिक और मानसिक ये तीन प्रकार के अष्टैश्वर्य लाभ हुआ करते हैं। संयमावलम्बन से भूतजयी होने से ही अणिमा, महिमा, लघिमा और प्राप्ति ये चार ऐश्वर्य लाभ होते हैं। और संयमद्वारा भूत की स्वरूप-अवस्था साक्षात्कृत होने से प्राकाम्य ऐश्वर्य लाभ होता है। भूतसमूह की सूक्ष्म अवस्था प्रत्यक्षगोचर होने से वशित्व लाभ होता है। भूतग्राम में अन्वयरूप परिदृष्ट होने से ईशित्व एवं अर्थवत्त्वरूप की जीत होने से कामावसायित्व लाभ हुआ करता है।

ईश्वर में यह अष्टमहैश्वर्य स्वतःसिद्धभाव से अवस्थित है ; साधनाबल से ये सब मनुष्य भी लाभ कर सकते हैं। एक व्यक्ति दो-एक या ततोधिक ऐश्वर्य लाभ कर सकता है ; और सब लाभ कर पाने से भगवान् जैसा हुआ जा सकता है। तभी शास्त्र में भगवान् की ऐसी परिभाषा लिखी गई है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसश्श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा।।

—विष्णुपुराण, ६।५।७४

समग्र ऐश्वर्य, समग्र धर्म, समग्र यशः, समग्र श्री, समग्र ज्ञान, समग्र वैराग्य "भग"—शब्दप्रतिपाद्य हैं। ये षड्विध पदार्थ सम्पूर्णरूप से और अप्रतिबन्धरूप से जिनमें नित्य वर्तमान हैं, वे ही भगवान् हैं।

योगिगण इस ऐश्वर्यलाभ के लिए चेष्टा नहीं करते, स्वतः ही निखर उठते हैं। स्वरशास्त्र के मत से जो निःश्वास को स्वाभाविक बहिर्गत बारह अंगुल से आठ अंगुल कमा कर चार अंगुल कर सकते हैं, वे ही अष्टैश्वर्यलाभ कर सकते हैं। यथा—

अष्टमे सिद्धयश्चाष्टौ नवमे निधयो नव।*

—पवनविजय-स्वरोदय, १२।१२

अन्यान्य विभूति–सिद्धियाँ

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्।—संयमबल से धर्माधर्म या पापपुण्य कर्मसंस्कार-साक्षात् से पूर्वजन्म का ज्ञान होता है अर्थात् चित्तसंस्कार के प्रति संयम करने से पूर्वाचरित कर्म और पूर्वजन्म से अवगत हुआ जाता है। **कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भेचक्षुःप्रकाशाऽसम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्।** —दर्शन व्यापार में संयम प्रयोग से चाक्षुष शक्ति स्तम्भित कर

* मेरे रचित "योगीगुरु" पुस्तक का स्वरकल्प देखें।

अन्तर्हित हुआ जाता है। दर्शन क्या है ? —द्रव्य के साथ दर्शनेन्द्रिय का संयोग। अतएव चक्षु और दृश्यद्रव्य के बीच दृष्टि-स्तम्भन-संयमप्रयोग से लोगों के सामने अदृश्य हुआ जा सकता है। **बलेषु हस्तिबलादीनि।** —सिंह, व्याघ्र, हस्ती प्रभृति बलवान् जीवों के बल में संयम प्रयोग करने से उनके समान अमानुषिक बल लाभ किया जा सकता है। **भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्।** —सूर्य में संयम प्रयोग करने से त्रिजगत् का ज्ञान लाभ होता है। **नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्।** —नाभिचक्र में संयम प्रयोग करने से समग्र शरीर का ज्ञान प्राप्त होता है। **मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्।**—ब्रह्मरन्ध्रपथ से विमल आलोक में संयम प्रयोग करने से सिद्धदर्शन होता है। **बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः।** —चित्त और शरीर के बन्धन का कारण जानकर, उसे शिथिल कर पाने से दूसरे के शरीर में प्रवेश किया जा सकता है। **शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् सङ्करस्तत् प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्।** —शब्द, अर्थ और प्रत्यय के परस्पर आरोप के कारण एकरूप संकरावस्था हो गयी है, उनके प्रभेदों के ऊपर संयम करने से समस्त भूतों का शब्दज्ञान होता है। **उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च।** —उदान-वायु को जीत लेने से जल, पङ्क और कण्टक आदि में निमग्न नहीं होना पड़ता है। **प्रातिभाद्वासर्वम्।** प्रातिभज्ञान लाभ होने से सर्वज्ञत्व जन्मता है। **समानजयाज्ज्वलनम्।**—समान-वायु विजय से ब्रह्मतेज जन्मता है। **हृदये चित्तसम्बित्।** —हृदय में संयम करने से मनोविषयक ज्ञान होता है। **श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम्।** —कर्ण और आकाश दोनों का सम्बन्ध ज्ञात होने पर उन पर संयम प्रयोग से दिव्य श्रोत्र लाभ होता है। **कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः।** —कण्ठकूप में संयम प्रयोग करने से क्षुधा एवं पिपासा की निवृत्ति हुआ करती है। **क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं**

ज्ञानम्। —क्षण और उसके क्रम में संयम करने से वस्तुविवेक-विषयक ज्ञान होता है। **ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः।** —इन्द्रियों के ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थ—ये पाँच प्रकार के रूप या ऐश्वर्य हैं, संयमद्वारा वे सकल रूप जय अर्थात् प्रत्यक्षकृत होने से इन्द्रिय जय होती हैं। **प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्।** —दूसरों के शरीर में जो सारे चिह्न हैं, उनके दर्शन कर तदुपरि संयम प्रयोग करने से, उनके मन का भाव जाना जा सकता है। **कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतुल-समापत्तेश्चाकाश-गमनम्।** —शरीर एवं आकाश —इन दोनों का जो सम्बन्ध है, उसपर संयम करने से आकाश में गमनागमन किया जा सकता है। **कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्।** —कूर्मनाड़ी में संयम करने से देह का स्थैर्य होता है। **सोपक्रमं निरुपक्रमश्च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा।** —सोपक्रम (प्रारब्धकर्म) एवं निरुपक्रम (सञ्चित कर्म) इन दो प्रकार के कर्मों पर अथवा अरिष्ट नामक लक्षणसमूहों पर संयम प्रयोग करने से देहत्याग का समय जाना जा सकता है। **ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्।** —ध्रुवनामक नक्षत्र में संयम प्रयोग करने से नक्षत्रसमूहों का स्वरूप और गति ज्ञात होता है। उक्त विभूतिलाभ के अतिरिक्त योगी को कायसम्पत् लाभ हुआ करता है। **रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्।**—रूप, लावण्य, बल और बज्रतुल्य दृढ़ शरीर एवं वेगशीलता आदि शारीरिक गुणविशेष का नाम कायसम्पत् है। ब्रह्मज्ञानहीन अमुक्तव्यक्तिगण योगाभ्यासद्वारा ये सारी विभूतियाँ लाभ कर सकते हैं। यथा—

यस्तु वाऽभावितात्मापि सिद्धिजालानि वाञ्छति।
स सिद्धिसाधकैर्द्रव्यैस्तानि साधयति क्रमात्॥

—योगवाशिष्ठ, उपशम प्र०, ८९।२३

—जो अज्ञानी परमात्मा की भावना न कर सिद्धि वाञ्छा करते हैं, वे साधक भी साधनाद्वारा वे सारी (विभूतियाँ) लाभ कर सकते हैं।

जो व्यक्ति आत्मज्ञ हैं, उनके लिए ये सारी अविद्याएँ साध्य नहीं हैं। यथा—

आत्मनात्मनि संतृप्तो नाविद्यामनुधावति।

—योगवाशिष्ठ, उपशम प्र०, ८९।१३

—जो आत्मज्ञ व्यक्ति अर्थात् जिन्होंने परमात्मलाभ किया है, वे मनद्वारा सदा ही परमात्मा में तृप्त रहते हैं, वे कभी भी अविद्या का अनुसरण नहीं करते।

अथवा इन सब के द्वारा बुद्धिमानी दिखा कर नाम जाहिर करने की चेष्टा या इच्छा करना भी कर्तव्य नहीं है। ऐसी क्षमता लाभ होने पर भी वह नगण्य जानकर अग्राह्य कर प्रकृत साधक साधनापथ पर अग्रसर हों। उनका लक्ष्य कैवल्य है।

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति।

—पातञ्जलयोगदर्शन, ३।५५

सत्त्व और पुरुष की जब समान रूप से शुद्धि हो जाती है, तभी कैवल्य लाभ होता है। जब आत्मा अवगत हो सकती है कि, इस परिदृश्यमान विश्व के क्षुद्रतम अणु से लेकर देवतागण तक किसी के भी ऊपर उन्हें निर्भर होने का प्रयोजन नहीं है, उस समय की उस अवस्था को कैवल्य और पूर्णता कहा जा सकता है।

जीवन्मुक्त अवस्था

योग, याग, तप, जप समस्त ही केवल ब्रह्मज्ञान साधना के लिए हैं। ज्ञानोदय होने से भ्रमरूप अज्ञान की निवृत्ति होगी, अज्ञान की निवृत्ति होते ही माया, ममता, सुख, दुःख, शोक, भय, मान, अभिमान, राग, द्वेष,

हिंसा, लोभ, क्रोध, मद, मोह, मात्सर्य और दया आदि अन्तःकरण की सारी वृत्तियों का निरोध हो जायेगा। उस समय केवल विशुद्ध-चैतन्य मात्र का स्फूरण होता रहेगा। इस प्रकार केवल चैतन्य की स्फूर्ति होनी ही जीवद्दशा में जीवन्मुक्ति और अन्त में निर्वाणप्राप्ति मानी जाती है।

तस्मादेवं विदित्वैनमद्वैते योजयेत्स्मृतिम्।
अद्वैतं समनुप्राप्य जडवल्लोकमाचरेत्॥

—माण्डूक्यकारिका, वैतथ्य प्र०, ३६

—आत्मतत्त्व परिज्ञात होने से ही द्वैतप्रपञ्च की निवृत्ति होकर सर्वप्रकार अनर्थ की निवृत्ति होती है; अर्थात् तब और द्वैतज्ञान नहीं रह जाता है। अतएव आत्मा को अद्वैतरूप में जान पाने से ही "सोऽहं" अर्थात् मैं ही वह ब्रह्म हूँ इत्याकारक ज्ञान होता है। तब वह ज्ञानी व्यक्ति जड़वत् निश्चेष्ट होकर रहते हैं, अर्थात् तब और लौकिक व्यवहारसमस्त नहीं रह जाते हैं।

निस्तुतिर्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च।
चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत्॥

—माण्डूक्यकारिका, वैतथ्य प्र०, ३७

—तत्त्वज्ञ यतिव्यक्ति किसी की भी स्तुति या नमस्कार नहीं करते। स्वधा, स्वाहा, शब्दादि प्रयोगपूर्वक पितृकार्यादि भी नहीं करते। वे देवपूजादि भी नहीं करते। वे देवपूजादि सर्वप्रकार कर्मयोग का परित्याग करते हैं। तब पारमहंस्य प्रव्रज्यादि धर्म ग्रहणपूर्वक ब्रह्मतत्त्वानुसन्धान करते हैं। तब ज्ञान होता है—"चलं शरीरं प्रतिक्षणमन्यथाभावात्"—देह का सर्वदा ही अन्यथाभावहेतु देह चल अर्थात् चिरस्थायी नहीं है; "अचलम् आत्मतत्त्वम्" —आत्मा अचल है अर्थात् चिरकाल से ही एक समान रहती है। इसलिए आत्मतत्त्वपरिज्ञानपारदर्शी यतिव्यक्ति यादृच्छिक अर्थात् अयत्नलभ्य कौपीनादि और एकग्रास मात्र भोजनादि द्वारा परितुष्ट रहते हैं।

भगवान् ने कहा है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, २।५६

—दुःख-कष्ट से जिनका मन विषादित नहीं होता और सुखभोग से भी जिन्हें स्पृहा नहीं रहती एवं अनुराग, भय, क्रोध आदि का जो परित्याग करने में सक्षम हो गये हैं, उन्हें ही यथार्थ स्थितप्रज्ञ मुनि कहते हैं।

यही जीवन्मुक्त अवस्था है। यथा—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोन्मुक्तः स जीवन्मुक्त उच्यते॥

—योगवाशिष्ठ, उत्पत्ति प्र०, ९।११

—जिस व्यक्ति से लोगों को उद्वेग नहीं होता एवं लोगों से जो उद्विग्न नहीं होता, और जो हर्ष, क्रोध एवं भय से मुक्त है, वही जीवन्मुक्त है।

साधुभिः पूज्यमानेऽस्मिन् पीड्यमानेऽपि दुर्जनैः।
समभावो भवेद् यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते॥*

—विवेकचूड़ामणि, ४४१

—साधुगणद्वारा पूजित होने से अथवा दुर्जनों से पीड़ा प्राप्त होने से जिनका चित्त उभय अवस्थाओं में ही समभाव से अवस्थिति करता है, वे ही जीवन्मुक्तपुरुष के लक्षणविशिष्ट हैं।

एकाकी रमते नित्यं स्वभावगुणवर्जितः।
ब्रह्मज्ञानरसास्वादो जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

—जीवन्मुक्तिगीता, १६

---

* यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद् (४७) में भी है।—अनुवादक

—जो स्वाभाविक गुणवर्जित होकर ब्रह्मज्ञानरूप रसास्वादन करने के लिए सर्वदा ही एकाकी अवस्थिति करना पसन्द करते हैं, वे ही जीवन्मुक्त कहे जाते हैं।

यशःप्रभृतिना यस्मै हेतुनैव विना पुनः।
भुवि भोगा न रोचन्ते स जीवन्मुक्त उच्यते॥

—योगवाशिष्ठ, मुमुक्षुव्यवहार प्र०, २।८

—रोगादि हेतु के अतिरिक्त स्वभावतः यशः, पुण्य, ऐश्वर्यादि भोगों में जिनकी रुचि नहीं होती है, वे ही जीवन्मुक्त हैं।

चिन्मयं व्यापितं सर्वमाकाशं जगदीश्वरम्।
संस्थितं सर्वभूतानां जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

—जीवन्मुक्तिगीता, १०

—समस्त आकाश में परिव्याप्त जो चैतन्यस्वरूप जगदीश्वर हैं, उन्हें जिन्होंने समस्त जीवों के अन्तरात्मा के रूप में समझा है, वे ही जीवन्मुक्त कहलाते हैं।

चिदात्मन इमा इत्थं प्रस्फुरन्तीह शक्तयः।
इत्यस्याश्चर्यजालेषु नाभ्युदेति कुतूहलम्॥

—योगवाशिष्ठ, उपशम प्र०, ७७।३०

—जगत् में जितनी वस्तुएँ प्रकाशित हो रही हैं, सभी चिदात्मा की शक्ति हैं, इस प्रकार के ज्ञानद्वारा जीवन्मुक्त व्यक्ति को किसी आश्चर्य के विषय में कौतूहल नहीं होता।

जीवः शिवः सर्वमेव भूते भूते व्यवस्थितः।
एवमेवाभिपश्यन् यो जीवन्मुक्तः स उच्यचे॥

—जीवन्मुक्तिगीता, २

—यह जीव ही शिवस्वरूप है, वह सर्वत्र सर्वभूतों में प्रविष्ट होकर विराजित है। ऐसे दर्शनकारी को जीवन्मुक्त व्यक्ति कहते हैं।

तत्त्वविचार एवं निष्काम कर्मानुष्ठानद्वारा आवरणशक्तिसम्पन्न तमोराशि, क्रमशः विदूरित होने से हृदयाकाश निर्मल होकर तत्त्वज्ञान का उदय होता है। यथा—

ज्ञानं तत्त्वविचारेण निष्कामेणापि कर्मणा।
जायते क्षीणतमसां विदुषां निर्मलात्मनाम्॥

—महानिर्वाणतन्त्र, १४।१११

योगसाधनाद्वारा साधक हृदयस्थित दीपकलिकाकार जीवात्मा को मूलाधारस्थित कुण्डलिनीशक्ति के साथ षट्चक्र भेदनपूर्वक शिरःस्थित अधोमुख सहस्रदल-कमलकर्णिका-मध्यगत परमात्मा में संयुक्त कर उनसे क्षरित सुधापान कराकर परमानन्द और परमज्ञान को प्राप्त होते हैं। वे समाधि अवस्था में इस रूप में ईश्वर का स्वरूपरूप देखकर उनमें दृढ़भक्ति और अहेतुक-प्रेमसम्पन्न होते हैं। तब सायुज्य कहो, सारूप्य कहो, और जो भी कहो—समस्त ही लाभ होते हैं। तब वह श्यामसुन्दर चिद्घनरूप और भूला नहीं जा सकता। तब विशिष्टरूप से समझा जा सकता है, पुत्रकलत्र, धनैश्वर्य कुछ भी नहीं, देह कुछ भी नहीं, चन्द्र, सूर्य, रूप, रस कुछ भी नहीं, मदन, वसन्त, मलय, कोकिल कुछ भी नहीं है। तब योगी आदि-अन्त-मध्यहीन चराचर विश्वव्यापी विश्वरूप का दर्शन कर सकते हैं,—जिनका अनन्त वदन, अनन्त नयन, अनन्त बाहु, अनन्त ऊरू, जिनकी दीप्ति कोटीसूर्यप्रभ, जिनकी स्थिति त्रिकालव्यापी, सुरासुर-नर-नाग जिनके भग्नांश के अन्तर्भूत हैं, प्रलयसंक्षोभ जिनके विश्वोदर में है, दंष्ट्राकरालता जिनके करोड़ों मुख में हैं, उनचास वायु जिनके निश्वास में हैं, अघटन-घटन-पटीयसी माया जिनकी शक्ति है, वे ब्रह्माण्डभाण्डोदर विश्वरूप सनातन पुरुष सुन्दर हैं। सुन्दर के प्रेम में असुन्दर बह जाता है, सत्यस्वरूप के सत्यज्ञान से असत्य दूर चला जाता है—कामना-वासना के मैल गलकर बाहर हो जाते हैं। प्रकृति-पुरुष के महारास के महामञ्च पर आनन्द में मत्त होकर एक हो जाते हैं।

इस प्रकार दर्शन होने से साधक जीवन्मुक्त होते हैं। ब्रह्मज्ञान-विचारकारी केवल ज्ञाननिष्ठ मनुष्य को देहत्याग से जो मुक्ति मिलती है, वह मुक्ति जीवद्दशा में ही लाभ कर लेते हैं। यथा—

नृणां ज्ञानैकनिष्ठानामात्मज्ञानविचारिणाम्।
सा जीवन्मुक्ततोदेति विदेहान्मुक्ततैव या॥

—योगवाशिष्ठ

इहलोक में जो जीवन्मुक्त हैं, परलोक में वे ही निर्वाणमुक्ति लाभ के अधिकारी हैं। अन्यथा इहलोक में जो अज्ञानान्ध है, परलोक में वह उससे अधिक होता है। अतएव पाठक ! परलोक में परमागति लाभ हो सकती है ऐसा सोचकर निश्चिन्त से कालक्षय न करें ; सभी का ही साधनाद्वारा जीवन्मुक्त होने की चेष्टा करना कर्तव्य है।*

योगबल से देहत्याग

रोगशय्या पर शायित होकर रोगयन्त्रणा भोग न कर किंवा दैवदुर्विपाक से मृत्यु का कवलित न होकर योगिगण योगबल से देहत्याग करते हैं, इसमें विश्वास नहीं होने पर भी हिन्दू मात्र ही इससे अवगत हैं। यदुवंश ध्वंस होने पर रेवतीरमण बलदेव ने योगावलम्बन से देहत्याग किया था। श्रीमद्भागवत में उक्त है, विदुर ने उद्धव से इच्छामरण की शिक्षा लेकर धृतराष्ट्र, गान्धारी और कुन्तीदेवी के साथ हिमालय में योगबल से देहत्याग किया था। महापापी दुराचारी व्यक्ति भी यदि योगबल से देहत्याग कर सके, तो महामुक्ति का लाभ करता है। उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—

* मेरे रचित ''प्रेमिकगुरु'' ग्रन्थ में मुक्ति और उसकी साधना के सम्बन्ध में विस्तृत आलोचना हुई है। उक्त पुस्तक की जीवन्मुक्ति अध्याय देखो।

योगी सिद्धासन पर बैठ नवद्वार रोध करें। अर्थात् हस्तद्वय के अंगूठे द्वारा कर्णविवरद्वय, तर्जनी-अंगुलिद्वय द्वारा चक्षुर्द्वय, मध्यमांगुलिद्वय द्वारा उभय नासापुट एवं अनामिकाद्वय और कनिष्ठांगुलिद्वय द्वारा मुखविवर रोध कर गुल्फद्वयद्वारा गुह्यस्थान पीड़न करें। तत्पश्चात् कुण्डलिनी-उत्थापन के क्रियानुसार श्वास के साधन से पञ्चप्राण, पञ्चकर्मेन्द्रिय और मन के साथ जीवात्मा को कुण्डलिनी की सहायता से मूलाधारपद्म से क्रमशः स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध एवं ललनाचक्र का भेदन कर भौंहो के बीच आज्ञाचक्र में निरुद्ध करें। इस समय नासिकादि मुक्त कर बाहर की वायु आकर्षण कर गुह्यदेश सङ्कोचनपूर्वक कुम्भक कर योनिमुद्रा का अवलम्बन करना होता है।* ऐसा होने से उस क्षण में ही प्राणवायु महातेज से ब्रह्मरन्ध्र का भेदन कर बाहर होकर परब्रह्म में मिल जायेगी। इसीसे जीवात्मा को महामुक्ति प्राप्त हुआ करती है।

इस प्रकार योगावलम्बन से देहत्याग के समय अन्दर में किस प्रकार के कार्य होते हैं, योगबल से योगी यह प्रत्यक्ष कर लिया करते हैं। देहत्यागकाल में वे पहले स्थूलदेह में वायुसाधना-प्रणाली का अवलम्बन कर ज्योति का स्पन्दन स्थिर करते हैं, धूम किंवा माया उत्पन्न नहीं होने देते। किसी प्रज्वलित दीप में बहिर्वायुसंयोग से धूम की उत्पत्ति होती है ; किन्तु फिर यदि आभ्यन्तरिक अन्य एक शक्तिसंयोग से उस धूम के कारण का संवरण कर सम्पूर्ण प्रदाह को उत्पन्न किया जाता है, तब निर्धूम ज्योतिः स्वतः ही उपस्थित होती है। यही ज्योतिः ज्ञान है। यह अन्तर्निहित शक्ति, ज्वलन्त अग्नि है। जीवात्मा सुषुम्नावर्त्म में आज्ञाचक्र में आकर उस ज्योति को खींच लेती है। इस ज्योति का नाम कुण्डलिनी है, अन्तर्निहिता शक्ति है, जिसके द्वारा आत्मसंवरण या प्राकृतिक बाह्याकर्षण संवरण किया जाता है। शिक्षित

* नयन श्रवण मुक्त लिङ्ग मलद्वार।
मुहूर्तेके रोध तबे करिबे आबार॥
—श्रीमद्भागवत (बंगला)

व्यक्तिमात्र ही शायद जानते हैं कि पृथ्वी की मध्यशक्ति को प्रबुद्ध कर यदि किसी प्रकार सूर्यलोक में ले जाया जाता, तो पृथिवी कक्षच्युत होकर पिण्ड के समान लीन हो जाती, चन्द्रमा भी आकर्षण-विच्युत होकर सूर्य में जा मिलता। ऐसी घटना जड़ सौरजगत् में अभी तक नहीं घटी ; अतीन्द्रिय सौर जगत् में घटी है। यहाँ प्राण कुण्डलिनीशक्ति के सहयोग से अर्चिःपथ को प्राप्त होता है। कुण्डलिनी के दो स्पन्दन हैं ; ये ही जीव के दो निःश्वास हैं। इन दोनों स्पन्दनों को नहीं रोकने से कुण्डलिनीशक्ति अवश्य ही दो पथों में हिलती-डुलती रहती है। फलस्वरूप पितृयान के पथ की सृष्टि होती है। किन्तु उद्बोधिता शक्ति के स्पन्दनमुक्त होने से ज्योतिर्वर्त्म से सूर्यलोक में जायेगा। पहले इस प्रक्रिया के द्वारा योगी द्वादश राशि, चन्द्र प्रभृति के आकर्षण को टाल कर, किंवा काल, देश, प्रभृति उपाधियों को टाल कर शीर्षस्थानीय सूर्यमण्डल में या सहस्रार में आते हैं। वहाँ उद्बोधिता शक्ति चपला के समान शोभा पाती है। तब ज्ञाननेत्र प्रस्फुटित होता है। इसके बाद ब्रह्मरन्ध्रभेदकाल में वहाँ से श्रीगुरुरूपी महापुरुष जीवात्मा को ब्रह्मलोक में ले जाते हैं।

कहना काफी है कि पूर्वपूर्व अभ्यासयोग से पारदर्शी हुए बिना, कोई भी देहयोग का अवलम्बन नहीं कर सकते। उपयुक्तरूप से शिक्षा-प्रणाली जान सकने से सहज ही देहयोग-अभ्यास द्वारा जीवात्मा को मुक्त किया जा सकता है। अब—

उपसंहार-

के समय दीन ग्रन्थकार का वक्तव्य यह है कि सभी एकबार सोच कर देखें अधर्म-प्रणोदित होकर कितने परिश्रम, कितने कष्ट से अर्थ उपार्जन कर सञ्चय किये हैं। किन्तु आप जब उस अज्ञात प्रदेश में चले जायेंगे, तब राहखर्च के नाम पर भी एक पैसा साथ नहीं ले जा सकेंगे। जिन स्त्री-पुत्रों को सुखी

करने के लिए पसीना बहाकर, हिताहितज्ञानशून्य होकर कितना ही गर्हिताचरण किये हैं, वे स्त्री-पुत्रादि कोई भी सङ्ग नहीं जाने वाले। तब स्त्री-पुत्र, धन-जन, सिपाही-शास्त्री किसी के भी द्वारा कोई उपकार नहीं मिलेगा, स्वयं ही केवल यन्त्रणा भोग कर वक्षस्थल पर आँसुओं की गङ्गा बहा देंगे। यह जो अधर्म का आश्रय कर, दूसरों का अनिष्ट कर अर्थोपार्जन और सञ्चय किये हैं, तब उस अर्थ से आपका कोई उपकार नहीं होने वाला, प्रत्युत उसके लिए तीव्र यातना भोग करेंगे। इसीलिए शास्त्र में उक्त है—

वरं दारिद्र्यमन्यायप्रभवाद् विभवादपि।
क्षीणता पीनता देहे पीनता नतु रोगजा॥

—वरं दरिद्र होकर दुःख में रहना अच्छा है, तथापि अन्यायपरक उपायों से विभवशाली होना अच्छा नहीं है। जिस प्रकार स्वस्थ क्षीणशरीर भी अच्छा होता है, मगर रोग से फुलकर मोटा होना अच्छा नहीं।

शास्त्र ने और भी कहा है कि, धन ही कहो, और जीवन ही कहो, तृणपत्रगामी जलविन्दु के समान सभी चञ्चल हैं, अतएव धर्माचरण करो। ऐसा होने से इहकाल में कीर्ति और परकाल में अनन्तसुख लाभ के अधिकारी होंगे। यह अनिश्चित और सुदुर्लभ मानवदेह धारण कर जिस व्यक्ति ने धर्मोपार्जन नहीं किया, उसका जीवन वृथा एवं वह व्यक्ति इह-परकाल में दुःखभोग किया करता है। यथा—

यस्य त्रिवर्गशून्यस्य* दिनान्यायान्ति यान्ति च।
स लौहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति॥

—महाभारत

—धर्मोपार्जनादि न कर जिस व्यक्ति का दिन आ रहा है और जा रहा है, लोहार की धौंकनी जिस प्रकार वृथा निःश्वास फेका करती है, वह व्यक्ति

---

* गरुड़पुराण, पूर्वखण्ड ११५।३६ में 'शून्यस्य' के स्थानपर 'शून्यानि' ऐसा पाठान्तर है।—अनुवादक

भी उसी प्रकार जीवित रहता है। वास्तविक वंशमर्यादा अथवा विषयख्याति से मनुष्य ऊँचा नहीं हो पाता है, ज्ञान और गुण ही मनुष्य का महत्त्व प्रतिपन्न करते हैं। कारण—

विद्या वित्तं वपुः† शौर्यं कुले जन्म निरोगिता।
संसारोच्छित्तिहेतुश्च धर्मादेव प्रवर्तते॥

—महाभारत

विद्या, वित्त, देह, शौर्य, श्रेष्ठकुल में जन्म, देह अरुग्ण रहना और संसार-बन्धन से मुक्त होना, सभी धर्म से प्रसूत हैं। किन्तु आधुनिक विवेकवादिगण अपनी विकृत बुद्धि को ही "विवेक" समझकर विषम अनर्थोत्पादन कर रहे हैं। वे विवेक की दुहाई देकर ज्ञानविज्ञानसम्पन्न, योगबलशाली आर्य-ऋषिप्रणीत शास्त्रों के प्रति अविश्वास कर प्रत्यवायभागी हो रहे हैं। प्रकृत तत्त्व के अवगत होने के लिए शास्त्र आश्रय और शास्त्रवचन पर विश्वास के अतिरिक्त अन्य गति नहीं है। जो लोग धर्म-कर्म में स्वेच्छाचार-वशवर्ती होकर स्वकपोलकल्पित मतस्थापन में प्रयासरत हैं, जो लोग पाश्चात्यदेशों की आमदनी "विवेकबुद्धि" उधार लेकर एवं विजातीय शिक्षा से विकृत-मस्तिष्क होकर स्वजातीय शास्त्रों के प्रति अविश्वासी हैं, जो शास्त्रवचन की उपेक्षा कर, विषयविषविदग्ध चित्त से चञ्चल बुद्धि से सञ्चालित होकर धर्मानुष्ठान करते हैं, वे इहकाल में सुख और परलोक में परमगति लाभ नहीं कर सकते। जो लोग विवेक की दुहाई देकर अपने मतलब से कार्याकार्य विचार करते हैं, उनके विवेक-शब्द का कोई अर्थज्ञान ही नहीं है। जीव की बुद्धि अपने संस्कारानुरूप गठित होता है ; अतएव उसे कार्याकार्य-विचार की शक्ति कहाँ है ? जो लोग विषय-सम्पत्ति एवं ख्याति-प्रतिपत्ति को ही

† गरुड़पुराण, पूर्वखण्ड, २१७।९ में 'वपुः' के स्थानपर 'तपः' ऐसा पाठान्तर है।—अनुवादक

प्राणतोषक और मुखरोचक समझकर उसी की आशा में पापों की तरह-तरह के साज-बाज से सज्जित होकर कितने प्रकार के मन्दकर्म करते रहते हैं, उनके लिए धर्म भयानक अरुचिकर एवं अतृप्तिदायक है। जिन सारे व्यक्तियों का हृदय स्वार्थ से परिपूर्ण है, उनके द्वारा किसी काल में, किसी देश में, देश का, दशों का या समाज का उपकार नहीं हुआ है। जो सारे सुशिक्षित व्यक्ति गीता की दुहाई देकर अधर्म का प्रचार करते हैं, उन्हें सदा स्मरण रखना चाहिए—भगवान् ने कहा है—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतशः।
माञ्चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, १७।५-६

—जो लोग अशास्त्रविहित तपस्या करते हैं एवं दम्भ, अहङ्कार, काम, राग, बलयुक्त हैं, वे शरीरस्थ भूतसमूह को कृश कर आत्मस्वरूप मुझे भी कृश करते हैं, उन्हें निश्चय ही विवेकवर्जित असुर समझो।

अतएव सभी समझ सके हैं कि, आजकल आधुनिक फैशन के बाबुओं की खामखयाली और मनगढ़न्त उपासना कुछ भी नहीं है। जातीय धर्म और शास्त्रानुसार धर्माचरण करना सभी का कर्तव्य है। यदि कोई गीता के उन दोनों श्लोकों को प्रक्षिप्त या ब्राह्मण की स्वार्थगाथा कहते हैं, तो मैं लाचार हूँ? वास्तविक जिनका जिसमें अधिकार नहीं, उनका उसमें हस्तक्षेप देश और समाज के लिए महा अनिष्टकारी है। आत्म-अभिमान से पूर्ण होकर वे तो प्रवञ्चित होते ही हैं, फिर नाना उपायों से दूसरों को भी प्रवञ्चित किया करते हैं। महात्मागण इन सारे व्यक्तियों को वञ्चक शब्द से अभिहित करते हैं। यथा—

गृही होकर कहै ज्ञान।
भोगी होकर लगावे ध्यान॥
योगी होकर ठोकै भग।
तीनों आदमी महा ठग॥

अर्थात् गृहस्थ होकर ब्रह्मज्ञान दिखाता है, भोगी होकर ध्यानानुसन्धान में रत रहता है एवं योगी होकर नारीसहवास करता है, ऐसे व्यक्तियों को महाठग (वञ्चक) कहते हैं।

और एक श्रेणी के लोग हैं, वे गैरिकवसन परिधान कर, दाढ़ीमूँछ या जटाजूट रख, विभूति या चन्दनादि द्वारा अलकातिलका कर महासाधु का भाव दिखाते फिरते हैं ; किन्तु अन्तर विषयचिन्ता, कपटता, कुटिलता, स्वार्थपरता, हिंसा, निन्दा और अहंभाव से परिपूर्ण है। इस प्रकार के वर्णचोर ढोंगियों में कोई-कोई अन्नाहार त्याग कर बहादुरी दिखाया करते हैं। अनेक निर्बोध लोग भूलकर वचनवागीश व्यवसायियों के निकट शिष्यत्व स्वीकार करते हैं। इस प्रकार के माताल (ढोंगी तान्त्रिक) एवं वैताल (गौड़ीय वैरागी) देश बरबाद कर रहे हैं।

अभिमानं सुरापानं गौरवं रौरवं ध्रुवम्।
प्रतिष्ठा शूकरीविष्ठा त्रयं त्यक्त्वा हरिं भजेत्॥

—अभिमान को सुरापानसम, गौरव को रौरव नरकसम, प्रतिष्ठा को शूकरीविष्ठासम जानने से ही तो साधन भजन होता है।

अन्यथा वसन से या आसन से, अशन से या अनशन से, रसन से या भाषण से एवं असल के अभाव में नकल से कुछ भी सफल नहीं होगा। महात्मा कबीर कह रहे हैं—

मूँड़ मुँड़ाये जटा रखावै मस्त फिरै जैसा भैंसा।
खलड़ी ऊपर खाक लगावै मन जैसा का तैसा॥

अर्थात् मस्तक मुण्डन करने से क्या होगा, जटा रखने से ही क्या होगा, और शरीर पर भस्म लेपन करने से ही भला क्या होगा ? यदि चित्तशुद्धि नहीं हुई, तो ये सारी वेश-भूषाएँ किस काम की ?

तभी कहता हूँ, ढोंग में मानवजीवन पण्ड न कर, अहङ्कारादि सर्वाशा त्याग करने से और चिरबद्ध नहीं रहना पड़ता है ; अनायास ही त्रितापमुक्त होकर निर्वाणमुक्ति लाभ की जा सकती है। मानव अपने को मारने-तारने स्वयं ही कर्ता है, कारण वासना ही सारे विषयों में विषयी का भर्ता है। मन ही मन वासना का त्याग कर देखें, स्वयं को भी नहीं देख सकेंगे। कामना का त्याग कर पाने से फिर सर्वसाधारण के समान शरीरधारण न कर सर्वाधार सच्चिदानन्द ब्रह्म में लय प्राप्त होंगे।

संसार में धर्म, कर्म, चरित्ररक्षा या साधना-तपस्या का भी विशेष प्रयोजन है। जगत् में सारे भाव, सारी चिन्ताएँ, सारी कामनाएँ ही अभ्यासपुष्ट हैं। जो नित्य किया जाता है, सो एक तरह से आत्मिक-संस्कार या प्रकृतिगत हो खड़ा होता है। अतएव दैनिक जीवन में मनुष्य जो अभ्यास करेगा, जीवन के अन्तिम क्षण तक उसी की शक्ति सर्वापेक्षा अधिक लागू होने की विशेष सम्भावना रहती है। कर्म और कामना के अनुसार मनुष्य के गठन में जब परिवर्तन और विकृति आते हैं, तब मानसिक प्रकृति भी जो उसमें विशिष्टरूप से परिवर्तित हुआ करती है, इस बात को अधिक बुद्धि खर्च कर समझना नहीं होता है।

उसके बाद, थोड़े शब्दों में जीवन का उद्देश्य समझना हो, तो यही समझना होगा कि जीवन केवल मरण का आयोजन है। संसारी, संन्यासी, त्यागी, भोगी सभी आजीवन मरण का प्रबन्ध करने में व्यस्त हैं। दाता, कृपण विलासी, वैरागी, सभी के जीवन का एकमात्र लक्ष्य है मृत्यु या मनुष्य-जन्म का अवसान। कारारुद्ध व्यक्ति खट-खुटकर अपनी मुक्ति-स्वाधीनता अर्जन करता है, देहबद्ध जीव का जीवन भी ठीक उसी भाव से कट जाता

है, उसका लक्ष्य एक ही—अदृष्टानुसार उनके प्रकारों में भिन्नता हुआ करती है। चोर और साधु दोनों ही कामना के दास हैं, मगर उनकी कामना के स्वरूपों को समझने का प्रभेद होता है मात्र। अतएव अच्छी तरह, अच्छे मरण का आयोजन करने के लिए 'अच्छा'-की उपासना में जीवन उत्सर्ग करना ही एकमात्र अनिवार्य साधना है। क्योंकि, अच्छी कामना, अच्छी चिन्ता जीवन में विशेष अभ्यस्त या प्रकृतिगत नहीं होने से, मृत्युयातना या अन्तिम बिदाई के व्यस्त-कोलाहल में उसकी याद न आना ही सम्भव है। जो आहार किया जाता है, उसी का उद्‌गार उठता है ; तभी कहता हूँ कामना-लालसा दो दण्डों का खयाल नहीं, वह अनन्त की परमायु है, संस्काररूप में वह आत्मा का आवरण हो खड़ी होती है। इस संस्कार-भेद से ही साधु-असाधु का व्यवधान है। संसार में जन्म मात्र से कोई जीव बुरा नहीं होता। इस प्रकार के कामनाकृत्य के कु-सु के अनुसार अदृष्ट-उन्नति का तारतम्य होता है। इसी से कामना मनुष्यभाग्य का अपर पृष्ठ है। अदृष्ट क्या है, इसे भाषा में नहीं समझाया जा सकता, अदृष्ट—अ-दृष्ट ; वह रुग्ण-भग्न की सफाई साक्षी नहीं है।

सभी जानते हैं, मृत्युपति धर्मराज के पार्श्व में चित्रगुप्त नाम के एक पार्षद् हैं। उनके विराट् खाते में हमारे पाप-पुण्य, धर्माधर्म लिखे हुए हैं। इसका तात्पर्य यह है कि, चित्र गुप्त अर्थात् यहाँ लोगों की आँखों में धूल झोंककर गुप्त रूप से पापकर्म कर हजम किये जा सकते हैं। किन्तु वहाँ हमारे गुप्तचित्र समस्त ही अङ्कित हैं, फलतः निस्तार नहीं है। अतएव सबका कर्तव्य है कि स्व-स्व वर्णाश्रमधर्म पालन कर रिपुओं को स्ववश में रख अर्थात् परस्त्री, परद्रव्य का लोभ, परस्वापहरण, परनिन्दा, द्वेष-हिंसा, परपीड़नादि न कर, सत्य, दया, शान्ति, क्षमादि साधु-इच्छा के वशीभूत होकर सर्वदा परोपकार करना एवं देवता, ब्राह्मण, अतिथि और माता-पिता गुरुजनों के प्रति भक्ति और उनकी सेवा करनी। आहार के समय, विहार के समय, शयन के समय,

भ्रमण के समय, कार्य के समय, सभी समय एवं सभी कार्यों में मानव जब अपना काम, क्रोध, लोभ, मोहादि को लेकर अपने इष्टदेव में मन-प्राण के साथ आत्मसमर्पण करना सीखता है, जब इष्टदेव से अपने को और भिन्न बोध नहीं कर सकता, तब सारी सिद्धियाँ स्वयं ही उपस्थित हो जाती हैं।

पाठक ! इस पुस्तक का लिखित विषय मेरी पोथीगत विद्या नहीं है ; अथवा गहनादायग्रस्त होकर मैं इन सारी पुस्तकों का प्रचार नहीं कर रहा हूँ। हिन्दुधर्म के अनुशीलन में मैंने जो अपार्थिव परमानन्द प्राप्त किया है, अपने भारतवासी भ्राताओं को उसका अंशभागी करना ही मेरा प्रधान उद्देश्य है। ईसाई, मुसलमान, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध, ब्राह्म सभी अपने-अपने सम्प्रदायोक्त भाव सुरक्षित रख, पुस्तकोक्त साधना से सिद्धिलाभ कर मानवजीवन का पूर्णत्व साधन और मरजगत् में अमरत्व लाभ कर सकेंगे। हिन्दुधर्म का कोई जटिल रहस्य जानने की इच्छा कर पत्र लिखने से सादर उत्तर दिया जायेगा। प्रकृत अधिकारी होकर मेरे निकट आने पर सादर सयत्न योग और तन्त्रोक्त साधना-प्रणाली की शिक्षा दूँगा।† भारतीयों के जातीय जीवन की प्रतिष्ठा का समय आ गया है, तभी मेरा यह विराट् आयोजन है। धर्मबल के सुदृढ़ न होने से कोई कभी भी किसी विषय में उन्नति लाभ नहीं कर सकता। जीवन का प्रथम कार्य है चरित्रगठन,—जिसमें चरित्रबल नहीं है, वह कभी भी उन्नति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। तभी कहता हूँ कि पाठक ! जातीय धर्म में, जातीय आचार-व्यवहार में अविश्वासी होकर जगत् के अज्ञानतिमिराच्छन्न प्रदेश में छिपकर न रहें। ग्रन्थ-अध्ययन से ज्ञान नहीं होता—ज्ञान होता है साधना से। साधना-बलहीन कामकलुषित जीव की विद्या केवल पक्षी की हरिनाम शिक्षा है। अनधिकारी शास्त्र पाठ करने जाय तो, उसे सब कुछ विकृत, विशृङ्खल, विसंवादी बोध होगा। पहले

† पूज्यपाद ग्रन्थकार ने स्थूल का कार्य समाप्त कर विगत १३४२ बङ्गाब्द के १३वें अग्रहायण (29th Nov., 1935) शुक्रवार में ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त किया है। —प्रकाशक

साधनाबल संग्रह करें, देखेंगे कि हिन्दुधर्म गहन सूक्ष्म आध्यात्मिक विज्ञान से पूर्ण है। यह समझने की चेष्टा करें, जान सकेंगे कि आर्य-ऋषियों के युगयुगान्तर से आविष्कृत शास्त्रों में क्या अमूल रत्न सज्जित हैं। हिन्दुधर्म अलंघ्य प्रमाणों की सुदृढ़ भित्ति पर बद्धमूल होकर स्वयंसिद्ध ब्रह्मविद्यारूप में सदा वर्तमान रहा है। ऐसी उदार और उच्च शिक्षा किसी धर्मसम्प्रदाय में दृष्ट नहीं होगी। हिन्दुधर्म के उदार गर्भ में सर्वजनगण को स्थान देने के लिए यह धर्म प्रचारित हुआ है। अतएव सामान्य जनगण की धर्माचरण-पद्धति देख कोई इसे कुसंस्कार या अज्ञानविजृम्भित शून्योच्छ्वास न समझें। अपनी क्षुद्र बुद्धि से जिस तत्त्व की धारणा नहीं कर सकते, उसे कुसंस्कार कहकर उड़ा देने से, विज्ञलोग कभी भी अभिज्ञ नहीं कहेंगे, वरं अनभिज्ञ कहकर अवज्ञा करेंगे। यदि कोई इस पुस्तकलिखित साधना में उत्तीर्ण हो सकें, तभी हिन्दुशास्त्रों का महत्त्व समझने में सक्षम होंगे। अनुसन्धान कर, साधना कर, सनातन हिन्दुधर्म का पूर्वगौरव जाग्रत और पूर्वजों की महिमा अक्षुण्ण रखने की चेष्टा करें एवं स्वयं भी अपने दुर्लभ मानवजीवन का सदुपयोग कर कृतकृतार्थ हों। अब मैं भी "**सत्यमेव जयते नानृतं**" कहकर पूर्णानन्द से आनन्द-कन्दसम्भूत दिव्यज्योतिःस्वरूप परमपुरुष के हरि-हर-विरिञ्चिवाञ्छित पदद्वन्द्वारविन्द की वन्दना कर भक्तभ्रातृवृन्द के निकट से विदा ग्रहण करता हूँ।

आनन्दकन्दसम्भूतं ज्ञाननालसुशोभनम्।
त्राहि मां नरकाद्घोराद्दिव्यज्योतिर्नमोऽस्तु ते॥

ॐ शान्तिरेव शान्तिर् ओम्

सम्पूर्ण

ॐ श्रीकृष्णार्पणमस्तु